Jivaraja Jaina Granthamala No. 41

*General Editors*

Late Dr. A. N. Upadhye & Late Dr. H. L. Jain

Pandit Kailashchandra Shastri

Gunabhadra's

# ATMANUSASANA

With the Commentary of Prabhachandra

Critically edited with Introductions, Appendices etc.

*by*

Pt. Balchandra Siddhanta Shastri

*Published by*

Lalchand Hirachand

Jaina Samskriti Samrakshaka Sangha

Solapur

1980



Price Rs. Fifteen

*Third Edition; 2000 Copies*

**Copies of this book can be had direct from Jaina Samskriti Samrakshaka Sangha, Santosha Bhavan, Phaltan galli, Solapur (India)**

*Price Rs. 15/-per copy, exclusive of postage*

## जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० मे उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमे करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोसे साक्षात् और लिखित सम्मतिया इस बातकी सग्रह की कि कौनसे कार्यमें सपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथा (नाशिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोकी समाज एकत्र की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन सस्कृति तथा साहित्यके समस्त अगोके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उनके लिए ३०००० तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढती गई और सन् १९४४ में उन्होने लगभग २,००,००० दो लाखकी अपनी सपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' का संचलन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रथ इसी ग्रथमालाका ग्यारहवां पुष्प है।

# विषयानुक्रमणिका

## तृतीय संस्करण की प्रस्तावना

इस ग्रन्थको प्रथमावृत्ति और द्वितीयावृत्ति शीघ्र समाप्त होनेसे यह तृतीय संस्करण प्रकाशित होनेमे स्वाध्याय मुमुक्षु वर्गकी ज्ञानवृद्धिके कार्यमें विशेष अभिरुची ही सूचित होती है।

इस तृतीय संस्करणके प्रूफ सशोधन कार्यमें श्रीमान् पं. नरेंद्रकुमार भिसीकर न्यायतीर्थ का सहयोग प्राप्त हुआ। जिसके लिये हम उनके प्रति हार्दिक आभार मानते है।

इस सस्करणका मुद्रण कार्य सन्मति मुद्रणालय प्रेसके व्यवस्थापक तथा कार्यकारी गणके सहयोगसे अति अल्पकालमें पूर्ण होकर ग्रथ प्रकाशित करनेका सौभाग्य प्राप्व हुआ। इसलिये उनके भी हम कृतज्ञ हैं।

मत्री

बालचंद देवचंद शहा

# सम्पादकीय

जैन साहित्य अध्यात्म और नीति प्रधान है। उसका यह वैशिष्ट्य सैद्धान्तिक ग्रन्थोंसे लेकर कथात्मक व लोकव्यवहार संबंधी रचनाओं तक मे स्पष्ट झलकता है। इन्द्रिय-लोलुपताकी पाशविक व अनाचार मूलक वृत्तियोंसे मनको हटाकर संयमकी ओर मोड़ना और इस प्रकार मानव-जीवनको निखार कर उसका नैतिक स्तर उठाना उसका मुख्य उद्देश है। किन्तु सैद्धान्तिक रचनायें जन-साधारणको आकर्षित नहीं कर पातीं, और कथात्मक साहित्य विद्वानोंको कम रुचिकर होता है। अतः आचार्योंको ऐसी रचनाओंकी आवश्यकता प्रतीत हुई जो इनके बीचकी हो तथा सामान्य और विशेष बुद्धि व रुचिवालोंको एकसा आकर्षित कर सकें। सुभाषित साहित्य इसी प्रकारका है, और आत्मानुशासन भी इसी कोटिका ग्रंथ है। इसमें सिद्धान्त भी है और आचार भी। काव्यके गुण भी हैं और दृष्टान्तों द्वारा सुगम्य सूक्तियां भी। कोई विषय इतनी दूर तक नहीं ताना गया कि वह पाठकको थका दे। थोड़ेमें बहुत कुछ उपदेश दे दिया गया है, और वह भी ऐसी सुन्दर शैलीमें कि विषय एकदम हृदयंगम हो जाय और उसके वाचक शब्द भी स्मृति पर चिपक जावें। मुनियों और गृहस्थों, स्त्रियों और पुरुषों, बाल और वृद्ध, साहित्यिकोंको और साधारण पाठकोंको यह रचना समान रूपसे रुचिकर और हितकारी होनेकी क्षमता रखती है। यही कारण है कि जैन समाजमें शताब्दियोंसे इसका सुप्रचार रहा है। इस पर अधिक टीका टिप्पणी नहीं लिखी गई, इसका कारण उसकी सरलता है। उसमें जटिलता नहीं है। भारतीय सुभाषित साहित्यमें आत्मानुशासन गणनीय है— इस विशेषताके साथ कि उसमें श्रृंगार-रसका विकार नहीं है।

आत्मानुशासन प्रकाशित तो अनेक बार हो चुका है, किन्तु एक तो इधर उसकी वे प्रतियां अनुपलभ्य है, और दूसरे इसके एक आधुनिक आलोचनात्मक रीतिसे पाठभेदों व ऐतिहासिक प्रस्तावनादि सहित सर्वांगपूर्ण संस्करणकी बड़ी आवश्यकता थी। इसकी एक मात्र उपलब्ध

सस्कृत टीका तो अभी तक अप्रकाशित ही थी । प्रस्तुत संस्करण इन सब बातोंकी पूर्ति करनेका प्रयत्न किया गया है ।

इस ग्रन्थका सम्पादनादि कार्य तीनों सम्पादकोके सहयोगसे हुआ है । प्रतिलिपियां आदि तैयार करनेमे उन्हे प. जिनदास शास्त्री का साहाय्य मिलता रहा है । इस समस्त सहयोगकेद्वारा यह जो आत्मानुशासनका सर्वांगपूर्ण संस्करण प्रस्तुत किया गया है, वह कहा तक सफल हुआ है इसका निर्णय मर्मज्ञ पाठक ही ग्रंथके अवगाहनपूर्वक कर सकेगे । यहां हम श्री वैद्य नृसिह नारायण बागेवाडीकर प्र. चिकित्सक सेठ सखाराम ने जैन औषधालय व श्री. वैद्य श्रीपाल नेमिनाथ जी को नही भूल सकते है । आप दोनों महाशयोने ग्रन्थसे सम्बद्ध आयुर्वेद विषयका परिचय तथा उपयोगके लिये तद्विषयक ग्रथोंको देकर हमें उपकृत किया है।

हमे यह प्रकट करते बडी प्रसन्नता होती है कि इस ग्रन्थमालाके ट्रस्टी व प्रबधक समितिके सदस्य मालाके समस्त कार्यमें औपचारिक मात्र नही, किन्तु क्रियात्मक रुचि दिखलाने व सहयोग प्रदान कर सम्पादकोके उत्साहकी वृद्धि और उनके भारको हलका करनेमे कभी कोई कोई कसर नही रखते । यही कारण है कि सम्पादकद्वय अपने अपने अन्य कार्यमे व्यस्त रहते हुए भी इस मालाको समृद्ध बनानेमें यहां तक सफल हो सके हैं । इसके लिये उक्त अधिकारी वर्गका जितना आभार माना जाय सब थोडा है ।

ग्रन्थमालाके सस्थापक ब्र. जीवराज भाईको यह ग्रंथ विशेष रूपसे प्रिय था । वे न केवल निरन्तर इसका स्वाध्याय ही किया करते थे, किन्तु उन्होने इसका मराठी अनुवाद भी किया था, जो प्रकाशित भी हो चुका है । उनके इस प्रिय ग्रन्थके प्रस्तुत संस्करणको देखनेके लिये व आज हमारे बीच नही हैं । किन्तु हमे भरोसा है कि उनकी स्वर्गस्थ आत्मा इस प्रकाशनसे प्रसन्न और सन्तुष्ट होगी । इति शम् ।

आ. ने. उपाध्ये
हीरालाल जैन
ग्रन्थमाला–संपादक
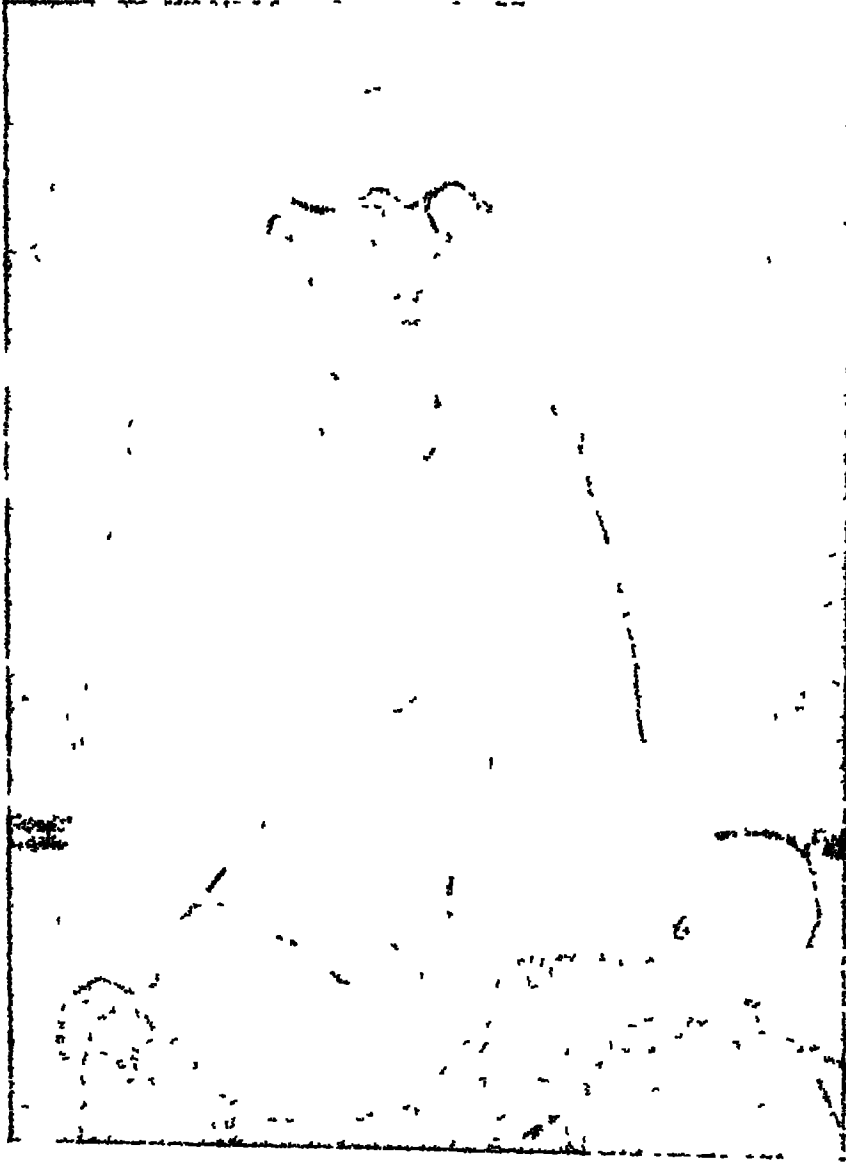
ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

संस्थापक, जैनसंस्कृती-संरक्षक-संघ, सोलापूर.

# INTRODUCTION

## 1. Atmanusasana

The term Atmanusasana spiritual advice or Self-instruction, is quite catching for the title of a literary work; and it has been already chosen by some authors for their treatises both in Sanskrit and Prakrit (H. D. Velankar · Jinaratnakosa, Poona 1944, pp. 26-27). From amongst them, the Atmanusasana of Gunabhadra has been quite popular among the Jainas, both monks and laity of religious aptitude. The Mss. of it are available in different collections practically all over India Jinaratnakosa P 27); Prabhachandra wrote a Sanskrit commentary and Pt Todaramalla (*c.* middle of the 18th century A D.) a Hindi Tika; and it has been available in print, nearly in half a dozen editions, giving bare text (Bombay 1950), or the Sanskrit text accompanied by modern translations (directly or indirectly based on Todaramalla's Tika already published, Lahore 1897) in Hindi (Benaras 1924-25, Bombay 1929), in Marathi (Solapur 1909), English (Arrah 1928), Kannada (Moodbidri 1951), etc. Undoubtedly, it is the Hindi Tika on it by that learned author, Pt. Todaramalla of memorable name, that has given so much popularity to this work.

The present edition of the Atmanusasana has its specialities: the text is critically constituted by using three Mss. (described in details in the Hindi introduction) besides some printed editions; secondly, it is for the first time that the (only available) Sanskrit commentary of Prabhachandra is neatly published along with the text here; thirdly, the Hindi translation of each verse is presented literally and the visesartha brings out, with sufficient elaboration, the various points directly or indirectly alluded to in each verse; fourthly, useful appendices are added for a critical and systematic study of the text; and lastly, the introductions in English and Hindi present a mass of useful and relevant material to enable the reader to assess the contents of the Atmanusasana and to estimate its author, Gunabhadra, in the back-ground of Sanskrit literature.

The Atmanusasana contains 269 verses in Sanskrit according to Prabhachandra's commentary; the Bombay edition shows 270 verses, perhaps following the text of Todaramalla; this additional

verse (Rsabho etc.) being of a benedictory character, may not belong to Gunabhadra who has suitably rounded his text in verse No. 269. It uses a variety of metres, fifteen in number; the most frequent is Anustubh, and among the longer metrei,the Sardulavidikrita is predominant (See the Appendix). It has an anthological pattern and format, one or more verses being devoted to different topics, which may or may not have logical consequence, but all of them composed by the same author. It has no chapters or sections of any kind : the text is one whole. But it is possible to mark out groups of verses in which a specific topic is discussed (see the Visayasuci). This work belongs to the category of religious and didactic poetry. The exposition follows the pattern of Jaina ideology, and obviously, therefore, the text is replete with Jaina technical terms; and some Sanskrit words are used with a shade of meaning quite usual in Jaina works.

Every one shuns duhkha (misery, pain or suffering) and yearns for sukha (comfort, happiness); but the way to happiness is shown to the deserving by a worthy teacher who expounds the principles of Dharma 'Every one desires for attaining true happiness at the earliest; that arises from the destruction of all Karmas which results from right conduct which is dependent on right knowledge This right knowledge is acquired from scriptures which are based on the discourses of the Apta who is free from all the blemishes such as attachment etc. Therefore, after duly reasoned out scrutiny of him, the source of all happiness, let the worthy resort to him for their benefit (9)'.

Dharma should be the highest pursuit to which all others are subservient. Such thought-activities must be cultivated as accrue Punya in the absence of which one suffers under the stress of one's Karmas in the past from which even the socalled gods are not exempt. There are many even to-day who are above attachment.

The pursuit of sense-pleasures is a mirage : the pleasures are just a result of the past Punya, so one should be sensible enough to fix one's eye on one's future prospects

The life of a house-holder has its limitations from the ultimate point of view—one has to reflect on the past and future and give up all attachment and aversion Desires are a bottomless depth and only lead to further travails in this worldly

whirlpool. Fire burns when fed with fuel and is extinguished for want of it. But it is surprising that the terrible fire of infatuation blazes strongly in either way (on getting or not getting the objects of desire) (56)'

The human body is a veritable prison for the Atman: it is a folly to be attached to it. 'Birth is the mother; death, father; mental and physical sufferings, brothers, and decrepitude is the friend of this living being in the last stage And yet there is love for the body! (201)'. The kith and kin are not in any way permanent associates, so one should pursue the path of Dharma, Wealth and other external accessories are temporary, 'The poor are discontented for not obtaining wealth, and the rich too are (so) for want of contentment. Alas! all are in distress; but only a monk or an ascetic is happy (65)'; for, his happiness alone is self-dependent. The happiness that is dependent on anything else necessarily leads to privation and pain.

The life of a monk has something unique about it. Neither the body nor the period of life is long-enduring; the monk makes the best use of them, for Death is certain! 'Living beings are like fruits, falling down from the palmtree of birth. How long can they be in the intervening space before they reach the ground of death! (74)' Every opportunity, therefore, must be snatched to practise religion, since there are many handicaps, temptations and pitfalls on the way. It is by the practice of penances, for which the human birth alone is suited, that the Karmas are consumed and real happiness is reached. 'An ascetic, in the first stage, chiefly radiates light (of knowledge), like a lamp. Later on he glows with light and glory (of omniscience) like the sun. The wise (ascetic) who resembles a lamp becomes resplendant with right-knowledge and right-conduct. and removing the soot of Karmas, makes the self and non-self manifest' (120-21).

A woman is a temptress; she has taken many a victim in her trap; any attachment for her body means irretrievable fall; so one who is in pursuit of spiritual progress must avoid her from a distance A householder is superior to a monk who becomes a victim to womanly temptations.

A worthy Teacher has to be sought and followed, because merited monks are rare in these days. Many are tempted by

worldly pleasures and have become mean supplicants : 'What can Karmas do to saints who see with discrimination, whose wealth is possessionlessness and to whom death itself is life (162)'. Self-restraint is the highest treasure; penances, the great pursuit; the Anekanta doctrine, the lovely resort; and self-realization, the ultimate good. 'An ascetic, endowed with spiritual knowledge, perceiving the essences (essential nature of things) as they are, extending his right knowledge again and again, and exterminating love and hate, could contemplate (upon the supreme self) (177)'.

The passions or kasayas like krodha anger, mana pride, maya deceit and lobha greed deserve to be subjugated,because even great men have succumbed to them. One should be apprehensive of the deep pit of deceit enveloped in the pitchy darkness of falsehood. The horrible cobras of anger etc. (the passions) living in its depth are not visible (21)'. Love and hate constitute pravrtti or worldly addiction, and doing away with them is renunciation. They both are associated with external objects, and so they should also be discarded (237). One should rise above attachment and aversion; then alone penances are fruitful, then alone the soul is distinguished from body; thereafter proper application to meditation destroys all Karmas; and then the Atman is realised in full effulgence.

These glimpses of the contents of the Atmanusasana show that the themes covered are mostly those of ascetic poetry with positive emphasis on spiritual realization. Jainism makes no room for a God who is a creator and a distributor of favours and frowns; but it is a pre-eminent champion of the Karma doctrine which is an automatically functioning mechanism. By one's thoughts, words and acts one incurs good or bad Karmas of specified type, duration, intensity and extent, the consequences of which one must reap. Naturally Jaina authors have all along tried to shape a balanced individual, whether a house-holder or a monk, so that he is least liable to Karmas which, as an ascestic, he tries to destroy through the practice of penances etc In this ideology, moral preachings, ethical exhortations, religious instructions, exemplary sermons, didactic tales and pious advices to teach what is correct or good and what is improper or bad behaviour have a special value. Gunabhadra's exposition of various topics in this work fully conforms to this line of thought.

Gunabhadra is quite adept in handling Sanskrit language and in effective expression. Sometimes his style is heavy and laboured. There are few contexts in which he enumerates dogmatical topics of Jainism (Nos. 11-14) or his descriptions become too outspoken (Nos 59, 132-34). On the whole he maintains a high moral fervour, a dignified didactic tone and an earnest spiritual appeal. At times the metre used and the expressions employed are quite suited for the spirit of the contents. The form of his composition is such that lack of continuity of topics and repetition of the same theme in different places can hardly be looked upon as a defect.

Gunabhadra is a trained poet who can embellish his expression in a variety of ways, both in words and meaning, or sound and sense. Obviously different alamkaras can be detected here and there anuprasa, alliteration—5, 57, 61, 89, 91, 101 etc.; upama, simile—63, 77, 81, 120-21, 123, 129, 179 etc.; arthantara-'nyasa—44, 75, 76, 93, 118-9 136, 139 etc; rupaka, metaphor—74, 87, 132, 170, 183 etc., utpreksha, fancy—86, 91, 154 etc; apahnuti—126 etc; aprastuta prasamsa—139 etc, vibhavana—109 etc; slesa—96 etc.

Gunabhadra has well prefaced his discourse (No. 3) indicating his ability in the science of medicine; and in a number of verses he shows his close study of ayurveda, for instance, Nos. 16-17, 108, 183 etc., which employ some words or ideas from that science.

Gunabhadra presents some mythological allusions, not necessarily from Jaina sources, to carry conviction to the readers of the point under discussion Futile is man's endeavour, when Destiny is adverse even mighty Indra suffered a defeat on the battle field (32 · this verse belongs to Bhartrhari) .The source is possibly the Visnu-purana (vide the Hindi Introduction). None can escape the consequences of past Karmas . even Risabha, the first Tirthankara, had to go without food for a period of six months (118-19). Even slight pride does great harm as in the case of Bahubali who suffered long on that account (217). The details about these episodes are available in the Mahapurana of Jinasena-Gunabhadra. Women, indeed are the worst poison . even Sambhu (Siva or Samkara), who was not at all affected by

the deadly poison in his throat, was affected by women (135). Anger misguides one and brings misfortune : Siva, not realising that cupid lived in the heart, burnt, out of anger, something external mistaking it for the god of love (216). The story is wellknown from the Kumarasambhava of Kalidasa. Marici, Yudhisthira and Krsna had their great qualities sullied on account of their deceit, direct or indirect (220). These tales are connected with the Mahabharata legends.

Gunabhadra is a trained poet and well-versed in the various branches of contemporary learning. It is but natural, therefore, that he shows contacts with earlier literature, both in Prakrit and Sanskrit; and he too has lent some ideas even to an eminent literature like Somadeva, the author of the Yasastilaka-campu (K. K. Handiqui : Yasastilaka and Indian Culture, Sholapur 1949, pp. 256 459) May be that some of the common ideas are a part of their inheritance from their traditional learning of Jainism. Some striking parallelisms between the works of Kundakunda, Sivarya, Samantabhadra, Pujyapada and the Atmanusasana (A) may be indicated here :

Kundakunda . Pancastikaya (Bombay 1915) 128–30, cf. A. 195; Bhavapahuda (Bombay 1920) 44, 39–41, & A. 217, 89-90 and 91; Mokkhapahuda (Ibidem) 5 cf. A. 193 It is interesting that Srutasagara quotes verses from the Atmanusasana to explain some of these gathas from the Pahudas. Sivarya · Bha.-Aradhana (Sholapur 1935) 938-90, 1022-25 cf. 4. 126-36, 88-9. Samantabhadra · Svayambhustotra (Bombay 1905) 34 cf. A. 58 Yuktyanusasana (Ibid.) 6 cf. A. 107; and Devagama (Ibid.) 15 f cf. A. 171 f. Pujyapada · Istopadesa (Bombay 1928), 16, 30, 8, 26, 23 and 11, cf. A. 45, 50, 60-1, 110, 176 and 178-9, Samadhi-sataka (Bombay 1905) 39, 43, 83-84 cf. A. 182, 110, 239-240. For the tenfold division of Samyaktva (Nos. 11-14 here, and also in the Uttarapurana, 74, 439-449), Gunabhadra is quoted by Somadeva in his Yasastilaka-campu (Bombay 1903, *Uttarakhanda, p.* 323) and also by Srutasagara in his commentary on the Damsana and Bodhapahuda (Bombay 1920, pp 13, 121). Asadhara also seems to be following Gunabhadra in his (Anagara) Dharmamrta, II. 62 (Bombay 1919). This enumeration is very much similar to the one found in the Ardhamagadhi canon (Uttarajjhayana 28, 16 and 17–27, also pannavana I. 74).

May be that Gunabhadra had studied the Mahayana Sanskrit texts of Buddhist authors which breathe this very moral spirit, for instance, the Siksasamuccaya, Bodhicaryavatara etc. Some of their exposition of the paramitas like Sila, ksanti, dhyana, prajna etc. is much akin to Jaina ideology, a common inheritance of Sramanic culture. It is natural that Gunabhadra shows a close study of the (Niti-Srngara-and Vairagya-) Satakas (N., S., V.) of Bhartrhari (Bh.) from which he has inherited many ideas, expressions and even verses. The Vairagya-sataka and Atmanusasana have close ideological and cultural kinship For identical or nearly identical verses, cf. N.-49 (The references are to the ed. of D. D. Kosambi in the Singhi Jain Series, Bombay 1948) and A.-32; Bh No. 308 and A.-67; a woman is likened to a serpent (Bh. No. 205 and A -127) and to a lake (S -100 and A.-129); cupid is compared with a hunter (S-114 and A.-130); and on the equipment of an ascetic (Bh No. 269 and A.-151; etc.).

By his rigorous training as a poet, by his extensive learning and by his earnest spiritual appeal, Gunabhadra has given in his Atmanusasana a refreshing piece of religious and didactic poetry.

## 2 Gunabhadra, the Author

The author of this Atmanusasana is Gunabhadra who styles himself as bhadanta and tells us that his mind was engaged in remembrance of the feet of his preceptor Jinasena (No 269) Gunabhadra along with his grand-teacher Virasena and his teacher Jinasena 'formed a continued and composite academic personality ushered into existence as if for the purpose of completing three significant works of Indian literature, namely, Dhavala, Jayadhavala and Mahapurana, which were two big and profound to be completed in one span of life by any one individual'. He gives good many details at the close of the Mahapurana about his predecessors (Uttarapurana, Banaras 1944. Prasasti pp 573-79; Collected works of R. G Bhandarkar, II, Poona 1928, pp. 274 ff ); and we can supplement them from other bits of information available in the Dhavala and Jayadhavala (Satkhandagama with Dhavala Com., I Amraoti 1939, Intro. pp. 35-45, Kasayapahuda with Jayadhavala com., I, Banaras 1944, Intro pp. 69-77). Their religious ancestry is traced back to the ascetic line or family called Pancastupanvaya (Jaina

Sidhanta Bhaskara, XVI, I, pp. 1-6, Arrah 1949; Karnatak Historical Review, VII, 1-2, Dharwar) to which belonged Guhanandi, Vrsabhanandi, Chandrasena, Aryanandi and Virasena. This Anvaya had once its home in the North, in Eastern India; the monks of this line were perhaps the greatest custodians of the knowledge of Karma Sidhanta; and they travelled, via Rajaputana and Gujarat, as far as Sravana Belgol in the South, carrying with them the hereditary learning of the Karma doctrine and pursuing their religious path of severe penances. Virasena and Jinasena attained such a position and eminence that after them the Senanvaya or Senagana of the Mulasangha came to be mentioned as the family or line of teachers almost replacing the Pancastupanvaya Virasena had two pupils, Jinasena and Dasaratha, both of whom are claimed by Gunabhadra as his Gurus

After completing the Dhavala commentary on the Satkhandagama in 72 thousand granthagras in 816A. D., Virasena took up the Jayadhavala commentary on the Kasayapahuda; but he passed away when he had composed just 20 thousand granthagras. It was left consequently to his great disciple Jinasena to finish this commentary which he did in 837 A. D. by adding some 40 thousand granthas more Jinasena began composing the Mahapurana which gives in a stylistic manner the account of 63 Salaka-purusas. It is not only a systematic exposition of Jaina traditional lore and principles but also an exquisite specimen of Sanskrit Kavya, rich in exhuberant descriptions and full of poetic embellishments, both of sense and sound. After composing some 12 thousand slokas of the Mahapuruna, Jinasena perhaps passed away, and the work was completed by Gunabhadra by composing about 8 thousand slokas more. The Adipurana, of which the major portion was composed by Jinasena, contains the biography of the first Tirthankara and first Chakravartin; and the Uttara-purana of Gunabhadra deals with the lives of remaining Tirthankaras and other Salaka-purusas. The U-purana obviously, therefore, has become more enumerative than descriptive. It is a sad event in the history of Sanskrit scholarship that Jinasena left this work incomplete His pupil Gunabhadra (well-known for his wide learning and outstanding austerities), with much hesitation and after waiting for sometime, but as a sacred duty to his great Guru. had to complete it; and it was

later consecrated by Lokasena, a pupil of Gunabhadra, at Bankapur (Dt. Dharwar) in 897 A.D.

About the equipments of Gunabhadra, the prasasti says :

प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विश्वोपविद्यां गतः
सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धोद्धधीः ।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥

Gunabhadra's modesty, respect for the Guru and high sense of duty are well put in the following select verses (Parvan 43) :

स्वोक्ते प्रयुक्ताः सर्वे नो रसा गुरुभिरेव ते ।
स्नेहादिह तदुत्सृष्टान् भक्त्या तानुपयुञ्ज्महे ॥ ९ ॥
निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः ।
तच्छेषे यतमानानां प्रासादस्येव नः श्रमः ॥ ११ ॥
अर्धं गुरुभिरेवास्य पूर्वं निष्पादितं परैः ।
परं निष्पाद्यमानं सच्छन्दोवद्धातिसुन्दरम् ॥ १३ ॥
इक्षोरिवास्य पूर्वार्धमेवाभावि रसावहम् ।
यथा तथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥ १४ ॥
गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः ।
तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥
निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः ।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥ १८ ॥

Virasena, Jinasena, Gunabhadra and Lokasena lived in an age of political prosperity and stability as well as literary fertility (K. K. Handiqui: Yasastilaka and Indian Culture, Sholapur 1949, pp 9. 10). The contemporary Rashtrakuta rulers were Jagattunga, Nrpatunga or Amoghavarsa (815-877 A. D.) and Akalavarsa (and his feudatory Lokaditya) Amoghavarsa was a great devotee of Jinasena whose ascetic virtues and literary gifts must have captivated his mind. He soon became a devout Jaina and renounced the kingdom in perference to religious life as mentioned by him in his Sanskrit work Prasnottararatnamala and as graphically described by his contemporary Mahaviracarya in his

Ganitasara-samgraha (Jaina Siddhanta Bhaskara IX, andAnekanta V. p. 183).

Gunabhadra completed the Mahapurana some time before 897 A D This was the year when Lokasena consecrated it, and perhaps Gunabhadra was no more by that time. The Atmanusasana, it appears, was composed after the demise of Jinasena; so it may be assigned to a period soon after 837 A D. say roughly to the middle of the 9th century A D. (See Collected works of R. G. Bhandarkar, II, pp 271 ff; Premi: Jaina, Sahitya aur Itihasa, Bombay 1956, pp 127–154).

According to Prabhachandra's Sanskrit commentary the Atmanusasana was composed by Gunabhadra to enlighten Lokasena whom he calls Gunabhadra's elder religious brother (bruhaddharma-bhratr); but according to the prasasti at the close of the Uttarapurana, Lokasena was an eminent pupil of Gunabhadra.

Besides the Atmanusasana and Uttarapurana, one more work is atributed to Gunabhadra, and that is the Jinadattacarita (Bombay 1916)

### 3 Prabhachandra, the Commentator

The Sanskrit commentary, which is given in this edition, is quite helpful in understanding the text of Gunabhadra, though it cannot be claimed that it is thorough, perfect and meeting all the needs of a reader. Generally it gives word-for-word meaning, and adds some explanatory remarks here and there. There are instances where crucial references and allusions are silently passed over.

All that is disclosed from the commentary about its author is that his name is Prabhachandra or Prabhendu, and he calls himself Pandita.

There have been many authors and teachers bearing the name Prabhachandra (J. Mukthar Ratnakarandaka—sravaka—cara, Bombay 1925, Intro. pp 57 f.); and a good deal has been written on their identity and authorships of certain works (Nyayakumudachandra vols. I and II, Bombay 1938–41, Introductions I, pp. 114 f. and II, 48 f., Samadhi-tantra, Sarsawa 1939, Intro. pp. 19 f.; Brhat-kathakosa, Bombay 1943, Intro. pp. 60 f)

Comparing the Sanskrit commentaries on the Ratnakarandaka (Bombay 1925), Samadhi-sataka or -tantra (Sarsawa 1939) and Atmanusasana, it is highly probable that it is one and the same Prabhachandra who has composed these three. Therein the explanatory pattern is similar and style of annotation is alike. Secondly, a comparison of the opening verses shows certain or nearly

A.—भववारिनिधिप्रपोतम्, उद्द्योतिताखिलपदार्थम्, निर्वाणमार्गम् अनवद्यगुणप्रबन्धम् ।

S.—अप्रतिमबोधम्, निर्वाणमार्गम्, संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतम् ।

R.—निखिलात्मबोधनम्, अखिलकर्मशोधनं निबन्धनम् ।

identical expressions and ideas Thirdly, the prose introductory paragraphs in all the three are very much alike Lastly, the concluding mangala verse mentions the name alike, i. e.; Prabhendu; and the metre employed is the Sardulavikriditam.

In view of the fact that there flourished many authors bearing the name Prabhachandra, the authorship of different works attributed to Prabhachandra needs more investigation. So without going into the discussion of other works of Prabhachandra, we might see here when this commentator Prabhachandra flourished and what broad limits can be put to his age, in the light of clear-cut evidence.

(i) Prabhachandra quotes in his commentary on the Atmanusasana 9 : vismayo etc, on A 10 : mudhatrayam etc., on A. 265 : disam na etc, on A., 568 : akarta etc, and all these (at times with some variants) are traced to the Yasastilakacampu (either composed by the author or quoted from earlier sources) of Somadeva (Uttarardha, pp. 274, 324, 270 and 250 respectively). Likewise, he quotes in his commentary on the Ratnakarandaka, 4-23, a verse sraddha etc. Which is traced to the sam source (Ibid., p. 404) It is highly probable that Prabhacandra is indebted to Somadeva who completed this Campu in Saka 881 (+78), i. e., 959 A D.

(ii) In the Com on the Ratnakarandaka 4-18, Prabhachandra quotes two verses adhruvasarane etc. which belong to the Panca-vimsati of Padmanandi (VI 43-44) Though it is held that this Padmanandi is a disciple of Subhachandra who died in

1123 A. D., his precise date is still a matter of investigation. This much is certain that he is earlier than Asadhara who in his commentary on the (Anagara-) Dharmamruta (completed in Samvat 1300 or A D. 1243), IX. 80 specifically refers to Padmanandi and quotes a verse from his Paneavimsoti (1-41); and also earlier than Padmaprabha (died in 1185 A. D.) who quotes a few verses from the Ekatva-saptati in his commentary on the Niyamasara (Journal of the University of Bombay XI. ii. p. 107; Jainism in South India etc., Sholapur 1957, p. xi, 159-60).

(iii) Asadhara refers to Prabhendu and his Ratnakarandska-tika in his svopajna commentary on the Dharmamruta, VIII. 93, which was completed in 1243 A. D.

Thus Prabhacandra is later than Somadeva (959 A. D.) and flourished between Padmanandi (earlier than 1185 A D.) and Asadhara (1243 A. D.).

# प्रस्तावना

## प्राचीन प्रतियोंका परिचय

आत्मानुशासनका प्रस्तुत सस्करण निम्न प्रतियोंके आधारसे किया गया है–

ज–यह प्रति श्री आदिनाथ दि. जैन शेतवाल मंदिर शोलापुरकी है। इस प्रतिकी लम्बाई ११।। इंच और चौडाई ५।। इंच है, पत्रसख्या १-६२ है। प्रत्येक पत्रपर एक ओर ११ पक्तिया और प्रतिपक्तिमे लगभग ३७-३९ अक्षर है। ग्रन्थका प्रारम्भ "।। ६० ।। ओ नम सिद्धेभ्य. ।।" इस मंगलवाक्यको लिखकर किया गया है। ग्रन्थके अन्तमे "।। इति श्री पडित प्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासन टीका समाप्ता ।।" इस अन्तिम पुष्पिकावाक्यको लिखकर लेखकने निम्न प्रशस्ति लिखी है "।। सवत् १८३४ का वर्षे कार्त्तिगमासे कृष्णपक्षे ९ नवमी सनिवारे लिषावित पडितजी श्री अरा (ण) दराम जी पठार्थं (पठनार्थ) सिष्य पडित जी श्री श्री री (खब) चद जी। लिषत म्हात्मा गोबिंदरामेण ।। श्लोक ।। यादृश पुस्तक दृष्ट्वा तादृशं लिषत मया। यदि सुद्धमसुद्ध वा मम दोशो न दीयते ।। १ ।। लिषाप्यत जयपुरमध्ये ।। श्री ।।" इस लेखक प्रशस्तिके अनुसार उसका लेखनकाल कार्तिक कृष्ण ९ शनिवार सवत् १८३४ है। प्रति सुवाच्य व सुन्दर लिखी गई है। इसमें कही कहीपर नीचे, ऊपर या हाशियेपर अर्थबोधक टिप्पण भी दिये गये है। इसमें प्राय. 'र्ग' के लिये 'ग्र', 'क्ष्य' के लिये 'ष्य' और 'च्छ' के लिये 'छ' लिखा गया है।

स–यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टिटयूट पूनाकी है। पत्रकी लम्बाई-चौडाई १२×६ इच है। पत्रसख्या १-५२ है। इसमें प्रत्येक पत्रकी एक ओर १३ पक्तिया और प्रत्येक पक्तिमे लगभग ३५-४० अक्षर है। लिपि साधारण है। कही कहीपर काटा भी गया है और हाशियेपर लिखा गया है। इसमे 'ओ' के स्थानमे 'उ' तथा 'च्छ' और 'त्थ' के लिये समान रूपसे 'त्थ' लिखा गया है। एकारकी मात्रा

( ) के लिये पीछे खडी लकीर (ा) का भी उपयोग किया गया है। पूर्व प्रतिके समान इसमें भी कही कहीपर अर्थबोधक टिप्पण दिये गये हैं। जैसा कि अन्तिम पुष्पिकासे ज्ञात होता है, इसका लेखनकाल कार्तिक शुक्ला ११ संवत् १७९१ है– " इति श्रीपण्डित प्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता । शुभमस्तु । । श्रीः । संवत् १७९१ वर्षे काती सुदी ११ एकादश्या रवौ इदं ग्रन्थ सपूर्णं जातम् । श्री सवाईंजयपुरमध्ये । श्रीः ॥"

प–यह प्रति भी भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीटचूट पूनाकी है। परन्तु इसके प्रारम्भके सौ पत्र नही मिले। पत्र १०१–१२४ प्राप्त है। इसलिये इसके पाठभेदोका सकेत (प) प्रस्तुत सस्करणमें पृ. ११४ के पूर्वमे नही किया जा सका है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। इसके अन्तिम पुष्पिकावाक्य इस प्रकार है– " श्री नाभेयो जिनो भूयात् भूयसे श्रेयसे स व. । जगज्ज्ञानजले यस्य दधाति कमलाकृतिम् ॥ १ ॥ इत्याशीर्वाद । इति पण्डितप्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता शुभ भवतु । मिती कार्तिक मासे शुभे शुक्लपक्षे पूर्णावास्यां तिथौ गुरुवारे सवत् १९४६ का दसकत लादूरामका । शुभ "

मु (नि)–उक्त तीन हस्तलिखित प्रतियोके अतिरिक्त बम्बई निर्णयसागर प्रेससे "सनातन जैन ग्रन्थमाला" के नामसे जो प्रथम गुच्छक प्रकाशित (ई. सन १९०५) हुआ है उसमें प्रस्तुत ग्रन्थका मूल मात्र समाविष्ट है।

मु (जै)–स्थानीय विद्वान् श्री प. बशीधरजी शास्त्रीकी हिन्दी टीकाके साथ इस ग्रन्थका एक संस्करण जैन ग्रन्थरत्नाकर बम्बईसे भी प्रकाशित (सन १९१६) हुआ था।

## ग्रन्थका स्वरूप और ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थ आत्महितैषी जीवोंके लिये आत्माके यथार्थ स्वरूपकी शिक्षा देनेके विचारसे रचा गया है। इसीलिये ग्रन्थकारके द्वारा इसका 'आत्मानुशासन' यह सार्थक नाम निर्दिष्ट किया गया है। इसकी समस्त श्लोकसंख्या २६९ है और उनमे इन १५ छन्दोका उपयोग किया गया है (देखिए परिशिष्ट पृ. २५७)–

| क्रम | छन्दनाम | श्लोक संख्या | छंदका लक्षण | क्रम | छन्दनाम | श्लोक संख्या | छंदका लक्षण |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | अनुष्टुभ् (श्लोक) | १०२ | श्रुतबोध | ८ | पृथ्वी | ८ | वृ.र.३-१२४ |
| | | | | ९ | स्रग्धरा | ६ | ,, ३-१४२ |
| २ | शार्दूलवि-क्रीडित | ५७ | वृत्तरत्नाकर ३-१९९ | १० | मन्दाक्रान्ता | ३ | ,, ३-१२७ |
| | | | | ११ | वंशस्थ | ३ | ,, ३-५१ |
| ३ | वसततिलका | २६ | वृ. र. ३-९६ | १२ | उपेंद्रवज्रा | १ | ,, ३-४२ |
| ४ | आर्या | २१ | श्रुतबोध | १३ | वैतालीय | १ | ,, २-१२ |
| ५ | शिखरिणी | १५ | वृ.र.३-१२३ | १४ | रथोद्धता | १ | ,, ३-५१ |
| ६ | हरिणी | १४ | ,, ३-१२६ | १५ | गीत | २ | ,, २-८ |
| ७ | मालिनी | ९ | ,, ३-११० | | | २६९ | |

इस ग्रन्थके रचयिता श्री गुणभद्राचार्य है। इन्होंने अपने जन्मसे किस नगरको विभूषित किया, माता-पिता उनके कौन थे, तथा वे गृहवासमें कबतक रहे, इत्यादि बातोको जाननेके लिये कुछ भी सुलभ सामग्री नही है। इतना निश्चित है कि वे अपने समयके अपूर्व एव बहुश्रुत विद्वान् थे। जैसा कि उन्होंने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें स्वय सूचित किया है, वे श्री जिनसेनाचार्य और श्री दशरथ गुरुके शिष्य थे[1]। इन्होंने अपनी प्रतिभाके बलपर अपने गुरुके अपूर्ण कार्यको पूरा किया—श्री जिनसेनाचार्यके अधूरे महापुराणको सम्पूर्ण किया। वे गुरुके अतिशय भक्त थे। उनकी इस गुरुभक्तिका प्रमाण उस समय मिलता है जब वे अपने गुरुदेव श्री जिनसेन स्वामीका स्वर्गवास हो जानेपर उनकी रचनासे शेप रहे आदिपुराणके रचनाकार्यको अपने हाथमें लेते हैं। वे कहते हैं– इस शेप महापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण) की रचनामें यदि मेरे वचन श्रोताजनोको सुस्वादु (आनन्दजनक) प्रतीत हो तो यह गुरुओका ही प्रभाव समझना चाहिये। कारण यह कि आम्र आदि फलोमे जो सुस्वादुता देखी जाती है उसके कारणभूत उक्त फलोके

१. प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विश्वोपविद्यां गतः
सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धीद्धधीः।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः॥ उ. पु. प्रशस्ति १४

उत्पादक वे वृक्ष ही होते है[1]। इसके अतिरिक्त, मेरे ये वचन जिस हृदयसे निकलनेवाले है उस हृदयमें तो गुरुओका वास निरन्तर है, अतः वे उनको वहा संस्कारसे सयुक्त– रस, भाव व अलंकारादिसे विभूषित– करेगे ही। इसीलिये मुझे यहा कुछ भी परिश्रम नही करना पडेगा[2]। आगे वे कहते है कि इस पुराणरूप समुद्रका पार अतिशय दूरवर्ती है तथा वह गहरा भी अधिक है, इसका भय मुझे कुछ भी नही है। कारण यह कि जो श्रेष्ठ गुरु सर्वत्र दुर्लभ हैं वे इस पुराणरूप समुद्रके पार करनेमे मेरे आगे चल रहे है[3]। जब जिनसेनका अनुसरण करनेवाले भव्य जीव प्राचीन मार्गको– रत्नत्रय- स्वरूप मोक्षमार्गको–पाकर ससाररूप समुद्रके पार पहुचना चाहते हैं तब इस पुराणकी तो बात ही क्या है- उन जिनसेन गुरुका अनुसरण करके में इस पुराणको निःसन्देह पूरा करूगा[4]। इस कथनसे जिस प्रकार अपनी उत्कृष्ट गुरुभक्तिको सूचित किया है उसी प्रकार उन्होंने अपनी शालीनता (निरभिमानता) को भी प्रगट कर दिया है। ऐसे उत्कृष्ट महाकाव्योंकी रचनामें असाधारण प्रतिभा और उत्कृष्ट विद्वत्ता ही काम करती है। इस बातको वे मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते है, न कि इतर साधारण जन। इस सत्यको वे स्वय ही इस प्रकारसे सूचित करते है–कविके काव्यविषयक परिश्रमको कवि ही समझ सकता है। ठीक है– जिस प्रकार वन्ध्या स्त्री कभी पुत्रप्रसूतिकी पीडाको नही समझ सकती है उसी प्रकार अकवि कविके काव्यरचनाविषयक परिश्रमको भी नही समझ सकते है[5]।

---

१. गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि प्रभावेण यत्फलं स्वादु जायते ॥ आ. पु. ४३-१७.

२. निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥ आ. पु. ४३-१८.

३. सुदूरपार-गम्भीरमिति नात्र भयं मम।
पुरोगा गुरवः सन्ति प्रष्ठाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥ आ. पु. ४३-३८.

४. पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम्।
भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥ आ. पु. ४३-४०.

५. कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमम्।
वन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः ॥ आ पु. ४३-२४.

गुरुभक्त होनेके साथ वे प्रखर तपस्वी भी थे। उन्होने उत्तर-पुराणकी प्रशस्तिमे स्वय लिखा है– इसने (गुणभद्रने) पुण्य लक्ष्मीकी सुभगताके अभिमानको जीत लिया है, ऐसा सोचकर ही मानो मुक्तिरूप लक्ष्मीने उसके पास अतिशय निपुण दूतीके समान तपरूप लक्ष्मीको भेज दिया था। उसने भी आकर उत्तम गुणरूप धनके धारक उसका आश्रय बडे प्रेमसे स्वीकार किया है[1]। प्रस्तुत ग्रंथ (आत्मानुशासन १४९-१६९) मे उन्होंने जो समालोचनात्मक दृष्टिसे साधुधर्मका विवेचन किया है उससे भी उनके महान् तपस्वी होनेका अनुमान होता है। उत्तर-पुराणकी ही प्रशस्ति (४२) में उनके शिष्य लोकसेनने जो उनके लिय 'जितम–दनविलास.' विशेषण दिया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे अखण्ड बालब्रह्मचारी थे।

## ग्रन्थका रचनाकाल

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता वे गुणभद्राचार्य कब हुए, इसका विचार करनेके लिये हम प्रथमत· उनके गुरु श्री जिनसेनाचार्यके समयका विचार करेगे। जिनसेनाचार्यने अपने गुरु श्री वीरसेनके द्वारा प्रारम्भ की गई तथा इस बीच उनका स्वर्गवास हो जानेसे अधूरी रह गई कसायपाहुडकी जयधवला टीकाको शके संवत् ७५९ में पूर्ण किया, यह निश्चित है[2]। उस समय अमोघवर्षका राज्य था। इसके बादमें ही सम्भवतः उन्होंने

१. पुण्यश्रियोऽयमजयत्सुभगत्वदर्पमित्याकलय्य परिशुद्धमतिस्तपश्रीः।
मुक्तिश्रिया पटुतमा प्रहितेव दूती प्रीत्या महागुणधनं समशिश्रियद्यम्॥
उ. पु. प्रशस्ति १५.

२. इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते॥ ६॥
फाल्गुने मासि पूर्वाण्हे दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वर महोत्सवे॥ ७॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका॥ ८॥
एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या॥ ११॥ ज. ध. प्रशस्ति

महापुराणकी रचना प्रारम्भ की है। वह महापुराण आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो भागोंमें विभक्त है। आदिपुराणमे सैंतालीस पर्व हैं। इनमें जिनसेनाचार्यके द्वारा ४२ पर्व ही रचे जा सके हैं। तत्पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। तब उनकी इस अधूरी रचनाको इन्ही गुणभद्राचार्यने पूरा किया है। उन ४२ पर्वोमे लगभग १० हजार श्लोक होगे। उनकी रचनामें ५-६ वर्षका समय लग सकता है। इस प्रकार जिनसेनाचार्यका अस्तित्व लगभग शक सं ७५९+६=७६५ तक पाया जाता है। जैसा कि हरिवंशपुराणके कर्ता श्री जिनसेनने अपने हरिवंश पुराणके प्रारम्भमे उल्लेख किया है[1]। पार्श्वाभ्युदयकी रचना वे–गुण भद्रके गुरु जिनसेनाचार्य-जयधवलाके पूर्वमेही कर चुके थे। कारण इसका यह है कि उक्त पार्श्वाभ्युदयका उल्लेख करनेवाले उस हरिवंशपुराणको श. स. ७०५ मे पुरा किया गया है। अब इस पार्श्वाभ्युदयकी रचनाके समय यदि जिनसेन स्वामीकी अवस्था बीस वर्षके भी लगभग रही हो तो उनका जन्म श सं. ६८५ के लगभग होना चाहिये। इस प्रकार श्री जिनसेनाचार्य श. सं. ६८५–७६५ तक करीब ८० वर्षकी अवस्था तक विद्यमान रहते हैं[2]। जिनसेनाचार्यका स्वर्गवास हो जानेपर उनके उस अधूरे आदिपुराण (४३–४७) को तथा समस्त उत्तरपुराणको श्री गुणभद्राचार्यने पूरा किया है[3]। इसमें उन्होने लगभग ९६२० (आ पु. १६२०+उ. पु. ८०००) श्लोकोंकी रचना की है। इस कार्यको उन्होंने कब पूरा किया, इसका निर्देश उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमे

---

१. याऽमिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ॥ ह. पु. १४०.

२ यह अनुमान स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमीने किया है (जैन साहित्य और इतिहास पृ. १३९-४१)। लगभग ऐसा ही अनुमान कसायपाहुड भाग १के सम्पादकोंने भी उसकी प्रस्तावना (पृ.७५-७७) में किया है।

३. जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम्।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा विनेयानाम्॥
अतिविस्तरभीरुत्वादवशिष्टं संग्रहीतममलधिया।
गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीणकालानुरोधेन॥ उ. पु. प्रशस्ति १९-२०.

नही किया गया है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होने उसकी रचना जिनसेनाचार्यके स्वर्गस्थ होते ही प्रारम्भ कर दी होगी। इसमे उनका ५–७ वर्षका समय लग सकता है। इस प्रकार गुणभद्राचार्यका समय श. स के अनुसार ८ वी शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित होता है। उन्होंने अपने अस्तित्वसे इस महीमण्डलको ठीक कबसे कबतक मण्डित किया, इसके यथार्थ निश्चय करनेका कोई भी साधन उपलब्ध नही है। परतु हा, उत्तर पुराणकी अतिम प्रशस्तिसे–जो उसका अंश गुणभद्रके शिष्य लोकसेनके द्वारा रचा गया है–इतना अवश्य निश्चित होता है कि श. स. ८२० मे अनेक भव्यो द्वारा महोत्सवपूर्वक उस महापुराणकी पूजा सम्पन्न की गई थी[1]। इससे इतना तो निश्चत है कि श. सं ८२० के पूर्वमें उक्त महापुराण पूर्ण हो चुका था। सम्भव है लोकसेनके तत्त्वावधानमे सम्पन्न हुआ उक्त महापुराणका वह पूजा-महोत्सव गुणभद्राचार्यके स्वर्गवासके पश्चात् किया गया हो।

उनकी कृतिस्वरूप ग्रन्थोमे उपर्युक्त उत्तरपुराण और प्रकृत आत्मानुशासनके अतिरिक्त जिनदत्तचरित्र भी उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा रचा गया अन्य कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नही होता है।

## संस्कृत टीकाका स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थके साथ जो संस्कृत टीका प्रकाशित की जा रही है वह प्रभाचन्द्राचार्यके द्वारा रची गई है। यह सक्षिप्त टीका ग्रन्थके मूल भागका ही अनुसरण करती है। उसमें प्रायः कही कुछ विशेष नही लिखा गया है–शब्दार्थ मात्र किया गया है। इतना ही नही, बल्कि कही

---

१. शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
मंगलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदम्॥
श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसजे मन्त्रिवारे बुधांशे
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे सैंहिकेये तुलायाम्।
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम्॥
उ. पु. प्रशस्ति ३५–३६.

कही तो मूल ग्रन्थके आशयको भी स्पष्ट नही किया गया है। यथा–

श्लोक १२–१४ में सम्यग्दर्शनके दस भेदोके स्वरूपका निर्देश किया गया है। उनके स्वरूपका टीकामे विशेष स्पष्टीकरण होना चाहिये था, जो नही किया गया है।

इससे आगेके १५ वे श्लोक (शमबोध...) की टीकामे भी बहुत कुछ लिखा जा सकता था, परन्तु उसके भावको भी स्पष्ट नही किया गया है।

श्लोक २५ में या तो टीकाकारके सामने कुछ पाठभेद रहा है, या लिपिकारोकी असावधानीसे टीकागत पद कुछ इधरके उधर हुए है। इससे टीकाकारका अभिप्राय स्पष्ट नही होता है।

श्लोक ३२ भर्तृहरिके नीतिशतकमे इसी रूपमे पाया जाता है। वहा मात्र (यत्र) के स्थानमे यस्य और 'वारण' के स्थानमे 'रावण:' पाठभेद है। वहां 'रावण.' का अर्थ टीकाकारने 'प्रधानहस्ती' किया है। आत्मानुशासनमे इस श्लोककी टीका करते हुए प्रभाचंद्राचार्यने 'सगरे परै: भग्नः' का अर्थ 'रावणादि शत्रुओ द्वारा युद्धमे पराजित किया गया' ऐसा किया है जो सगत प्रतीत नही होता है। यहा इन्द्रसे अभिप्राय यथार्थ देवेद्रका ही रहा है[1], न कि इंद्र नामधारी विद्याधर मनुष्यविशेषका। अन्यथा, 'अनुग्रहः खलु हरे' इस विशेषताकी कोई सगति नही बैठती। कारण कि उक्त इन्द्र नामक राजाने यद्यपि देवो आदिकी भी वैसी ही कल्पना कर रक्खी थी (पद्मचरित्र ७, २३-३२),

---

१. विजितास्त्रिवशा दैत्यैरिन्द्राद्याः शरणं ययुः।
पितामहं महाभागं हुताशनपुरोगमाः ॥ वि. पु. १, ९, ३४.

आसीद् धुन्धुरिति ख्यातः कश्यपस्यौरसः सुतः। दनुगर्भसमुद्भूतो महाबलपराक्रमः ॥ स समाराध्य वरदं ब्रह्माणं तपसासुरः। अवध्यत्वं सुरैः सर्वैः प्रार्थयत् स तु नारद ॥ तद्वरं तस्य च प्रादात् तपसा पङ्कजोद्भवः। परितुष्टः स च बली निर्ज्जगाम त्रिपिष्टपम् ॥ चतुर्थस्य कलेरादौ जित्वा देवान् सवासवान्। धुन्धुः शक्रत्वमकरोद् हिरण्यकशिपौ सति ॥ तस्मिन् काले स बलवान् हिरण्यकशिपुस्ततः। चचार मन्दरगिरौ दैत्यं धुन्धुं समाश्रितः ॥ ततोऽसुरा यथाकामं विहरन्ति त्रिपिष्टपे। ब्रह्मलोके च त्रिदशाः सस्थिता दुःखसंयुताः ॥ वामने ७५ अध्यायः (शब्दकल्पद्रुमगत-वामन-शब्दतः)

फिर भी उसके ऊपर किसी विष्णुके अनुग्रहका कहीं कोई प्रकरण देखनेमे नही आता। इस प्रकार उक्त श्लोकको पूरी परिस्थितीको देखते हुए वहा यथार्थ इन्द्रका ही अभिप्राय रहा है, ऐसा निश्चित प्रतीत होता है और तभी दैवकी पूरी प्रधानता एव पुरुषार्थकी निरर्थकता भी सिद्ध होती है।

इस श्लोकका प्रभाव पद्मनन्दिपञ्चविंशतिके निम्न श्लोक (३-३३) पर भी रहा दिखता है—

गीर्वाणा अणिमादिस्वस्थमनस शक्ता किमत्रोच्यते
ध्वस्तास्तेऽपि पर परेण स परस्तेभ्य कियान् राक्षस'।
रामाख्येन च मानुषेण निहत. प्रोल्लङ्घ्य सोऽप्यम्बुधिं
रामोऽप्यन्तकगोचरः समभवत् कोऽन्यो बलीयान् विधेः॥

यहा तो स्पष्टतया पद्मचरित्रके उक्त कथानकको आधार बनाकर यह कहा गया है कि जो देव अणिमा-महिमा आदि ऋद्धियोसे सम्पन्न व अतिशय शक्तिशाली थे वे भी जिस परके द्वारा—दूसरेके द्वारा—नष्ट किये गये है वह पर रावण राक्षस था जो उन देवोसे कुछ विशेष बलवान् नही था। फिर वह भी एक राम नामक मनुष्यके द्वारा समुद्रको लाघकर मारा गया है, तथा अन्तमें उस रामको भी यमका ग्रास बनना ही पडा है। ठीक है—दैवसे बलवान् अन्य कोई नही है।

उस इन्द्र नामक विद्याधरने अपने सैनिको आदिकी 'देव' संज्ञा रख रक्खी थी। यहा उनके लिये समानार्थक गीर्वाण शब्दका प्रयोग किया गया है तथा उन्हे अणिमा-महिमा आदिसे स्वस्थ मनवाले कहा गया है, जिसकी कि विद्याधर होनेसे सम्भावना भी की जा सकती है।

श्लोक १४९ में 'अर्थार्थं' का अर्थ 'अर्थनिमित्तम्' तथा 'तपःस्थेषु मध्ये' का अर्थ 'तपस्विषु मध्ये' तो किया गया है, किन्तु 'नतानामाचार्या न हि नतिरता. साधुचरिता.' जैसे क्लिष्ट वाक्यके विषयमें कुछ भी स्पष्ट नही किया गया, जिसका कि स्पष्टीकरण आवश्यक था।

इसी प्रकार ३९, ८७, १०८ १३४ और १३५ आदि कितने ही ऐसे श्लोक है जिनका भाव स्पष्ट नही हुआ है। कही कही अर्थको स्पष्ट करनेके लिये मूलकी अपेक्षा भी क्लिष्ट शब्दका उपयोग किया गया है। जैसे– श्लोक १३२ मे 'दण्डोलकरूपः' (पगदण्डी)।

श्लोक २३९ में शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख इन छहका निर्देश करके उनमे प्रथम तीन (शुभ, पुण्य और सुख) को हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया गया है तथा शेष तीनको अहितकारक– अननुष्ठेय (परित्याज्य)– बतलाया गया है। यहां टीकाकारने 'शेष-त्रयमथाहितम्' इस चतुर्थ चरणका कोई अर्थ नही किया। आगेका श्लोक (२४०) इसीसे सम्बध रखता है। उसमे 'तत्राप्याद्य परित्याज्यं' कहकर 'तत्र अपि' से उन अहितकारक शेष तीन (अशुभ, पाप और दुःख) को ग्रहण करके उनमे भी प्रथम (अशुभ) को ही परित्याज्य बतलाया है, क्योकि उसका परित्याग कर देनेपर शेष दोनों (पाप व दुःख) स्वयमेव नही रहेगे। इसके पश्चात् (उत्तरार्धमे) पूर्व श्लोकमें जिस शुभको अनुष्ठेय (आचरणीय) बतलाया था उसे भी शुद्धोपयोगके आश्रयपूर्वक छोड देनेको प्रेरणा करके अन्तमे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) की प्राप्तिकी सूचना की गई है। यह वस्तुस्थिति है। परन्तु उसका अर्थ स्पष्ट करते हुए टीकाकारने 'तत्र अपि' से उन (परित्याज्य) शेष तीनको न लेकर उन अनुष्ठेय शुभादि तीनको ही लिया है और उनमेंसे आद्यको–शुभको–परित्याज्य बतलाया है। परन्तु इस प्रकारसे 'शुभ च शुद्धे त्यक्त्वा' इस तृतीय चरणकी सार्थकता नही रहती है–वह निरर्थक हो जाता है, क्योंकि, उस अवस्थामे उसके त्यागकी प्रेरणा तो प्रथम चरण (तत्राप्याद्य परित्याज्य) मे ही की जा चुकी है। अतएव यह तृतीय चरण पुनरुक्त हो जाता है। इस कारण टीकाकारका यह अर्थ और इसी अर्थको लक्ष्यमें रखकर लिखी गई उसकी उत्थानिका (शुभादित्रयेऽपि त्यागक्रम दर्शयन्नाह) भी संगत नही प्रतीत होती। मेरी समझसे उसकी उत्थानिका इस प्रकार होना चाहिये– अथाहिते शेषत्रये त्यागक्रम दर्शयन्नाह।

## टीकाकार प्रभाचन्द्रका परिचय

जैसा कि श्रद्धेय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने सटीक रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी प्रस्तावनामे ( पृ. ५७–६६ ) लिखा है, प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्य हो गये हैं। उनमेसे यह आत्मानुशासनकी टीका किस प्रभाचन्द्रके द्वारा लिखी गई है, यह विचारणीय है। मेरी समझसे जिनके द्वारा रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका लिखी गई है उन्ही प्रभाचन्द्रके द्वारा आत्मानुशासनकी भी यह टीका लिखी गई है। समाधिशतकके ऊपर भी जो सस्कृत टीका प्रभाचन्द्रकी पायी जाती है वह भी इन्ही प्रभाचन्द्रके द्वारा लिखी गई है। कारण यह की इन तीनो ही टीकाओकी रचनापद्धति समान है, उनमे सर्वत्र खण्डान्वयपूर्वक ही श्लोकोकी व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त उन सभीमें प्राय: मूल पदोके ही स्पष्टीकरणका प्रयत्न गया किया है, उससे अधिक कुछ नही लिखा गया है। साथ ही उनके मगलात्मक प्रथम पद्य, प्रस्तावनावाक्य और अन्तिम पद्य तो बहुत अधिक समानता रखते है। यथा–

सिद्धं जिनेन्द्रममलप्रतिमप्रबोघ निर्वाणमार्गममल विबुधेन्द्रवन्द्यम्।
ससारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतक प्रणिपत्य वीरम् ॥

समाधिशतक

समन्तभद्र निखिलात्मबोघन जिन प्रणम्याखिलकर्मशोघनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डके पर करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥

रत्नकरण्ड

वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोतमुद्द्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम्।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्धमात्मानुशासनपदं प्रवर प्रवक्ष्ये ॥

आत्मानुशासन

इन तीनो ही मगलपद्योंमे समान रूपसे इष्ट देव (वीर जिनेन्द्र, जिन और वीर जिनेन्द्र) को नमस्कार करके विवक्षित ग्रन्थ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक और आत्मानुशासन( की व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। समाधिशतक और आत्मानुशासनविषयक मगलपद्योका तो छन्द (वसन्ततिलका) भी समान है।

तीनोंके प्रस्तावनावाक्य निम्न प्रकार है--

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपाय मोक्षस्वरूप चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नत शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह— (समाधिशतक)

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नाना पालनोपायभूत रत्नकरण्डकाख्य शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वन्नाह— (रत्नकरण्ड)

बृहद्धर्म भ्रातुर्लोकसेनस्य[1] विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारक सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वाणो लक्ष्मीत्याद्याह— (आत्मानुशासन)

इन तीनों ही प्रस्तावनावाक्योंमे समानरूपसे अपने अपने ग्रन्थकी रचनाके इच्छुक तीनों ही आचार्यो (पूज्यपाद, समन्तभद्र और गुणभद्र) का नामनिर्देश करके उन्हे निर्विघ्नतापूर्वक शास्त्रसमाप्ति आदिकी अभि-

---

१. यहां लोकसेनको गुणभद्रका बडा धर्मभ्राता निर्दिष्ट किया गया है। परन्तु वह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। कारण इसका यह है कि उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें— जहांसे उसे स्वयं लोकसेन प्रारम्भ करते हैं—यह स्पष्ट बतलाया गया है कि लोकसेन उन गुणभद्राचार्यके मुख्य शिष्य थे, बृहत् धर्मभ्राता नही। साथ ही वहां जो उनके लिये 'अविकलवृत्तः' और 'मुनीशः' विशेषण दिये गये हैं उससे उनकी बुद्धि विषयोंमें व्यामुग्ध थी, वह भी सदेहास्पद ही दिखता है। प्रशस्तिका वह श्लोक निम्न प्रकार है—

> विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः
> कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।
> सततमिह पुराणे प्राथ्यं साहाय्यमुच्चै-
> र्गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः॥ २८॥

लापासे इष्ट देवके नमस्कारमें उद्यत बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त 'निर्विघ्नत. शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वाणो (नमस्कुर्वन्)' इतना वाक्यांश तो तीनोमें ही शब्दश. समान है।

उक्त तीनो टीकाओके अन्तमें जो पद्य पाये जाते है वे इस प्रकार है--

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपु. सद्ध्यानत· कीर्तित: ।
जीयात् सोऽत्र जिनः समस्तविषय. श्रीपूज्यपादोऽमलो
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दु प्रभु. ॥ समाधि.

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभि. प्रकटित. सागारमार्गोऽखिल: ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः ससृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिप. श्रीमान् प्रभेन्दुर्जिनः ॥ रत्नकरण्ड

मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदय निर्मलं
भव्यार्थं परमं प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तै. प्रसन्नै पदै. ।
व्याख्यानं(त) वरमात्मशासनमिद व्यामोहविच्छेदत.
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यलं चिन्त्यताम् ॥ आत्मानुशासन

इन तीनो पद्योमें टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र 'प्रभेन्दु' पदसे अपना नामनिर्देश किया है। तीनोंका ही छन्द शार्दूलविक्रीडित है।

## टीकाकारका समय

इस प्रकार उक्त तीनों टीकाओंके इस स्वाभाविक सादृश्यको देखते हुए ये तीनों टीकायें एक ही व्यक्तिके द्वारा रची गई हैं, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं रहता। अब, उनके रचयिता कौन-से प्रभाचन्द्र है और ये कब हुए हैं, इसका निर्णय करनेके लिये जब हम उन टीकाओंका अन्तःपरीक्षण करते हैं तो हमें वहां सोमदेव सूरि द्वारा विरचित यशस्तिलकके अनेक पद्य देखनेको मिलते हैं। जैसे–

आत्मानुशासन श्लोक ९ की टीकामें 'सर्वदोषरहितः' का स्पष्टीकरण करते हुए वहां टीकामें निम्न श्लोक उद्धृत किये गये है—

'विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा. ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषा. साधारणा इमे ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।

ये श्लोक यशस्तिलकचम्पू (उत्तरार्ध) पृ. २७४ पर पाये जाते हैं।

इसी प्रकार श्लोक १० की टीकामें 'मूढत्रयं मदा वाष्टौ' आदि, श्लोक २६५ की टीकामें 'दिश न काचिद् विदिश न काचित्[२]' आदि तथा श्लोक २६६ की टीकामें 'अकर्ता निर्गुण शुद्धः' आदि जो श्लोक उद्धृत किये गये है वे भी उस यशस्तिलक (उत्तर खण्ड) में क्रमशः ३२४, २७० और २५२ पर पाये जाते है।

इसी प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी श्लोक ४-२३ की टीकामें जो 'श्रद्धा तुष्टिर्भक्ति–' आदि श्लोक उद्धृत किया गया है वह यशस्तिलक (उ. खण्ड) मे पृ. ४०४ पर पाया जाता है[३]।

सोमदेव सूरिके द्वारा विरचित यह यशस्तिलक शक संवत् ८८१ मे बनकर समाप्त हुआ है[४]। इससे इतना तो निश्चित हो जाता है उक्त

१. इसके पूर्वमें जो यहां 'क्षुधा तृषा भयं दोषो' आदि श्लोक उद्धृत है वह यशस्तिलकमें 'क्षुत्-पिपासा भयं द्वेषश्चिन्तनं' आदिके रूपमें कुछ भिन्न उपलब्ध होता है।

२. ये श्लोक सौंदरनन्द काव्य (१६, २८-२९) में इस रूपमें पाये जाते है। दीपो तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥ एवं कृति निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

३. वहां 'सत्य' के स्थानमें 'शक्तिः' और 'यस्यैते' के स्थानमें 'यत्रैते' मात्र पाठभेद पाया जाता है।

४. शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेवाशीत्याधिकेषु (अङ्कतः ८८१ सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमास—मदनत्रयोदश्यां.... दि निर्मापितामिदं काव्यमिति। यशस्तिलक (उ. खण्ड) पृ. ४१९.

तीनों ग्रंथोंके टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र शं. सं. ८८१ (८८१+१३५ = वि. स. १०१६) के वाद किसी समयमें हुए है।

उन्होंने रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ४–१८ की टीकामें निम्न दो श्लोक उद्धृत किये है–

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपंगुवैः ॥

ये दोनो श्लोक पद्मनन्दिपञ्चविंशति (६, ४३–४४) के है। इसके रचयिता श्री मुनि पद्मनन्दि पं. आशाधरजीके पूर्वमें हो गये हैं। कारण यह कि. प. आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतमे 'आचेलक्यौद्देशिक' आदि श्लोक (९–८०) की स्वोपज्ञ टीकामे 'अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमधिजगे' लिखकर पद्मनन्दि–पञ्चविंशतिका' म्लाने क्षालनतः कुत. आदि श्लोक (१-४१) उद्धृत किया है[१]। यह टीका उन्होने वि. स. १३०० मे समाप्त की है[२]। इससे यह निःसन्देह कहा जा·सकता है कि श्री पद्मनन्दि मुनि पं. आशाधारजीके पूर्ववर्ती विद्वान् है। श्रद्धेय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने मुनि पद्मनन्दीको जिन शुभचन्द्राचार्यका शिष्य वतलाया है उनका

---

१. इसके अतिरिक्त विना नामोल्लेखके तो उन्होने पद्मनन्दिपञ्चविंशतिके कितने ही श्लोकोंको इस अनगारधर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीकामे उद्धृत किया है। यथा–८–२१ की टीकामें 'यज्जानन्नपि' आदि (प. १०-१), ८-२३ की टीकामें 'मुक्त इत्यपि' आदि (प. १०–१८), 'यत्रवेव' आदि (प. १०-१६) तथा 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः' आदि (प. १०-४४), ९–९३ की टीकामें 'यावन्मे स्थितभोजने' आदि (प. १-४३) और ९-९७ की टीकामें 'काकिण्या अपि संग्रहो' आदि (प. १-४२) इत्यादि। इसी प्रकार इष्टोपदेश श्लोक ३५ की टीकामें 'वज्रे पतत्यपि' आदि (प. १-६३) श्लोकको उद्धृत किया है।

२. नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ अ. ध. प्रशस्ति ३१.

देहावसान शक सं. १०४५ (वि स ११८०) मे हुआ है[1]। इससे श्री पद्मनन्दी मुनी १२ वी शताब्दीके उत्तरार्धवर्ती विद्वान् प्रतीत होते है। अब चूंकि प्रभाचद्रने रत्नकरण्डकी टीकामे उक्त मुनि पद्मनदीके उपर्युक्त दो श्लोकोको उद्धृत किया है, अत एव वे पद्मनंदीके भी उत्तरकालीन विद्वान् सिद्ध होते है।

इस उत्तरकालीन अवधिका विचार करते हुए हमे उपर्युक्त प. आशाधरजीकी अनगारधर्मामृतकी टीकामे ही इन प्रभाचन्द्रका स्पष्टतया नामनिर्देश उपलब्ध होता है। यथा–

यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेदुपादा रत्नकरण्डकटीकाया चतुरावर्तत्रितय इत्यादिसूत्रे द्विनिषद्य इत्यस्य व्याख्याने–देववन्दना कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणाम. कर्तव्य इति[2]।

इस उल्लेखसे ऐसा प्रतीत होता है कि समाधिशतक, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार और आत्मानुशासन इन तीनो ग्रथोंके ऊपर टीका लिखनेवाले वे प्रभाचन्द्र प. आशाधरजीके समसमयवर्ती रहे है। कारण कि हम यह ऊपर लिख ही चुके है कि उक्त अनगार धर्मामृतकी टीका वि. सं. १३०० में बनकर समाप्त हुई है।

जैनसिद्धान्त भास्करकी चतुर्थ किरणमें प्रकाशित शुभचन्द्रकी गुर्वावलीके आधारसे जैसा कि मुख्तार सा ने लिखा है, ये प्रभाचन्द्र उन शुभकीर्तिके पट्टशिष्य थे जो वनवासी आम्नायके थे तथा वे (प्रभाचन्द्र) विक्रमकी १३ वी और १४ वी शताब्दीके विद्वान् थे[3]। इस गुर्वावलीके एक पद्यसे[4] ज्ञात होता है कि पूज्यपादके शास्त्र (समाधिशतक) की

१. देखिये सटीक रत्नकरण्डकी प्रस्तावना पृ. ७५

२. देखिये अनगारधर्मामृतकी टीका श्लोक ८–९३ तथा रत्नकरण्ड-श्रावकाचार टीका श्लोक ५–१८.

३. र. श्रा की प्रस्तावना पृ. ६३–६५,

४. पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपसः पूज्यपादीयशास्त्र–
व्याख्याविख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचञ्चुः।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंबाधिवादो
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः॥

व्याख्या करनेसे–उसके ऊपर टीका रचनेसे– इन प्रभाचन्द्रकी कीर्तिका विस्तार हुआ था। उन शुभकीर्तिके एक दूसरे भी धर्मभूषण नामके शिष्य थे। उपर्युक्त जैन सिद्धान्तभास्करकी चतुर्थ किरणमें प्रकाशित नन्दिसघकी पट्टावलीके आचार्योकी नामावलीमे प्रभाचन्द्रके पट्टारोहणका सम्भावना नही है, क्योकि, कारंजाके बलात्कारगण मंदिरमें जो शास्त्र-भण्डार है, उसमे उपर्युक्त प्रभाचन्द्रके द्वारा विरचित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी टीकाकी एक प्रति वि. सं. १४१५ की मौजूद है[१]।

कितने ही विद्वान् यह समझते है कि रत्नकरण्डश्रावकाचारके ऊपर टीका लिखनेवाले प्रभाचन्द्र वे ही प्रभाचन्द्र है कि जिन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे टीकाग्रन्थोको रचा है। इसके लिये वे यह हेतु देते है कि उन्होने उक्त ग्रन्थके 'क्षुत्पिपासा' आदि श्लोककी टीकामें केवलीके कवलाहरका खण्डन करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमे उक्त विषयका विशेष प्ररूपणा करनेका निम्न प्रकारसे निर्देश किया है–

तदलमतिप्रसगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपञ्चत. प्ररूपणात्।

परन्तु इस वाक्यके द्वारा वहां केवल यह भाव दिखलाया गया है कि इस विषयका विशेष विवरण उक्त दोनों ग्रन्थोंमे किया गया है, अतः विशेष जिज्ञासुओको उसे वहा देखना चाहिये। उक्त वाक्यमे ऐसा कोई पद ('मया' या 'अस्माभिः' आदि) नही है जिससे कि यह निश्चय किया जा सके कि वह प्ररूपणा वहा इन्ही प्रभाचन्द्रने की है।

इसके अतिरिक्त आत्मानुशासनमे कुछ श्लोक (१७१–७४, २६५–६६) ऐसे आये है कि जिनके ऊपर टीका करते हुए तर्कणाकी शैलीसे बहुत कुछ लिखा जा सकता था। परतु वहां विशेष कुछ भी

---

१. र. श्रा. की प्रस्तावना पृ. ६३–६५.

२. र. श्रा. की प्रस्तावना पृ. ६७.

नही लिखा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि किसी किसी श्लोकका तो पूरा अर्थ भी स्पष्ट नही हुआ है (देखिये श्लोक १७१)। प्रभाचन्द्र जैसे उच्च कोटिके तार्किक विद्वान्से यह सम्भावना नही की जाती कि उनके सामने 'तदेव तदतद्रूपं, एकमेकक्षणे सिद्ध ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम्, न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात्, गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते' जैसे विशेष वर्णनीय विषयके रहते हुए भी वे उसके ऊपर विशेष कुछ भी न लिखे। इन विषयोंकी प्ररूपणा उन्होंने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचंन्द्र ग्रन्थोंमे प्रकरणके अनुसार विस्तारसे की हैं।

आत्मानुशासन श्लोक २६५ की टीकामे यह श्लोक उद्धृत किया गया है–

दिश न काञ्चिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

यही श्लोक प्रमेयकमलमार्तण्ड (६–७४) में इस रूपमें उद्धृत किया गया है–

दीपो तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिश न काचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

यह श्लोक सौन्दरनन्द काव्यमे इसी स्वरूपमें पाया जाता है। इसके साथ ही प्रमेयकमलमार्तण्डमे 'जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो' आदि दूसरा श्लोक भी उद्धृत किया गया है जो इस श्लोकसे सम्बन्ध रखता है।

एक ही लेखक किसी अन्य ग्रन्थकारके वाक्यको एक स्थानपर एक रूपमे और दूसरे स्थानमे अन्य स्वरूपसे उद्धृत करे, यह सम्भव नही है। जहांतक मैं समझता हूं, ये दोनो श्लोक यशस्तिलक (उ. खण्ड पृ. २७०) मे 'दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्' आदिके रूपमें उद्धृत किये गये है। वहांसे ही सम्भवतः आत्मानुशासनके टीकाकार उन प्रभाचन्द्रने उक्त श्लोकको आत्मानुशासनकी टीकामे उद्धृत किया है। इससे इन दोनो प्रभाचन्दोमे भिन्नता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिकी रचनाशैली और इन टीकाओकी रचनाशैलीको जब हम तुलनात्मक दृष्टिसे देखते है तो हमे उन दोनोमे स्पष्ट भेद भी दिखाई देता है। इससे हम तो इसी निष्कर्षपर पहुचते है कि समाधिशतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार और आत्मानुशासन इन तीनो ग्रन्थोपर टीका लिखनेवाले प्रभाचन्द्र उन प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्रसे भिन्न है, तथा उनका रचनाकाल विक्रमकी १३ वी शतीका अन्तिम भाग अनुमान किया जाता है।

## अन्य टीकायें

इस सस्कृत टीकाके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थके ऊपर अन्य निम्न टीकाये भी उपलब्ध है–

१. गोम्मटसार आदि अनेक ग्रन्थोके ऊपर ढूढारी हिन्दी भाषामें विद्वत्तापूर्ण टीका लिखनेवाले तथा मोक्षमार्गप्रकाशकके मूल लेखक सुप्रसिद्ध प. टोडरमलजीके द्वारा एक विस्तृत हिन्दी टीका आत्मानु-शासनपर भी लिखी गई है जो प्रकाशित भी हो चुकि है। इस टीकामे प्रथमत. उन्होने मूल श्लोकके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है और तत्पश्चात् प्रत्येक श्लोकके ऊपर भावार्थ लिखकर उसके अभिप्रायको स्पष्ट किया है। मूल ग्रन्थमे जहा अन्य वैदिक आदि ग्रन्थोके उदाहरण दिये गये है वहा उन्होने उनके सम्बधमे या तो कुछ लिखा ही नही है या कुछ काल्पनिक ही लिखा हैं। यथा–

'नेता यत्र बृहस्पतिः' आदि श्लोक (३२) की टीकामें 'अनुग्रहः खलु हरे.' का अर्थ 'विष्णुका अनुग्रह' न करके यह अर्थ किया है–और हरि जो ईश्वरताका अनुग्रह सहाय। साथ ही भावार्थमे यह लिख दिया है– तहा वैष्णव मत अपेक्षा उदाहरण कह्या, देवतानिका इन्द्र बलवान् है सो तौ भी दैत्यनिकरि सग्रामविषै हार्या। अथवा याहीका जैनमत अपेक्षा अर्थ कीजिये तो इन्द्रनामा विद्याधर भया, याने मंत्री आदिकका बृहस्पति आदि नाम धर्या है सो बहुत पुरुषार्थकरि सयुक्त भया, सो भी रावणकरि हार्या।

'चित्तस्थमप्यनवबुध्य हरेण जाडचात्' आदि श्लोक (२१६) का अर्थ इस प्रकार लिखा है– देखौ काम तौ चित्तविषै हुता, बाह्य ण हुता, अर काहूनै क्रोधकरि काम जानि कोउ बाह्य पदार्थ भस्म किया, सो काम न हुवा। कामके योगतै सराग अवस्थाकूं प्राप्त भया। कामकी करी घोर वेदना सही। इस अर्थमें उन्होने 'हरेण' का अर्थ सीधा महादेव न करके 'काहूनै' के रूपमे किया है तथा भावार्थमें भी इसी शब्दका उपयोग किया है।

'यशो मारीचीय' आदि श्लोक (२२०) के अर्थमे उन्होने 'स कृष्ण.कृष्णोऽभूत्कपटबटुवेषेण नितराम्' इस तृतीय चरणका अर्थ सर्वथा छोड दिया है। भावार्थमें भी उन्होंने केवल इतना ही लिखा है– मायाचार महादुराचार है। मारीच मत्री लघुताकौ प्राप्त भया, राजा युधिष्ठिर सरिखा 'अश्वत्थामा हतः' या वचन कहिवेकरि लज्याकौ प्राप्त भये। यहा इतना स्मरण रखना चाहिये कि पं टोडरमलजी अपनी पद्धतिके अनुसार यथासम्भव प्रत्येक श्लोकके भावको पूर्णतया स्पष्ट करते है। परन्तु यहा वह स्पष्ट नही किया गया है। इसका कारण इनकी उन कथानकोसे असहमतिके अतिरिक्त अन्य कोई नही प्रतीत होता। मारीचकी कथाका वह प्रसग श्री रविषेणाचार्यविरचित पद्मपुराणसे सर्वथा भिन्न है।

ऐसे कुछ स्थलोको छोडकर अन्य सर्वत्र यह टीका ग्रन्थके भावको हृदयंगम करनेमे पर्याप्त सहायता करती है।

२ दूसरी टीका शोलापूरके प्रसिद्ध विद्वान् स्व. पं. बशीधरजी शास्त्रीके द्वारा लिखी गई है। यहा टीका प्रायः भावप्रधान व कुछ विस्तृत भी है। परन्तु उससे मूल ग्रन्थका शाब्दिक अर्थ शीघ्रतासे अवगत नही होता। यह टीका जैन ग्रन्थरत्नाकर बम्बईसे प्रकाशित (फरवरी १९१६) हो चुकी है। लिखते समय इस टीकाकी पुस्तक न रहनेसे उसके सम्बन्धमें विशेष नही लिखा जा सका है।

३. उपर्युक्त दो हिन्दी टीकाओके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थपर एक मराठी टीका भी उपलब्ध है। यह टीका स्थानीय जैन संस्कृति सरक्षक

संघके– जिसके द्वारा यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा हैं– संस्थापक स्व. ब्र. जीवराज गौतमचन्द्रजी दोशीके द्वारा पं. टोडरमल जी की टीकाके आधारसे लिखी गई है और वह प्रकाशित ( वीर नि. स. २४३५ ) भी हो चुकी है।

प टोडरमलजी की टीकाके समान इस टीकामे भी श्लोक ३२ के 'अनुग्रह खलु हरे.' का अर्थ 'व ज्यास हरि म्हणजे परमेश्वराचा अनुग्रह म्हणजे सहाय' किया गया है तथा भावार्थमें यह सूचित कर दिया है– 'या ठिकाणी वैष्णव मताच्या अपेक्षेने दृष्टात सागितला आहे की सर्व देवामध्ये इन्द्र हा वलवान् आहे त्याच्या युद्धात दैत्यानी पराभव केला. तेव्हा दैवापुढे कोणाचा इलाज नाही। आता याच श्लोकाचा आमच्या आम्नायाप्रमाणे अर्थ केला तर इन्द्र हे नाव विद्याधरालाहि आहे त्या विद्याधराने आपल्या मन्त्र्याचे नाव बृहस्पति वगैरे ठेवले होते व तो अतिशय पराक्रमी होता. परंतु रावणाने त्याचा पराजय केला." यह पं. टोडरमलजी के भावार्थका ही प्राय: अनुवाद है।

श्लोक २१६ की टीकामे यहा 'हरेण' का अर्थ 'शंकराने' ही किया है। परन्तु नीचे टिप्पणमें यह सूचना अवश्य कर दी है– या ठिकाणी गुणभद्र स्वामीनी वैष्णवमताचा दृष्टांत घेऊन क्रोध अकल्याण–कारी आहे असे सिद्ध केले आहे. म्हणून कोणी शंका घेण्याचे कारण नाही. कारण कवीचा अभिप्राय आपले प्रयोजन सिद्ध करण्याकडे असल्यामुळे असा दृष्टात दिला आहे. यात फक्त क्रोधाने कशी हानि होते एवढचावरच दृष्टि ठेवावी.

श्लोक २२० की टीकामें यहा भी पं. टोडरमलजी की टीकाके समान 'स कृष्ण. कृष्णोऽभूत् कपटवटुवेषेण नितराम्' का अर्थ छोड दिया गया व भावार्थ भी लगभग वैसा ही लिखा गया है।

इस प्रकार यह टीका प. टोडरमलजी की टीकाका प्राय: मराठी अनुवाद मात्र है।

# विषय–परिचय

## अभीष्ट प्रयोजन

ससारके सब ही प्राणी चूंकि दु.खसे डरते है और सुखकी अभिलाषा करते है, इसीलिये इस आत्मानुशासन ग्रन्थके द्वारा उन्हे उक्त प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये आत्मस्वरूपकी शिक्षा दी गई है (श्लोक २)। इसमें आचार्य गुणभद्रने सर्वप्रथम यह निर्देश कर दिया है कि यहां जो उपदेश दिया जावेगा वह यद्यपि सुननेके समय कटु लग सकता है, परन्तु वह परिणाममें कड़वी औषधीके समान हितकर ही होगा। इसलिये सुखाभिलाषी भव्य जीवोंको उससे भयभीत नही होना चाहिये (३)। यह है भी ठीक, क्योकि, 'हितं मनोहरि च दुर्लभं वच.' इस प्रसिद्ध नीतिके अनुसार जो हितोपदेश होते है उनके वचन प्राय· श्रोता जनोको मनोहर नही प्रतित होते है। और इसके विपरीत जिनके वचनोंमे मधुरता दिखती है वे प्राय: हितोपदेशक नही होते है। अतएव ग्रन्थके प्रारम्भमें उसके कर्ता द्वारा श्रोता जनोंको उक्त प्रकारसे सावधान कर देना उचित ही है। आगे वे उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट कर देते है, जिस प्रकार जलसे रिक्त होकर गर्जना करनेवाले बादल बहुत, किन्तु उक्त जलसे परिपूर्ण होकर वर्षा करनेवाले वे बहुत ही थोडे देखे जाते हैं, उसी प्रकार निरर्थक या कुटिलतापूर्वक बकवाद करनेवाले चापलूस मनुष्य तो बहुत संख्यामे उपलब्ध होते हैं, किन्तु जगत्‌का कल्याण करनेवाले यथार्थ वक्ता बहुत ही अल्प मात्रामे उपलब्ध होते है (४)।

आगे चलकर वक्ता और श्रोता इन दोनोके ही कुछ आवश्यक गुणोंका उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि जब यह भली भाँति प्रसिद्ध है कि पापसे प्राणीको दु ख और धर्मसे सुख प्राप्त होता है तब सुखाभिलाषी मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह उस दुख.दायक पापको छोडकर सुखप्रद धर्मका ही आचरण करे (८)। स्वामी समन्तभद्राचार्यने धर्मका यही स्वरूप बतलाया है कि जो ज्ञानावरणादि कर्मोंको निर्मूल करता हुआ प्राणियोको जन्म-मरणादिरूप ससारके महान् दु खसे छुडाकर उन्हे निराकुल एव निर्बाध शाश्वतिक सुखको प्राप्त करा देता है वही

वास्तवमें धर्म कहा जाता है[1]। कारण यह कि वस्तुस्वभावका नाम धर्म है। सो यहां अन्य वस्तुओकी विवक्षा न होकर एक मात्र आत्मा अपेक्षित है। अतएव उसके स्वभावभूत जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रय है उसे धर्म समझना चाहिये। यही मोक्षका मार्ग है। इसके विपरीत जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है वे अधर्म होनेसे मोक्षके मार्ग न होकर ससारके ही कारण होते है[2]।

## सुख-दुःखविवेक

अव यहा हमे यह विचार करना चाहिये कि वास्तविक सुख क्या है और वास्तविक दुःख क्या है। सातावेदनीय कर्मके उदयसे प्राणीको कुछ कालके लिये जो सुखका अनुभव होता है वह यथार्थमे सुख नही है, किंतु सुखका आभास है। कारण यह है कि इन्द्रियविषयोसे जो प्राणीको सुख प्राप्त होता है वह विजलीके प्रकाशके समान विनश्वर होकर उत्तरोत्तर उस विषयतृष्णाको ही वढाता है जो कि एक महाव्याधिरूप हैं। यह विषयतृष्णा प्राणीको निरतर सतप्त करती है। इसलिये वह उस सन्तापको दूर करनेके लिये उन उन अभीष्ट विषयोकी प्राप्तिमे लगकर घोर परिश्रम करता है व स्वय दुःखी होता है[3]। श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी इस इन्द्रियजन्य विषयसुखको दुःख ही वतलाते हैं। वे कहते है कि इन्द्रियोसे जो सुख उपलब्ध होता है वह पर द्रव्योकी अपेक्षा रखनेके कारण पराधीन, भूख-प्यास आदिकी अनेक वाधाओसे सहित, प्रतिपक्षभूत असातावेदनीय आदिके उदयसे संयुक्त होनेसे विनश्वर, भोगकाक्षा आदिके दुर्ध्यानसे पापका वन्धक, तथा अतृप्तिका

---

१. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ र. श्रा. २.

२. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ र. श्रा. ३-

३. शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ स्व. स्तो. ३, ३.

कारण अथवा हानि–वृद्धिसे सहित होनेके कारण विषम हैं[1]। स्वामी समन्तभद्र भी निष्काक्षित अगके लक्षणमे कहते है कि वह विषयजन्य सुख प्रथम तो कर्माधीन है– जब सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मोंका उदय होगा तब ही वह उपलब्ध हो सकता है, न कि अन्यथा। दूसरे कर्माधीन होकर भी वह स्थिर रह सकता हो, सो भी नही है– वह नियमसे नष्ट होनेवाला है। तीसरे, उसकी उत्पत्ति दु खोसे अन्तरित है– बीच बीचमें अनेक दुःख भी अवश्य प्राप्त होनेवाले हैं। कारण कि सुख और दु.खका यह क्रम चक्रके समान निरतर चालू रहता है। कहा भी है–

सुखस्यानन्तर दु.ख दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
द्वयमेतद्धि जन्तूनामलघ्य दिन–रात्रिवत्॥

अर्थात् जिस प्रकार दिनके बाद रात और फिर रातके बाद दिनका प्रादुर्भाव नियमसे हुआ करता है उसी प्रकार सुखके बाद दु ख और फिर दु.खके बाद सुख भी नियमसे उत्पन्न होता ही रहता है। इस प्रकृतिके नियमका कभी उल्लघन नही होता हे। इसके अतिरिक्त वह ससारकी परपराके बढानेवाले पापबन्धका भी कारण है। अत एव ऐसे विनश्वर सुखमें नित्यत्वके दुरभिनिवेशको छोडकर उसकी अभिलाषा न करना यह सम्यग्दर्शनका निष्काक्षित अग माना गया है[2]।

भगवान् कुंथुनाथ जिनेद्र तीर्थंकर तो थे ही, साथ ही वे चक्रवर्ती भी थे। उनके पास विषय–भोगोकी कमी नही थी। फिर भी उन्होंने जन्म, जरा एव मरणके दुःखसे छुटकारा पानेके लिये–निराकुल एवं निर्बाध स्वाधीन सुख (मोक्षसुख) की प्राप्तिकी इच्छासे - उस अपरिमित विभूतिको छोडकर दैगम्बरी दीक्षा ही स्वीकार की थी। उनकी स्तुतिमें स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते है कि विषयतृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें

---

१. सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा॥ प्र. सा. १, ७६.

२. कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता॥ र. श्रा. १२.

प्राणिको निरन्तर जला रही हैं। उनकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रियविषयोकी विभूतिसे सम्भव नही है, उससे तो वे उत्तरोत्तर वृद्धिको ही प्राप्त होनेवाली है, क्योकि, ऐसी स्थिति है– जैसे जैसे वे विषयभोग प्राप्त होते जाते हैं वैसे ही वे से प्राकीकी तद्विपयक इच्छा भी, घीकी आहूतियोसे अग्निके समान, उत्तरोत्तर वढती जाती है। उक्त इन्द्रियविपय कुछ समयके लिये केवल शरीरके संतापको ही दूर कर सकते हैं– वे उन तृष्णाज्वालाओको कभी शान्त नही कर सकते हैं। इसी कारण है जितेन्द्रिय कुन्थुजिनेन्द्र! आप उस विषयजनित सुखसे विमुख हुए हैं– आपने उस स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेके लिये चक्रवर्तिके विभूतिको भी तुच्छ तृणके समान छोड दिया है[1]।

उक्त सुख-दु खका विवेक न होनेसे प्राणीमात्रके चाहनेपर भी वह सुख सवको नही प्राप्त हो पाता। इसके लिये यह वतलाया है कि जिस समीचीन सुखको सव ही शीघ्रतासे प्राप्त करना चाहते है वह सव कर्मोका–द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका-क्षय हो जानेपर उपलब्ध होता है। और वह सव कर्मोका क्षय जिस सम्यक्चारित्रके ऊपर निर्भर है वह सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी है। यह सम्यग्ज्ञान रागादि समस्त दोषोसे रहित हुए आप्तके द्वारा प्ररूपित परमागमके सुननेसे प्राप्त होता है। अतएव परम्परासे उस सुखका मूल कारण जो आप्त है उसका ही युक्तिपूर्वक विचार करके आश्रय लेना चाहिये– उसका ही आराधन करना चाहिये (९)[2]।

## सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके भेदसे आराधना

---

१. तृष्णार्चिषःपरिवहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैःपरिवृद्धिरेव। स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्
स्व. स्तो. १७, २.

२. इसी आशयका एक पुरातन पद्य श्री आचार्य विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकके प्रारम्भमें भी उद्धृत किया है---
अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य
चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥
श्लो. वा. पृ. २.

कारण अथवा हानि-वृद्धिसे सहित होनेके कारण विषम है[1]। स्वामी समन्तभद्र भी निष्काक्षित अंगके लक्षणमे कहते है कि वह विषयजन्य सुख प्रथम तो कर्माधीन है- जब सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मोंका उदय होगा तब ही वह उपलब्ध हो सकता है, न कि अन्यथा। दूसरे कर्माधीन होकर भी वह स्थिर रह सकता हो, सो भी नही है- वह नियमसे नष्ट होनेवाला है। तीसरे, उसकी उत्पत्ति दु:खोसे अन्तरित है- बीच बीचमें अनेक दु.ख भी अवश्य प्राप्त होनेवाले हैं। कारण कि सुख और दु.खका यह क्रम चक्रके समान निरतर चालू रहता है। कहा भी है-

सुखस्यानन्तरं दु·ख दु.खस्यानन्तरं सुखम् ।
द्वयमेतद्धि जन्तूनामलघ्यं दिन-रात्रिवत् ॥

अर्थात् जिस प्रकार दिनके बाद रात और फिर रातके बाद दिनका प्रादुर्भाव नियमसे हुआ करता है उसी प्रकार सुखके बाद दु.ख और फिर दु खके बाद सुख भी नियमसे उत्पन्न होता ही रहता है। इस प्रकृतिके नियमका कभी उल्लघन नही होता हे। इसके अतिरिक्त वह संसारकी परपराके बढानेवाले पापबन्धका भी कारण है। अत एव ऐसे विनश्वर सुखमें नित्यत्वके दुरभिनिवेशको छोडकर उसकी अभिलाषा न करना यह सम्यग्दर्शनका निष्कांक्षित अंग माना गया है[2]।

भगवान् कुथुनाथ जिनेद्र तीर्थंकर तो थे ही, साथ ही वे चक्रवर्ती भी थे। उनके पास विषय-भोगोकी कमी नही थी। फिर भी उन्होंने जन्म, जरा एवं मरणके दु:खसे छुटकारा पानेके लिये-निराकुल एवं निर्बाध स्वाधीन सुख (मोक्षसुख) की प्राप्तिकी इच्छासे-उस अपरिमित विभूतिको छोडकर दैगम्बरी दीक्षा ही स्वीकार की थी। उनकी स्तुतिमे स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते है कि विषयतृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें

---

१. सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥ प्र. सा. १, ७६.

२ कर्मपरवशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता ॥ र. श्रा. १२.

प्राणिको निरन्तर जला रही है। उनकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रियविषयोकी विभूतिसे सम्भव नही है, उससे तो वे उत्तरोत्तर वृद्धिको ही प्राप्त होनेवाली है; क्योकि, ऐसी स्थिति है– जैसे जैसे वे विषयभोग प्राप्त होते जाते है वैसे ही वे से प्राकीकी तद्विषयक इच्छा भी, घीकी आहूतियोसे अग्निके समान, उत्तरोत्तर बढती जाती है। उक्त इन्द्रियविषय कुछ समयके लिये केवल शरीरके सतापको ही दूर कर सकते हैं– वे उन तृष्णाज्वालाओको कभी शान्त नही कर सकते हैं। इसी कारण है ज़ितेन्द्रिय कुन्थुजिनेन्द्र ! आप उस विषयजनित सुखसे विमुख हुए है– आपने उस स्वाधीन सुखको प्राप्त करनेके लिये चक्रवर्तिके विभूतिको भी तुच्छ तृणके समान छोड दिया है[१]।

उक्त सुख-दु खका विवेक न होनेसे प्राणीमात्रके चाहनेपर भी वह सुख सबको नही प्राप्त हो पाता। इसके लिये यह बतलाया है कि जिस समीचीन सुखको सब ही शीघ्रतासे प्राप्त करना चाहते हैं वह सब कर्मोका–द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका-क्षय हो जानेपर उपलब्ध होता है। और वह सब कर्मोका क्षय जिस सम्यक्चारित्रके ऊपर निर्भर है वह सम्यग्ज्ञानका अविनाभावी है। यह सम्यग्ज्ञान रागादि समस्त दोषोसे रहित हुए आप्तके द्वारा प्ररूपित परमागमके सुननेसे प्राप्त होता है। अतएव परम्परासे उस सुखका मूल कारण जो आप्त है उसका ही युक्तिपूर्वक विचार करके आश्रय लेना चाहिये– उसका ही आराधन करना चाहिये (९)[२]।

## सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके भेदसे आराधना

---

१. तृष्णार्चिषःपरिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैःपरिवृद्धिरेव। स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङमुखोऽभूत्
स्व. स्तो. १७, २.

२. इसी आशयका एक पुरातन पद्य श्री आचार्य विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकके प्रारम्भमें भी उद्धृत किया है––
अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥
श्लो. वा. पृ. २.

चार प्रकारकी है। प्रकृत ग्रन्थमें प्रकारान्तरसे इन चारों आराधनाओंका विवेचन किया गया है। उनमें प्रथम आराधनारूप सम्यग्दर्शनका विवेचन करते हुए उसे अचल-प्रासाद (मोक्ष-महल) के ऊपर चढनेवाले भव्य जीवोके लिये प्रथम पायरी (सीढी) के समान वतलाया गया है। सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थोंके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिमगज अथवा सराग और वीतरागके भेदसे दो प्रकारका औपशमिकादिके भेदसे तीन प्रकारका तथा आज्ञासम्यक्त्व आदिके भेदसे दस प्रकारका भी माना गया है। जबतक यह सम्यग्दर्शन प्रकट नही होता है तवतक मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान सम्यक्पनेको प्राप्त नही होते– वे मिथ्यारूप ही रहते है। किन्तु जैसे ही प्राणीके वह सम्यग्दर्शन प्रादुर्भूत होता है वैसे ही उक्त तीनो ज्ञान सम्यग्रूपताको प्राप्त कर लेते है। वह मूढता आदि पच्चीस दोषोसे रहित तथा संवेग आदि[1] गुणोंसे वृद्धिगत होना चाहिये (१०)।

इस सम्यग्दर्शनका स्वरूप ग्रन्थान्तरोंमें विभिन्न प्रकारसे पाया जाता है यथा– श्री कुन्दकुन्दाचार्यने दर्शनप्राभृतमें छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाच अस्तिकाय और सात तत्त्वोके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन वतलाया है[2]। आगे इसी ग्रन्थमें उन्होने जिनेन्द्ररूपित जीवादि तत्त्वोके श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन और आत्मा (आत्मनिश्चय) को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है[3]। वे ही मोक्षप्राभृतमें कहते हैं कि हिंसासे रहित धर्म, अठारह दोषोसे रहित देव, निर्ग्रन्थ गुरु और प्रवचन (आगम) के विषयमे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्दर्शन है[4]।

---

१. संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥ वसु श्रा. ४९.

२. छद्दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ द. प्रा. १९.

३. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥ द प्रा. २०.

४. हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे हसद्दहण होइ सम्मत्तं ॥ मो प्रा. ९०.

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता भगवान् उमास्वामीने तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है। स्वामी समन्तभद्रने परमार्थ आप्त, आगम और तपस्वीके तीन मूढता व आठ मदोसे रहित तथा आठ अगोसे सहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है[1]। इसी प्रकार अमृतचन्द्राचार्यने भी जीवाजीवादि तत्त्वार्थोके विपरीत अभिप्रायसे रहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहकर उसे आत्माका स्वरूप बतलाया है[2]। पंचाध्यायीकार कहते है कि इस प्रकार जो तत्त्वका ज्ञाता होकर स्वकीय आत्माको देखता है वह सम्यग्दृष्टि है और वह विषयजन्य सुख तथा ज्ञानके विषयमें राग-द्वेषको छोड देता है[3]।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके उपर्युक्त लक्षणोंमे भेदके दिखनेपर भी अभिप्राय सबका एक ही है। इन लक्षणोमे जो आप्त, आगम और गुरु अथवा जीवादि तत्त्वोके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उसे सम्यग्दर्शन न समझकर उसका कारण समझना चाहिये। पंचाध्यायीकार कहते है कि श्रद्धा, रुचि प्रतीति आदि ये सम्यग्दृष्टिके बाह्य लक्षण है, किन्तु वे स्वय सम्यक्त्व नही है, क्योकि वे सब ज्ञानकी पर्यायें हैं। यहां तक कि वे तो स्वानुभूतिको भी उस सम्यक्त्वका बाह्य ही लक्षण मानते है क्योकि, वह स्वानुभूति भी तो ज्ञानकी पर्याय होनेसे ज्ञानके ही अन्तर्गत है[4]। हा, यह अवश्य है कि यदि उक्त श्रद्धा आदि स्वानुभूतिसे संयुक्त है तब तो वे गुण हो सकते हैं, अन्यथा गुण न होकर वे

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ र. श्रा. ४.

२. जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ पुरु. २२.

३. इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत् ॥ पंचाध्यायी २-३७१.

४. श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥
अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेत् बाह्यलक्षणम् ॥
पंचाध्यायी २, ३८६-८७.

गुणाभास ही रहेंगे। अभिप्राय यह हुआ कि वे सब श्रद्धा आणि गुण स्वानुभूतिके सयुक्त होनेपर सम्यक्त्वरूप और उसके विना मिथ्या श्रद्धा आदिके समान वे सम्यक्त्व न होकर तदाभास ही होते हैं[१]। स्वानुभूतिके विना जो श्रुतमात्रके आलम्बनसे श्रद्धा होती है वह तत्त्वार्थसे सम्बद्ध होनेपर भी यथार्थ श्रद्धा नही है, क्योकि, वहां तत्त्वार्थकी उपलब्धि नहीं है। इसका भी कारण यह है कि वह लब्धि पागल पुरुषको लब्धिके समान सत् और असत् पदार्थोमे विशेषतासे रहित होती है। अतएव वह पदार्थके अभावमे होनेवाली अर्थोपलब्धि ही समान वस्तुतः उपलब्धि नही है। इसीलिये श्रद्धाको जो सम्यक्त्वका लक्षण निर्दिष्ट किया जाता है उस पकज (कीचडसे उत्पन्न कमल) आदिके समान यौगिक रूढिके वश समझना चाहिये। इस कारण स्वानुभूतिसे सयुक्त श्रद्धाको जो सम्यक्त्व कहा गया है वह उचित ही है[२]।

यह सम्यग्दर्शन, सज्ञी, पचेन्द्रिय व पर्याप्त जीवोमें किसी भी जीवके हो सकता है– उसके लिये कुल एव जाति आदिका कोई बन्धन नही है। यही कारण है जो स्वामी समन्तभद्राचार्यने सम्यग्दर्शनसे सहित चाण्डालको भी आराधनीय बतलाया है[३]। सम्यक्त्वकी महिमा विलक्षण

---

१. स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिविनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः॥
तत्स्याच्छ्रद्धादय सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत्।
न सम्यक्त्व तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः॥
पंचाध्यायी २, ४१५-१६.

२. विना स्वात्मानुभूति तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः॥
लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात् सा तच्छेषानुपलब्धिवत्॥
ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिमत्॥
पचाध्यायी २, ४२१-२३.

३. सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ र. श्रा. २८.

है उसके होनेपर यदि चारित्र न भी हो तो भी प्राणी मोक्षके मार्गमें स्थित हो जाता है। किंतु उसके विना बाह्य महाव्रतादिरूप चारित्रके होनेपर भी जीव मोक्षमार्गमें स्थित नही हो पाता है। इसी कारण ऐसे महाव्रतीकी अपेक्षा उस व्रतहीन सम्यग्दृष्टि गृहस्थको ही श्रेष्ठ बतलाया गया है[1]। वह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट माना जाता है। कारण यह है कि जिस प्रकार बीजके विना वृक्ष न उत्पन्न होता है, न अवस्थित रहता है, न बढता है; और न फलोंको भी उत्पन्न कर सकता हे उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और चारित्र भी यथार्थ स्वरूपमें न उत्पन्न हो सकते हैं, न अवस्थित रह सकते है, न बढ सकते हैं और न मोक्षरूप फलको भी उत्पन्न कर सकते हैं[2]। इसलिये मोक्षकी प्राप्तिका मूल कारण इस सम्यग्दर्शनको ही समझना चाहिये।

उस सम्यग्दर्शनके यहां ये दस भेद निर्दिष्ट किये गये है– आज्ञा-सम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व[3]।

## दैवकी प्रबलता

धर्मका असली प्रयोजन तो निराकुल मोक्षसुखकी प्राप्ति है। साथ ही प्राणियोको जो इन्द्रियजनित सुख प्राप्त होता है वह भी उस धर्मके

---

१. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ र. श्रा. ३३.

२. विद्यावृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ र. श्रा. ३२

३. इनका स्वरूपश्लोक १२–१४ में देखिये। आचार्य गुणभद्रने सम्य-क्त्वके इन १० भेदोंका उल्लेख अपने उत्तरपुराण(७४, ४३९-४९) में भी किया है। यह आत्मानुशासनका श्लोक (११) श्री सोमदेव सूरिके द्वारा अपने यशस्तिलक (उत्तर खण्ड पृ. ३२३) में उद्धृत किया गया है। वहां उन्होंने संक्षेपमें उक्त १० भेदोंके स्वरूपका भी निर्देश किया है।

विना सम्भव नही है। कारण यह कि उक्त विषयसुख जिस पुण्यके ऊपर निर्भर है वह विना धर्माचरणके नही होता है। इसलिये तो तत्त्वार्थसूत्र (६-३) में शुभयोगको पुण्यका आस्रव और अशुभयोगको पापका आस्रव बतलाया गया है। यह शुभयोग अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य आदि स्वरूप है और इसीका नाम धर्माचरण है। इसके विपरीत हिंसा, असत्य एवं चोरी आदि स्वरूप अशुभयोग है जो पापबंधका कारण है। इस पुण्य पापको ही यहां दैव कहा गया है (२६२)। उस धर्मकी महिमाको प्रकट करते हुए यहां यह निर्दिष्ट किया गया है कि जब वे सब इन्द्रियविषय धर्मरूप वृक्षके ही फल हैं तब जिस प्रकार फलोंको अभिलाषा रखनेवाले उपभोक्ता जन उस वृक्षका संरक्षण करते हुए ही उसके फलोका उपभोग किया करते है उसी प्रकार सुखाभिलाषी विवेकी जन भी उक्त धर्मका परिपालन करते हुए ही क्यों न उस विषयसुखका उपभोग करें (१९)।

यहां दैवके उपर बल देकर इंद्रका उदाहरण देते हुए यह बतलाया कि जिस इन्द्रका मंत्री तो बृहस्पति, शस्त्र वज्र, सैनिक, देव, किला स्वर्ग और हाथी ऐरावत था तथा जिसके ऊपर साक्षात् विष्णुका अनुग्रह भी था; वह इस आश्चर्यजनक बलसे सयुक्त इंद्रभी जब शत्रुओंके द्वारा पराजित किया गया है तब अन्य साधारण जनकी तो बात ही क्या है? इससे जाना जाता है कि जीवोंका रक्षक एक मात्र दैव ही है, उसके आगे पौरुषका कुछ वश नही चलता (२३)। यदि पूर्वोपार्जित पुण्य शेष है तो प्राणीके लिये आयु, धन-सम्पत्ति एव शरीर आदि रूप सब ही अनुकूल सामग्री प्राप्त हो जाती है और यदि वह (पुण्य) शेष नही है तो फिर प्राणी उसको प्राप्तिके लिये कितना भी परिश्रम क्यों न करे, परंतु वह कदाचित् उसे प्राप्त नही हो सकती है।

दुष्ट दैवकी प्रबलताको दिखलाते हुए यहां (११८-१९) ग्रन्थकारने भगवान् आदिनाथका उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जिन ऋषभ जिनेंद्रने साम्राज्यको तृणके समान तुच्छ जानकर छोड दिया था और तपस्याको स्वीकार किया था वे ही भगवान् क्षुधित होकर दीनकी तरह दूसरोंके घरोंपर घूमे, परंतु उन्हें भोजन प्राप्त नही हुआ।

देखो, जब वे गर्भमें आनेवाले थे तब उसके छह महिने पूर्वसे ही इंद्र हाथ जोडकर दासके समान सेवामे संलग्न रहा। उधर उनका पुत्र भरत चक्रवर्ती चौदह रत्न और नौ निधियोका भी स्वामी था। तथा युगके आदिमें वे स्वयं सृष्टिके स्रष्टा थे। फिर भी उन्हें क्षुधाके वश होकर छह महिने पृथिवीपर घूमना पडा। यह उस दैवकी प्रबलता नही तो क्या है ?

यह सब जानता हुआ भी प्राणी आशारूप पिशाचके वशीभूत होकर कभी खेतीमें प्रवृत्त होता है तो कभी राजाओंकी सेवा करता है, और कभी समुद्र आदिके मार्गसे देश-विदेशमें परिभ्रमण भी करता है। परंतु जिस प्रकार बालुसे कभी तेल नही निकल सकता है तथा विषभक्षणसे जीवित नही रह सकता है उसी प्रकार इस विषयतृष्णासे प्राणीको कभी सुखका लाभ भी नही हो सकता है। वह केवल मोह वशव्यर्थका परिश्रम करता हुआ दुःखी हो रहता है। सच्चा सुख तो उसे उस आशाके निराकारणसे ही प्राप्त ही सकता है (४२)। किसीने यह ठीक ही कहा है–

जहां चाह तहां दाह है हुईये बेपरवाह।
चाह जिन्होंकी मिट गई वे शाहनके शाह ॥

यह आशा एक प्रकारकी नदी है– जिस प्रकार नदीके प्रवाहमे पडकर प्राणी दूर तक बहता चला जाता है और अन्तमे समुद्रमे जाकर वहां भयानक जलजन्तुओंका ग्रास बन जाता है उसी प्रकार यह प्राणी भी उस आशाके वशीभूत होकर निरतर अभिष्ट विषयसामग्रीको प्राप्त करनेके लिये परिश्रम करता है और अन्तमें मृत्युका ग्रास बनकर धर्मसे विमुख होनेके कारण संसार समुद्रमे दीर्घ काल तक गोता खाता है (४९)। कवि भूधरदासजीने यह ठीक ही कहा है—

चाहन है धन होय किसी विध तो सब काज सरें जियराजी।
गेह चिनाय करू गहना कछु व्याह सुता-सुत बांटिय भाजी ॥
चिंतत यों दिन जाहि चले जम आन अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारी गये रहि जाय रूपी सतरजकी बाजी ॥

आशाको यद्यपि अग्निकी उपमा दी जाती है, परन्तु वह उससे भी भयानक है। कारण यह कि अग्नि तो तबतक ही जलती है जबतक कि उसे इंधन प्राप्त होता रहता है- ईंधनके विना वह स्वयमेव शांत हो जाती है। परन्तु आश्चर्य है कि वह आशारूप अग्नि इंधन ( इष्ट समाग्री ) की प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओंमें जलती है- जबतक अभीष्ट विषयसामग्री प्राप्त नहीं होती है तबतक तो प्राणी उसकी अप्राप्तिमें संतप्त रहता है और जब वह प्राप्त हो जाती है तब वह उसकी उत्तरोत्तर बढती हुई तृष्णाके वश होकर संतप्त रहता है। जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्यके तापसे पीडित कोई दुर्बल बैल उत्पन्न हुई प्यासकी वेदनाको शांत करनेके लिये किसी जलाशयके किनारे जाता है और वहां गहरे कीचडमें फसकर दु:खी होता है उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी सूर्यके समान संतापजनक इन्द्रियोंके वशीभूत होकर उत्पन्न हुई विषयतृष्णाको शांत करनेके लिये उन उन विषयोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। परंतु वैसा पुण्य शेष न रहनेसे वे विषय उसे प्राप्त नही होते। तब वह केवल उस परिश्रमजनित दुःखका ही अनुभव करता है (५५-५६)।

इसका कारण यह है कि मूढ प्राणी आत्मा और शरीरमे भेद नही समझता। वह शरीरको ही आत्मा समझता है। परन्तु वह विनश्वर एव जड शरिर आत्मा नही है। वह तो उससे भिन्न ज्ञायकस्वभाव, चेतन व नित्य है। यद्यपि वह स्वभावतः अमूर्तिक होकर भी कर्मवश सनादि कालसे उस मूर्तिक शरीरमे एकक्षेत्रावगाह स्वरूपसे स्थित है तो भी वे दोनों दूधमें मिले हुए पानीके समान स्वरूपत. भिन्न ही है। जिस प्रकार अन्यके लिये सम्भव न होनेपर भी हंस दूधमें मिले हुए पानीको पृथक् करके उसमेसे केवल दूधको ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार विवेकी जन (अंतरात्मा) दोनोंके एक क्षेत्रावगाह स्वरूपसे स्थित रहनेपर भी उस परम ज्योतिस्वरूप आत्माको म्यानमे स्थित खड्गके समान उस शरीरसे पृथक् ही ग्रहण किया करते हैं। इसीलिये वे शरीरसे निमित्तके होनेवाले दु.खका भी कभी अनुभव नहीं करते। किसीने यह ठीक ही कहा है—

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सचक्षुषः ॥

जिस प्रकार अन्धा मनुष्य विश्वको अन्धकारमय तथा निर्मल नेत्रोंसे सयुक्त मनुष्य उसे प्रकाशमय ही देखता है उसी प्रकार अज्ञानी जन जगतको दु खरूप तथा ज्ञानीजन उसे आनन्दमय ही मानते है– विवेकी जन विपत्तिके समयमे भी कभी खिन्न नही होते हैं ।

जिस शरीरके आश्रयसे प्राणी विषयमे प्रवृत्त होता है वह ठीक कारागृह ( जेल ) के समान है– कारागार यदि मोटे गोटे लकडीके शहतीरोसे या लोहमय गाटरोंके आश्रित होता है तो यह शरीर भी स्थूल हड्डियोके आश्रित है, कारागार जैसे रस्सियोंसे सम्बद्ध होता है वैसे ही शरीर भी शिरा व स्नायुयोंसे सम्बद्ध है; कारागार जहा कवेलू आदिसे आच्छादित होता है वहां यह शरीर चमडेसे आच्छादित है, कारागारका सरक्षण यदि पहारेदार करते है तो इस शरीरका सरक्षण कर्म करते है, तथा कारागारका द्वार साकलोंसे बन्द रहनेके कारण जिस प्रकार कैदी उसमेसे बाहर नही निकल सकते है उसी प्रकार आयु कर्मका उदय रहनेसे प्राणी भी उस शरीरसे नही निकल सकते है ( ५९ ) । इस प्रकार उस शरीरकी काराभारके साथ समानता होनेपर भी आश्चर्य इस बातका है कि प्राणी उस कारागृहमें तो नही रहना चाहता है, किन्तु इस शरीररूप कारागारमें स्थित रहते हुए वह आनन्द भी मानता हैं । जो एरण्डकी पोली लकडी दोनो ओर अग्निसे जल रही हो उसके भीतर स्थित कीडा जिस प्रकार अतिशय दुखी होता है उसी प्रकार जन्म और मरणसे व्याप्त इस शरीरमे स्थित प्राणी भी अतिशय दुःखी रहता है (६३) ।

## सत्साधुप्रशंसा

यहा तपस्वियोकी प्रशसा करते हुए कहा है कि यह जो उनका स्वेच्छापूर्वक विहार ( गमनागमन ), दीनतासे होती जाती हैं उसी प्रकार प्राणीकी आयु भी प्रतिसमय क्षीण रहित भिक्षाभोजन, गुणी जनोंकी संगति, रागादिके उपशमरूप शास्त्राभ्यासका फल और बाह्य पर

पदार्थोंमे मनकी मन्द प्रवृत्ति है; उसके विषयमे बहुत कालसे विचार करने पर भी नही मालूम होता कि यह कौन-से महान् तपका फल है। विषयोंसे विरक्ति शास्त्रका परिशीलन, दया, दुराग्रहको नष्ट करनेवाली अनेकान्तबुद्धि, तथा अन्तमे विधिपूर्वक समाधिमरण; यह सब वास्तवमें महान् प्रभावसे ही महापुरुषोको उपलब्ध होता है (६७–६८)

## मरण अनिवार्य है

जन्म और मरण दोनोमे अविनाभाव है। जिस प्रकार अरहटकी घटिकाये एक एक करके प्रतिसमय जलसे रहित होती जाती है। और जिस क्रमसे आयु क्षीण होती जाती है उसी क्रमसे शरीर भी दुर्बल होता जाता है। परन्तु जिस प्रकार चलती हुई नावके ऊपर बैठा हुआ मनुष्य नावके साथ चलते रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनेको स्थिर मानता है उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी आयु एव शरीरके प्रतिसमय क्षीण होनेपर भी भ्रान्तिसे अपनेको स्थिर मानता है (७२)। अनादिनिधन लोकरचनाके अनुसार नीचे नारक बिल, ऊपर स्वर्ग तथा मध्यमें स्थित असख्यात द्वीप-समुद्रोसे वेष्टित अढाई द्वीपमें मनुष्योंका निवास है। और अन्तमे वह सारा लोक तीन वातवलयोसे भी घिरा हुआ है। इसपर ग्रन्थकार कल्पना करते है कि विचारशील ब्रह्मदेवने यद्यपि मनुष्योके संरक्षणका इतना भारी प्रयत्न किया है, किन्तु फिर भी वह उन्हे मृत्युसे नही बचा सका– मृत्यु होती है (७५)। वह मृत्यु कब, कहां और किस प्रकारसे प्राप्त होगी; इसका जब निश्चय नही किया जा सकता है तब विवेकी जनोंको निरन्तर आत्महितमे निरत रहना चाहिये - सयमादिका परिपालन करते हुए उस मृत्युके सचारसे रहित क्षेत्र (मोक्ष) को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये (७८–७९)।

## मनुष्य पर्याय और तप आराधना

यहां मनुष्य पर्यायकी काने गन्नेसे तुलना करते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार गन्ना अनेक पोरोसे सयुक्त होता है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय भी अनेक आपदाओंसे व्याप्त होती हैं, गन्ना यदि अन्तिम भागमे रससे हीन होता है तो मनुष्य पर्याय भी अन्तिम अवस्था

(बुढापा) मे नीरस–विषयोपभोगादिके आनन्दसे रहित होती है, जैसे गन्ना मूल भागमें चूसनेके अयोग्य होता है वैसे ही मनुष्य पर्याय भी मूलमें– बाल्यावस्थामें–विषयोपभोगके अयोग्य रहती है; तथा मध्य भागमे जहां गन्ना कीडोके द्वारा भक्षित होकर अनेक छेदोसे युक्त हो जाता है वहा वह मनुष्य पर्याय भी मध्यम अवस्थामे भूख, प्यास, फोडा-फुसी, कोढ एव जलोदर आदि भयानक अनेक रोगोसे व्याप्त होती है। इस प्रकार गन्नेकी समानता होनेपर जिस प्रकार किसान उस नि.सार गन्नेकी गाठोको सुरक्षित रखकर उनका बीजके रूपमे उपयोग करता हुआ उस नि:सारको भी सारभूत किया करता है उसी प्रकार सत्पुरुषोंको इस मनुष्य पर्यायको भी परलोकका बीज बनाकर–परलोकमें स्वर्ग-मोक्षमे अभ्युदयकी प्राप्त्यर्थं जो तप-सयमादि अन्य पर्यायमे दुर्लभ है उन्हे धारण कर– सारभूत (सफल) करना चाहिये (८१)। आगे बाल्यादि अवस्थाओका स्वरूप दिखलाते हुए जन्मके दु:खका जो दिग्दर्शन कराया गया है वह स्मरणीय है (९८–९९)।

इस प्रकार यद्यपि वह मनुष्य पर्याय दुर्लभ, अशुभ, दु.खोसे परिपूर्ण, मरणज्ञानसे रहित एव देवादिकी अपेक्षा अतिशय स्तोक आयुसे सयुक्त है; तथापि चूकि वह तपश्चरणका अद्वितीय साधन है और तपके विना कदाचित् भी मुक्ति सम्भव नही है; अतएव उस दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर जन्ममरणके दुःसह दु.खसे सर्वथा छुटकारा पानेके लिये तपश्चरण करना चाहिये (१११)। इस प्रकारसे वहां तप आराधनामे प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा की गई है।

## ज्ञानाराधना

सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और तपरूप शेष तीन आराधनायें चूकि सम्यग्ज्ञानकी प्रेरणा पा करके ही अभिष्ट प्रयोजनकी साधक होती है, अतएव दर्शन आराधनाके पश्चात् ज्ञानाराधनाके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए संयमी पुरुषकी दीपकसे तुलना की गई है–– जिस प्रकार दीपकके पूर्वमे केवल प्रकाशकी प्रधानता होती हैं उसी प्रकार सयमी साधुके भी पूर्वमें स्व-परप्रकाशक ज्ञानकी प्रधानता होती है। तत्पश्चात्

वह सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे संयुक्त होकर शोभायमान होता है– ज्ञानके साथ ही तप और चारित्रके अनुष्ठान (ताप) से भी संयुक्त हो जाता है। तथा जिस प्रकार दीपक प्रकाश और आतापसे सयुक्त होकर स्व एव अन्य पदार्थोको प्रकाशित करता है तथा कज्जलको उगलता भी हैं उसी प्रकार संयमी साधु भी ज्ञान और चारित्रसे समुज्वल होकर स्व एवं अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है तथा कज्जलके समान कलुषताको उत्पन्न करनेवाले कर्मकी निर्जरा भी करता है। इस प्रकार वह आगमजनित सम्यग्ज्ञानके प्रभावसे अशुभ परिणतिको छोडकर शुभका आश्रय लेता है और अन्तमें फिर अपने शुद्ध स्वरूपको भी पा लेता है। कारण यह है कि जिस प्रकार सूर्य जबतक प्रभात समयरूप सन्ध्याकालको नही प्राप्त कर लेता है तबतक वह रात्रिके अन्धकारको नही हटा सकता है, इसी प्रकार सयमी साधु भी जबतक अशुभको छोडकर शुभका आश्रय नही ले लेता है तबतक वह कर्मरूप कालिमाको हटाकर शुद्ध स्वरूपको नही प्राप्त हो सकता है (१२०–२२)।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आराधक जब शुभ परिणतिको स्वीकार करके तप व श्रुतमे अनुराग करता हैं जब उसके रागजनित कर्मका बन्ध न होकर मुक्ति कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सूर्य रात्रिके अन्धकारसे निकालकर जब प्रभात समयमे सन्ध्यारागको-प्रभातकालीन लालिमाको– धारण करता हैं तब उसका यह राग अभिवृद्धि (उदय) का कारण होता है। किन्तु इसके विपरीत जब वही सूर्य दिनके प्रकाशको छोडकर रात्रिके अन्धकारको आगे करता हुआ रागको– दिनान्तमें होनेवाली लालिमाको– धारण करता है तब उसका वह राग अधःपतनका–अस्तगमनका– कारण होता है। ठीक इसी प्रकारसे मिथ्याज्ञानसे रहित हुए विवेकी साधुके जो तप एवं श्रुतविषयक अनुराग होता है वह उसके अभ्युदय (स्वर्ग-मोक्ष) का कारण होता है तथा इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवके तो तद्विषयक अनुराग होता हैं वह उसके अधःपतनका– नरकादि दुर्गतिका– कारण होता हैं (१२३–२४)।

जो यात्री किसी दूरवर्ती अभीष्ट स्थानको जाना चाहता है उसके साथ यदि योग्य मार्गदर्शक है, मित्र निरन्तर पासमें रहनेवाले है, नाश्ता भरपूर है, योग्य सवारी है, बीचमे ठहरनेके स्थान (पडाव) निरुपद्रव हैं, रक्षक साथमें है, मार्ग सरल व शीतल जलसे परिपूर्ण है, तथा सर्वत्र सघन छाया भी विद्यमान है, तो वह यात्री सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओसे रहित होकर नियमसे उस स्थानको जा पहुचेगा। ठीक इसी प्रकारसे जो भव्य जीव मुक्ति-पुरीको जाना चाहता है उसके पास यदि सम्यग्ज्ञानके समान मार्गदर्शक है, मित्रके समान पाप प्रवृत्तिसे बचानेवाली लज्जा निरन्तर पासमे स्थित है, नाश्ताका काम करनेवाला तप है, चारित्र सवारीके समान है बीचमें ठहरनेका स्थान स्वर्ग है, उत्तम क्षमा आदि गुण रक्षकोंका काम करनेवाले है, रत्नत्रयस्वरूप मार्ग सरल (कुटिलतासे रहित) व कषायोपशमरूप जलसे परिपूर्ण है, तथा दयाभावना छायाका काम करती है; तो यह मुक्तिका पथिक भी नियमसे उस मुक्तिपुरीको प्राप्त कर लेनेवाला है। उसकी इस यात्रामे कोई भी विघ्न-बाधायें उपस्थित नही हो सकती है (१२५)।

## स्त्रीनिन्दा

प्रस्तुत प्रकरणमे पूर्वोक्त मुक्तिपथिककी यात्रामें बाधक होनेकी सम्भावनासे कुछ श्लोको (१२६–१३६) द्वारा स्त्रीजातीकी निन्दा करते हुए उन्हे दृष्टिविष सर्पसे भी भयानक विषैली, निरौषध विषवाली, परलोकविध्वसक, क्रोध और प्रसन्नता इस दोनों ही अवस्थाओंमें प्राणसहारक, ईर्ष्यालु, बाह्यमे ही रमणीय, मनुष्योरूप मृगोंके वधका स्थान, तथा दूषित शरीरको धारण करनेवाली बतलाया है। उद्देश इसका यह रहा है कि जिस साधुने विषयोसे विमुख होकर बाह्य व अभ्यंतर परिग्रहको छोडते हुए मुनिधर्मको स्वीकार कर लिया है वह कदाचित् उन स्त्रियोकी वेषभूषादिको देखकर विचलित न हो जाय। इसीलिये उन्हे उक्त प्रकारसे घृणास्पद बतलाकर उनकी ओरसे साधुको सावधान मात्र किया है जो उचित ही है। यही कारण है जो इसी प्रकरणमे १२८ एक ओर मुक्तिललना और दूसरी ओर अस्थिचर्ममय शरीरवाली लोकप्रसिद्ध ललनाको दिखलाकर उनमेसे किसी एक

( मुक्ति-ललनाको ) ही स्वीकार करनेकी प्रेरणा की गई है, क्योंकि, दोनोंका एक ही हृदयमें स्थान पाना संभव नही है ।

कल्पना कीजिये कि कोई एक आर्यिकाओंका सघ है । अब उनमे जो प्रमुख आर्यिका है वह यदि अन्य आर्यिकाओंका स्वीकृत व्रतोंके परिपालनमें दृढ करना चाहती है तो आखिर वह भी तो उन्हे यही उपदेश देगी कि पुरुषोंको तुम भयानक विषके समान समझो । वे तुम्हे अनेक प्रलोभनों द्वारा मार्गभ्रष्ट करके इस लोक और परलोकके सुखसे वंचित करनेका प्रयत्न करेंगे । उनका कभी विश्वास नही किया जा सकता है--वे जिसे विश्वास देकर स्वीकार करते है उसका परित्याग करते हुए भी देखे जाते हैं । पुराणोंमें दक्ष राजा आदि कितने ही ऐसे भी अधम पुरुषोंके उदाहरण देखे जाते हैं कि जिन्होंने कामुकताके वशीभूत होकर निजपुत्री आदिको भी पत्नीके रूपमें ग्रहण किया है[1] । अतएव उन्हे घृणास्पद समझकर उनकी ओरसे सदा सावधान रहना चाहिये । अन्यथा, तुम इस लोकके सुखसे तो स्वय स्वेच्छापूर्वक वंचित हो ही चुकी हो, फिर वैसी अवस्थामें परलोकके सुखसे--स्वर्ग-मोक्षके अभ्युदयसे--भी वंचित रहोगी ।

तात्पर्य यह है कि स्त्रियोंकी निंदा करते हुए भी अभिप्राय उनकी निंदाका नही रहा है, किंतु साधुओंको अपने स्वीकृत व्रतोमे दृढ करनेका ही एक मात्र ग्रन्थकारका उद्देश रहा हैं । कारण यह है कि स्वभावसे न तो सर्वथा स्त्री ही निंदनीय है और न सर्वथा पुरुष भी । किंतु जो स्त्री या पुरुष पापाचरणमें निरत हो वही वस्तुतः निन्दाका पात्र हो सकता है, न कि स्त्रीमात्र या पुरुषमात्र, स्त्रियोंमें ऐसी उत्तम स्त्रियां भी सभव हैं जो तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं अन्य चरमशरीरी महापुरुषोंको भी उत्पन्न करती हैं[2] । फिर भला वे स्त्रीपर्यायके धारण करने मात्रसे कैसे निंदनीय

१. हरिवंशपुराण १७, ३-१५.

२. स्त्रीतः सर्वज्ञनाथः सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोधस्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं मोक्षमार्गावबोधः । तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं बुद्ध्वैवं स्त्रीं पवित्रां शिवसुखकरणीं सज्जनः स्वीकरोति ॥ सुभाषितरत्नसंदोह ९-११.

हो सकती है ? सती सीता एवं अंजना आदि अनेक स्त्रियोंने उस स्त्रीजातिको समुज्ज्वल किया है ।

इसी प्रकरणमें आगे श्री गुणभद्राचार्यने अपनी अनुपम प्रतिभाको प्रगट करते हुए यह बतलाया है कि स्त्रीके विषयमें जो अनुराग होता है वह मनके आश्रयसे ही होता है । परंतु आश्चर्य इस बातका है कि वह मन प्रियाको भोगनेके लिये अधीर तो बहुत होता है, पर स्वयं उसे भोग नहीं सकता है । वह तो केवल दूसरोंको–स्पर्शन आदि इद्रियोंको–भोगते हुए देखकर आनन्दका अनुभव करता है । उक्त मन निश्चयतः न केवल शब्दसे ही–व्याकरणकी दृष्टीसे ही–नपुसक है, किंतु अर्थसे भी–प्रियाको न भोग सकनेके कारण भी–नपुसक है । फिर भला जो पुरुष शब्द और अर्थ दोनो ही प्रकारसे पुरुष है– व्याकरणसे पुल्लिग तथा पुरुषार्थसे प्रियाके भोगनेमें समर्थ भी है–वह उस नपुसक मनके द्वारा कैसे जीता जाता है, यह विचारणीय है (१३७), अभिप्राय यह है कि पुरुषको स्वयं मनका दास न बनकर उसे ही अपना दास बनाते हुए स्वाधीन करना चाहिये ।

## समीचीन गुरु कौन ?

जो गुरु शिष्यके दोषोंकी देखता हुआ भी अविवेकतासे उन्हें प्रकाशित नही करता है वह वास्तवमे गुरु नही है। कारण यह कि यदि उन दोषोके विद्यमान रहते हुए शिष्यका मरण हो जाता है तो फिर वह गुरु उसका उद्धार कैसे कर सकता है ? इससे तो वह दुर्जन ही अच्छा, जो भले ही दुष्ट बुद्धिसे भी क्यो न हो, क्षुद्र भी दोषोंको निरंतर बढा चढा कर कहता है[1] (१४२) । इस कारण समीचीन गुरु उसको ही समझना चाहिये जो कि शिष्यके दोषोको प्रकट करके उसे उनसे रहित करना चाहता है । ऐसा करते हुए गुरुको उस शिष्यके असंतुष्ट हो जानेकी भी शंका नही करना चाहिये, क्योकि, जिस प्रकार तीव्र भी सूर्यकी किरणें कमलकलिकाको प्रफुल्लित ही किया करती है उसी प्रकार गुरुके कठोर भी वचन सुयोग्य शिष्यके मनको प्रमुदित ही किया करते है (१४१) । जो

---

१. गुणान् यथैवोपविशन् प्रशंसया गुरुत्वबुद्धया सुजनो नमस्यते ।
तथैव दोषान् विशतः प्रणिन्दया कृतः खलस्यापि मयायमञ्जलिः॥ च.च.१-९

बुद्धिमान् शिष्य आत्महितके इच्छुक होते है वे उक्त प्रकारसे दिखलाये गये दोषोको छोडकर उनके स्थानमे सद्गुणोको ग्रहण किया करते हैं। लोकमें श्रेष्ठ विद्वान् वही माना जाता है जो कारणांतरोंकी अपेक्षा न करके एक मात्र गुणके कारण वस्तुको ग्रहण करता है तथा केवल दोषके कारण ही उसका परित्याग करता है[1] (१४५)। परतु यह तब ही सभव है जब कि उसे गुण-दोषोंका परिज्ञान हो चुका हो। इसलिये जो दोषो और गुणोको जानकर तथा उनके कारणोको खोजकर दोषोके परित्यागपूर्वक गुणोंको ग्रहण कर लेता है वह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गका पथिक होकर सुख और यश दोनोका भाजन होता है (१४७)।

## साधुओंकी असाधूता

भोगभूमिकालमें न अपराध होते हैं और न इसीलिये उनके परिमार्जनके लिये कोई दण्डव्यवस्था भी नियत रहती है। किंतु उस भोगभूमिकालके अंतमें जब कल्पवृक्षोसे उपलब्ध होनेवाली सामग्री उत्तरोत्तर क्षीण होने लगती है तब क्रमशः अपराधोंका भी प्रादुर्भाव होने लगता है। इसके लिये समयानुसार कुलकर क्रमसे हा, हा-मा और हा-मा-धिक् इन तीन दडोंको नियत करते हैं। तत्पश्चात् कर्मभूमिके प्रारंभमे जब अपराध बढने लगते हैं तब राजाओंके द्वारा शारीरिक और आर्थिक दंड भी निर्धारित किये जाते हैं[2]। वर्तमान कलिकालमें-पंचमकालमे-एक दण्डनीति ही प्रधान है जो राजाओके स्वाधीन है। सो वे उसका उपयोग केवल आर्थिक लाभकी दृष्टिसे किया करते हैं। चूंकि

---

१. हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुण-दोष प्रवर्तिते।
स्यातामादान-हाने चेत्तद्धि सौजन्यलक्षणम्॥ क्ष. चू. ५-१९.

२. तत्राद्यैः पञ्चभिर्नृणां कुलकृद्भिः कृतागसाम्।
हा-कारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा॥
हा-माकारश्च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः।
पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हा-मा-धिक्कारलक्षणः॥
शरीरदण्डनं चैव वध-बन्धादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥ आ. पु. ३, २१४-१६.

वनवासी दिगंबर साधुओसे उक्त अर्थलाभ की संभावना है नही, अतएव दोषोको देखते हुए भी राजा लोग तो उनकी ओर ध्यान देते नही है। अब रही आचार्योकी बात, सो वे नमस्कारके प्रेमी हैं। यदि वे सघके अन्य साधुओके दोषोंको देखकर उनके निराकरणार्थ उन्हे दण्डित करते है तो नमस्कार करना तो दूर रहा, वे तो उस अवस्थामें उनके संघको छोडकर स्वतन्त्रतासे पृथक् रहना ही पसद करते हैं। इसका प्रत्यक्ष अनुभव वर्तमान साधुओकी प्रवृत्तियोसे सबको हो ही रहा है। आचार्योकी इस कमजोरीका लाभ उठाकर साधुओंकी स्वेच्छाचारिता बढ जाती है। यह स्थिति ग्रन्थकार श्री गुणभद्राचार्यके सामने निर्मित हो चुकी थी। इसीलिये उन्हे यहा यह कहना पडा कि—

तप:स्थेषु श्रीमन्मणय इव जाता: प्रविरला. (१४९)।

अर्थात् जैसे मणियोके मध्यमें कान्तिमान् मणि विरले ही पाये जाते है वैसे ही आजके साधुओमें समीचीन सयमका परिपालन करनेवाले साधु विरले ही रह गये है।

आगे तो वे यहातक कहते है कि अपनेको मुनि माननेवाले ये साधु स्त्रियोके कटाक्षोसे वशीभूत होकर ऐसे व्याकुळ हो रहे है जैसे कि व्याधके बाणसे विद्ध होकर हिरण व्याकुळ होते है। इसलिये उन्होने समीचीन साधुओको सावधान करते हुए उनके संसर्गसे बचनेका उपदेश दिया है (१५०)।

तपका अन्तिम फल निर्बाध मोक्षसुखकी प्राप्ति है। अतः उसकी प्राप्तिकी इच्छासे यदि छह खण्डोका अधिपति चक्रवर्ती अपनी समस्त विभूतिको छोडकर उस तपका स्वीकार करता है तो यह कुछ आश्चर्यजनक बात नही है। आश्चर्य तो उसके ऊपर होता है कि जो बुद्धिमान् इन्द्रियविषयोंको विषके समान घातक जानकर प्रथम तो उनका परित्याग करता हुआ तपको स्वीकार करता है और फिर तत्पश्चात वह उच्छिष्टके समान छोडे हुए उन्ही विषयोंको पुन: भोगनेकी इच्छासे उस गृहीत तपको भी छोड देता है। ऐसा करते हुए वह अधम यह नही सोचता कि जो तप समस्त ही दुराचरणको शुद्ध करनेवाला है, उसे ही मै मलिन क्यो करू? देखो, पलंग आदि किसी

ऊंचे स्थानपर स्थित अल्पवयस्क अज्ञानी बालक तो उसके ऊपरसे गिर जानेकी शंकासे भयभीत होता है, किन्तु तीनों लोकोंके शिखरस्वरूप उस तपके ऊपर स्थित वह विचारशील साधु अपने अधःपतनसे भयभीत नही होता है; यह खेदकी बात है (१६४-६६)।

ऐसे वेषधारी साधु विषयपोषणके लिये कुछ भी बहाना बनाकर गृहस्थोसे दीनतापूर्वक धनकी याचना भी करते हैं। श्री गुणभद्राचार्य कहते है कि जो व्यक्ति यह कहता है कि संसारमें परमाणुसे हीन तथा आकाशसे महान् कोई भी वस्तु नही है, उसने इन दीन और स्वाभिमानी मनुष्योको नही देखा है– दीन याचक तो परमाणुसे भी तुच्छ तथा इस याचनासे रहित स्वाभिमानी मनुष्य उस अनन्त आकाशसे भी महान् है (१५१-५२)। किसीने यह ठीक ही कहा है–

देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पञ्चदेवताः।
मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्री-ह्री-धी-धृति-कीर्तय ॥

अर्थात् 'देहि– मुझे कुछ दो' इस वाक्यको सुनकर श्री (कान्ति), लज्जा, बुद्धि, धीरता और कीर्ति ये पाचो शरीरस्थ देवता (गुण) उक्त 'देहि' पदके साथ ही मुखसे निकलकर भाग जाते हैं। तात्पर्य यह कि याचक मनुष्यके मुखकी कान्ति नष्ट हो जाती है– उसका चेहरा फीका पड जाता है, लज्जा जाती रहती है– वह निर्लज्ज बन जाता है, साथ ही वह अपनी विवेकबुद्धी, धैर्य और यशको भी खो देता है।

यहां आचार्यने तराजूका उदाहरण देकर इस बातको पुष्ट किया है कि तराजूके जिस पलडेपर कोई वस्तु रखी जाती है वह स्वभावतः नीचे तथा जिस दूसरे पलडेपर कुछ नही रखा जाता है वह स्वभावतः ऊंचेकी ओर जाता है। इसी प्रकार जो याचक दातासे कुछ ग्रहण करता है उसकी अधोगति तथा जो दाता कुछ ग्रहण न करके देता ही है उसकी ऊर्ध्वगति होती है (१५४)।

आगे वे समीचीन साधुको लक्ष्य करके कहते है कि जो महात्मा शरीरको स्थिर रखनेकी इच्छासे तपकी बुद्धिपूर्वक श्रावकके द्वारा नवधा भक्तिसे दिये गये आहारको यदा कदा ही परिमित मात्रामें ग्रहण किया करता है, साथ ही जो इसके लिये अतिशय लज्जाका भी अनुभव करता

है; वह क्या कभी उक्त भोजनको छोडकर अन्य धनादिको भी ग्रहण कर सकता है ? कभी नही — जो इस प्रकारकी अन्य वस्तुओंको ग्रहण करते हैं वे दुरात्मा साधु कहे जानेके योग्य नही है। एसे असाधु 'अमुक दाताने उत्तम भोजन दिया तथा अमुक दाताने निष्कृष्ट भोजन दिया' इत्यादि प्रकारसे दाताकी प्रशंसा और निन्दा भी किया करते है तथा कभी कभी वे अपने योग्य व्यवस्थाके न बननेसे उस दाताके ऊपर रुष्ट हो जाते हैं। उनकी इष्ट दुष्प्रवृत्तिको आचार्यने कलिकालका प्रभाव बतलाया है (१५८–२५)।

## मनका नियन्त्रण

सयमरूप राज्यके सरक्षणार्थ जिस प्रकार बाह्य शत्रुओंको जीतना आवश्यक है उसी प्रकार अन्तरग शत्रुओंको भी जीतना अत्यावश्यक है। जिस प्रकार बुद्धिमान् राजा अपने राज्यके विरुद्ध आचरण करनेवाले बाह्य शत्रुस्वरूप अन्य राजाओं आदिको वशमें रखता है उसी प्रकार वह उसके अन्तरंग शत्रुस्वरूप काम-क्रोधादिको भी अवश्य वशमें रखता है, क्योकि, इसके विना उसका राज्य कभी स्थिर नही रह सकता है। इसी प्रकार विवेकी साधु भी अपने सयमको सुरक्षित रखनेके लिये जैसे बाह्य शत्रुस्वरुप आरम्भ-परिग्रहादिको नष्ट करता है वैसे ही वह अन्तरग शत्रुस्वरूप रागद्वेषादिको भी अवश्य नष्ट करता है। कारण यह कि इसके विना उसका सयम कभी सुरक्षित नही रह सकता है (१६९)। परन्तु यह तब ही सम्भव है जब कि वह अपने मनको आत्मनियन्त्रणमे कर लेता है।

यह मन बन्दरके समान चपल है। अतएव उसे आत्मनियन्त्रणमें रखनेके लिये श्रुतस्वरूप वृक्षके ऊपर रमाना चाहिये। कारण कि जिस प्रकार बन्दर अनेक शाखाओसे सयुक्त व फल-फूलोसे परिपूर्ण किसी वृक्षको पाकर वहीपर क्रीडामे रत हो जाता है और उपद्रव करना छोड देता है इसी प्रकार इस मनको भी यदि अनेक नयोके आश्रयसे अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूपका विवेचन करनेवाले आगमके चिन्तनमें लगाया जाता है तो वह भी उसमे निरत होकर दुर्ध्यानको छोड देता है (१७०)।

यहां प्रसंग पाकर श्री गुणभद्राचार्यने उस आगमोक्त वस्तुतत्त्वका भी कुछ विवेचन किया है। वे साख्य, बौद्ध, विज्ञानाद्वैतवादी और शून्यैकान्तवादियोंके द्वारा परिकल्पित वस्तुस्वरूपको ध्यानमे रखकर कहते हैं कि संसारमे कोई भी वस्तु न कूटस्थ नित्य है, न प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली है, न एक मात्र ज्ञानस्वरूप ही है, और न सर्वथा अभावस्वरूप भी है, क्योंकि, वैसा प्रतिभास नही होता है। किन्तु वह जैसे द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है– अपने त्रिकालवर्ती ध्रौव्य स्वभावको नही छोडती है, वैसे ही वह पर्यायकी प्रधानतासे अनित्य भी है– प्रतिक्षण नवीन नवीन अवस्थामे परिणत भी होती रहती है। इस प्रकारसे वह कथंचित् नित्य और कथचित् अनित्य भी है। जीवका अन्तिम ध्येय अविनश्वर मुक्तिसुखकी प्राप्ति है। इसके लिये उसका लक्ष्य सदा अन्य बाह्य पदार्थोंकी ओरसे विमुख होकर एक मात्र ज्ञायकस्वभाव आत्माकी ओर ही रहता है। इस अध्यात्म तत्त्वकी प्रधानतासे वस्तुतत्त्व ज्ञानमात्र ही है– उसको छोडकर तब अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतएव जगत्को ज्ञानमात्र कहा जाता है। किन्तु व्यवहारी जन ज्ञानके अतिरिक्त अन्य घट-पटादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते है और अपनी अपनी रुचिके अनुसार उनका निरन्तर उपयोग भी करते हैं। इस दृष्टिसे यदि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थको स्वीकार न किया जाय तो इस दृश्यमान समस्त व्यवहारका ही लोप हो जावेगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि वस्तु यहा अध्यात्मकी प्रधानतासे कथंचित् ज्ञानमात्र है वहीपर वह व्यवहारकी प्रधानतासे कथंचित् चेतन-अचेतन आदि विभिन्न वस्तुओरूप भी है। उपर्युक्त अध्यात्म तत्त्वके पराकाष्टाको प्राप्त होनेपर जब निर्विकल्प दशा प्रगट होती है तब योगीकी दृष्टिमें चेतन-अचेतन कोई भी पदार्थ नही रहता है। यहांतक कि उस अवस्थामे तो ज्ञान-दर्शन आदिका भी विकल्प नही रहता है। इस दृष्टिकी मुख्यतासे ही विश्वको अभावस्वरूप कहा जाता है। वस्तुतः वह व्यवहारकी मुख्यतासे घट-पटादि अनेक भावोस्वरूप ही है। इस प्रकार वस्तु कथंचित् भावस्वरूप और कथचित् अभावस्वरूप ( शून्य ) भी है। इससे सिद्ध है कि विवक्षाभेदके अनुसार वस्तु अनेक धर्मात्मक हैं, क्योकि, वैसी ही पर्याप्त देखी जाती है (१७१-७३)

इस प्रकारसे आगमके परिशीलनमें निमग्न हुआ भव्य जीव ऐसा विशद्ध हो जाता है जैसा कि अग्निमे पडा हुआ मणि उसके तापसे विशुद्ध हो जाता है इसके विपरीत उक्त आगमरूप अग्नीमे निमग्न होकर प्रदीप्त हुआ अभव्य जीव अंगारके समान या तो काला कोयला वनता है या फिर भस्म वनता है– जैसे अंगार बुझकर कोयला अथवा राख वन जाता है उसी प्रकार अभव्य जीव भी श्रुतका अभ्यास करके या तो मिथ्याज्ञानके प्रभावसे कदाग्रही होकर एकान्तवादका पोषक होता है या फिर तत्त्वज्ञानसे शून्य ही रहता है (१७६)। इस श्रुतभावनाका फल प्रशस्त व अविनश्वर ज्ञानकी–अनन्तज्ञानकी–प्राप्ति ही है। परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि उस श्रुतभावनाका फल लाभ-पूजादिरूप खोजा करता है, यह उसके मोहका ही माहात्म्य है ( १७५ )।

जिस प्रकार बीजसे मूल और अंकुर उत्पन्न होते है उसी प्रकार इस मोहरूप बीजसे कर्मवन्धके कारणभूत राग और द्वेष उत्पन्न होते है। यह मोहबीज उस ज्ञानरूप अग्निके द्वारा ही भस्मसात् किया जाता है– ज्ञानको छोडकर उसके नष्ट करनेका अन्य कोई उपाय सम्भव नही है (१८२)। जैसे मथानीमें लिपटी हुई रस्सीको जबतक एक ओरसे ढीली करके दूसरी ओरसे खीचते रहते हैं तवतक वह मथानी दहीकी मटकीमें घूमती ही रहती है। इसके विपरीत यदि उसे दोनो ही ओरसे ढीला कर दिया जाता है तो फिर उस रस्सीकी वन्धने और उकलने रूप क्रियाके समाप्त हो जानेसे उस मथानीका घूमना भी सर्वथा वन्द हो जाता है। ठीक इसी प्रकारसे जीवकी जवतक एक वस्तुसे रागबुद्धि और दूसरीसे द्वेषबुद्धि रहती है तवतक कर्मका वन्ध और निर्जरा (सविपाक) इन दोनोके निरतर चालू रहनेसे उसका ससारमें परिभ्रमण होता ही रहता है। किंतु जैसे ही उसके उक्त राग और द्वेष दोनों उपशान्त हो जाते हैं वैसे ही बन्ध और उस निर्जराके समाप्त हो जानेसे उसका ससारपरिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है ( १७८–७९ )

## वास्तविक शत्रु कौन है ?

जन्म और मरणका नाम संसार है। सो ये दोनों शरीरसे संवद्ध हैं। प्रथमत· शरीर उत्पन्न होता है, उससे सबद्ध इंद्रिया होती है, वे

इष्ट विषयोंको चाहती है और वे विषय परिश्रम, अपमान, भय एवं पापको उत्पन्न करते है। इस प्रकार समस्त अनर्थपरंपराका मूल कारण यह शरीर ही ठहरता है। अतएव इस शरीरको ही यथार्थ शत्रु समझकर जबतक वह नष्ट नही होता है तबतक उसका शत्रुके समान ही अनशनादिके द्वारा शोषण करना चाहिये, जब किसीका शत्रु उसके हाथ लग जाता है तो वह उसको भूख-प्यास आदिकी बाधा पहुंचाकर निर्बल करता है, इसी प्रकार शत्रुस्वरूप जब यह दुर्लभ मनुष्य शरीर हाथ लग गया है तब बुद्धिमान् मनुष्योको अनशनादि तपोका आचरण करके उसके द्वारा आत्मप्रयोजनको सिद्ध कर लेना चाहिये (१९४-९५)। कारण यह है कि चारों गतियोमे एक मनुष्यगति ही ऐसी है कि जहा तपश्चरण आदिके द्वारा कर्मको निर्मूल करके मोक्षसुखको प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है जो इस शरीरके स्वभावतः अपवित्र होनेपर भी उसे रत्नत्रयकी प्राप्तिका कारण होनेसे अनुरागका विषय निर्दिष्ट किया गया है[1]। अन्यथा वह प्रीतियोग्य सर्वथा नही है। शरीरका स्वभाव आत्मासे सर्वथा भिन्न है—आत्मा जहां ज्ञान-दर्शनका पिण्ड होकर चेतन है वहां वह शरीर उक्त ज्ञाल-दर्शनसे रहित होकर जड है, आत्मा यदि रूप-रसादिसे रहित होकर अमूर्तिक है तो वह पुद्‌गलमय शरीर उक्त रूपादिसे सम्बद्ध होता हुआ मूर्तिक है, आत्मा जब स्वभावतः कर्ममलसे निर्लिप्त होता हुआ कमलपत्रके समान निरंतर शुद्ध है तब वह शरीर मूल-मूत्र एव रुधिरादिका स्थान होकर सदा ही अपवित्र रहता है, तथा आत्मा जहां अस्त्र-शस्त्रादिसे कभी छेदा भेदा नही जा सकता है वहां वह शरीर उक्त अस्त्रादिसे छेदा भेदा भी जाता है (२०२)। इस प्रकार जब वह शरीर आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वभाववाला है तब उसकी एकता आत्माके साथ कैसे हो सकती है? और जब शरीरमें स्थित रहनेपर भी उक्त आत्माकी उस शरीरके साथ ही एकता सम्भव नही है तब फिर प्रत्यक्षमें ही उससे भिन्न दिखनेवाले पुत्र-कलत्रादिके साथ तो उसकी एकता

---

१. स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥ र. श्रा. १३.

हो ही कैसे सकती है[1] ? इस स्थितिके होनेपर भी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा उस आत्मज्ञानसे विमुख होकर अपने शरीरको ही आत्मा मानता है-वह मूर्ख यदि आत्मा मनुष्यके शरीरमे स्थित है तो उसे मनुष्य, यदि तिर्यंचके शरीरमे स्थित है तो तिर्यंच, यदि देवके शरीरमे स्थित है तो देव, तथा यदि वह नारकीके शरीरमे स्थित है तो वह उसे नारकी मानता है। परतु यथार्थमे वैसा नही है–तत्त्वतः वह उपर्युक्त चारों गतियोंसे रहित होकर अनन्तानन्त ज्ञानशक्तिका धारक स्वसवेद्य व स्थिर स्वभाव-वाला है[2]। इस प्रकार शरीरको ही आत्मा समझनेवाला वह बहिरात्मा पुनः पुनः उस शरीरसे ही संगत होता है। किन्तु इसके विपरीत जो विवेकी अन्तरात्मा शरीरसे भिन्न आत्माको ही आत्मा मानता है वह विदेह हो जाता है–शरीरको छोडकर परमात्मा हो जाता है[3]।

इस प्रकार जिस विवेकी साधुको यह दृढ श्रद्धान हो जाता है कि आत्मा और शरीर ये दोनों स्वरूपसे भिन्न हैं वह उस शरीरके रोगादिसे सयुक्त होनेपर भी कभी व्याकुल नही होता। हां, यह अवश्य है कि वह यथासभव उस रोगादिका प्रतीकार तो करता है, परतु जब वह अशक्य प्रतीकार हो जाता है तो वह उद्विग्न न होकर संयमके सरक्षणार्थ सल्लेखनापूर्वक उस शरीरको ही छोड देता है[4] (२०७)। सो है भी यह ठीक–जब घरमें आग लग जाती है तब उसमें रहनेवाला बुद्धिमान् मनुष्य प्रथम तो यथाशक्ति उस अग्निको बुझानेका ही प्रयत्न करता है, किन्तु जब उसका बुझना असम्भव होजाता है तब फिर वह आत्मरक्षार्थ उस घरको ही छोड देता है[5] (२०५)।

---

१. यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये॥
द्वात्रिंशतिका २७.

२. समाधि. ७-९. ३. समाधि ७४

४. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥ र. श्रा. १२२.

५. मरणस्य अनिष्टत्वात्॥ ८॥ यथा वणिजः विविधपण्यादानादान-संचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति,

संसारी जीव तीन भागोंरूप है। उनमें प्रथम भाग रस-रुधिरादि-रूप शरीर, द्वितीय भाग ज्ञानावरणादि कर्म तथा तृतीय भाग ज्ञान-दर्शनादिरूप है। जबतक आत्मा इन तीन भागोंरूप रहता है तबतक उसके कर्मबन्ध होता रहता है। जो बुद्धिमान् इन तीन भागोंरूप आत्माको प्रथम दो भागोसे—शरीर एवं ज्ञानावरणादि कर्मोंसे—पृथक् करना जानता है वही वास्तवमें तत्त्वज्ञ कहा जाता है (२१०-११)।

### कषायविजय

उपर्युक्त दो भागोंसे उस आत्माको पृथक् करनेके लिये तपश्चरणकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सुवर्णपाषाण तीव्र अग्निके संयोगसे पाषाणस्वरूपको छोडकर कांतिमान् शुद्ध सुवर्णकी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार तपश्चरण व ध्यानके आश्रयसे भव्य जीव भी शीघ्र ही उस सप्तधातुमय शरीरको छोडकर परमात्माकी अवस्थाको पा लेता है[1]। घोर तपश्चरणजन्य क्लेशको न सह सकनेकी अवस्थामे यहां यह उपदेश दिया गया है कि जो जीव बहुत समय तक घोर तपश्चरणको नही कर सकता है उसे अपने मनको वशमे करके कषायोंरूप शत्रुओके ऊपर तो विजय प्राप्त करना ही चाहिये। कारण यह कि जिस प्रकार स्वच्छ जलसे परिपूर्ण भी किसी तालाबमें यदि मगर-मत्स्यादि हिंस्र जलजन्तु विद्यमान है तो जनसमुदाय नि.शक होकर उसमें स्नान आदि नही कर सकता है, इसी प्रकार प्राणीके हृदयमे जबतक क्रोधादि कषाये स्थित है तबतक वहा क्षमा-मार्दवादि उत्तम गुण नही रह सकते है। इसलिये उसे उन क्रोधादि कषायोके जीतनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये (२१२-१३)।

---

दुष्परिहरे च पण्याविनाशो न यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रत-शील-संचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति, तदुप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति, दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्? त. वा. ७,२२.

१. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥
कल्याणमन्दिर १५.

जो जन स्वर्ग-मोक्षादिरूप पारलौकिकी सिद्धिकी अभिलाषा करते है तथा उसके साधनभूत शान्त मनकी स्वय प्रशसा भी करते है, किन्तु अन्तरंगसे स्वय उन क्रोधादि कषायोको दूर नही करते है, उनके इन दोनो कार्योमे बिल्ली और चूहेके समान परस्पर जातिविरोध दिखलाकर यहा निन्दा की गई है तथा इसे कलिकालका प्रभाव भी प्रगट किया गया है (२१४)। उन क्रोधादि कषायोके वशीभूत होकर प्राणी किस प्रकारसे अपना अहित करते हैं, एतदर्थ यहा क्रोधके लिये महादेव, मानके लिये बाहुबली, मायाके लिये मरीचि, युधिष्ठिर एवं कृष्ण, तथा लोभके लिये चमर मृगका उदाहरण दिया गया है (२१६-२३)। इस प्रकार कषायनिग्रहके लिये प्रेरणा करते हुए साधुको लक्ष्य करके यहातक कहा गया है कि जब प्राणी रमणीय स्त्री आदि चेतन-अचेतन पदार्थोसे मोहको छोडकर मुनिधर्मको अंगीकार करता है तब फिर उसे सयमके साधनभूत पीछी कमण्डलु आदिके विषयमे क्यो मुग्ध होना चाहिये। यह मोह तो उसका ऐसा हुआ जैसे कि कोई रोगके भयसे भोजनका तो परित्याग करता है, किन्तु साथ ही रोगके परिहारार्थ औषधिको अधिक मात्रामे लेकर अज्ञानतासे उस रोगको और भी अधिक वृद्धिगत करता है (२२८)।

## आत्मा और उसकी कर्मबद्ध अवस्था

चार्वाक आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नही करते तथा साख्य आत्माके अस्तित्वको तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे सर्वथा और सर्वदा ही शुद्ध (कर्ममलसे रहित) मानते है। इन दोनो मतोपर दृष्टि रखकर ग्रन्थकर्ता श्री गुणभद्राचार्यने 'अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगत.' इत्यादि श्लोक (२४१) के द्वारा उस आत्माके अस्तित्वका निर्देश करते हुए उसे अनादिबन्धनबद्ध बतलाया है। प्रत्येक प्राणीको जो 'अहम् अहम्' अर्थात् मै चलता हू, मै भोजन करता हू, मै सुखी हू, मै दुखी हू, मै बालक हू, मै युवा हू, मै वृद्ध हू तथा मै रोगग्रस्त हू, इत्यादि प्रकारका जो स्वसवेदन होता है उससे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है[1]। कारण

१ स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ इष्टोपदेश २१.

यह कि उक्त प्रत्ययमें 'अहम्' पदके द्वारा जिसका बोध होता है वह शरीर तो कुछ हो नही सकता है, क्योंकि, जब शरीरमेसे वह अदृश्य शक्ति (चेतना) निकल जाती है तब वह निष्क्रिय हो जाता है। उस समय फिर किसी भी प्रकारका बोध नही होता। तथा बालक और युवावस्थाके अनुसार जो उसमें हीनाधिकता होती थी उसका होना तो दूर ही रहा, वह स्वय सड-गलकर विकृत हो जाता है। इससे सिद्ध है कि उक्त शरीरके भीतर जो पूर्वोक्त प्रवृत्तियोकी कारणभूत विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है उसीका इस 'अहम्' पदके द्वारा बोध होता है और उसे ही आत्मा या जीव आदि शब्दोसे कहा जाता है।

वह आत्मा अनादि कालसे कर्मसे सम्बद्ध रहता है। जिस प्रकार बीजसे अकुर और उससे फिर बीज, इस प्रकार बीज और अकुरकी परम्परा अनादि कालसे चली आ रही है उसी प्रकार रागद्वेषादि परिणामोसे कर्मबन्ध और उस कर्मबन्धसे पुन. राग-द्वेषादि, इस प्रकार वह बन्धकी परम्परा भी अनादि कालसे चली आ रही है। इस तरह वह आत्मा स्वभावतः शुद्ध होकर भी संसार अवस्थामें पर्यायकी अपेक्षा मलिन हो रहा है। जिस प्रकार कोई कपडा स्वभावतः (शक्तिकी अपेक्षा) स्वच्छ होकर भी यदि वर्तमानमें मलिन हो रहा है तो उसे सोडा-साबुन आदिके द्वारा स्वच्छ किया जाता है, इसी प्रकार आत्मा शक्तिकी अपेक्षा शुद्ध होकर भी चूकि वर्तमानमें शरीरादिसे सयुक्त होकर मलिन हो रहा है. इसीलिये उसे तपश्चरण आदिके द्वारा उक्त कर्ममलसे रहित करके शुद्ध किया जाता है। इसीका नाम मुक्ति है। यदि कोई मलिन भी कपडेको सर्वथा (शक्तिके समान व्यक्तिसे भी) स्वच्छ ही समझता है तो फिर उसे स्वच्छ करनेका वह प्रयत्न भी क्यों करेगा? नही करेगा। इसी प्रकार आत्माको सर्वथा ही शुद्ध माननेपर उसकी मुक्तिके लिये किया जानेवाला प्रयत्न--तप-संयमादि--व्यर्थ ठहरता है। अतएव जहा वह द्रव्यकी अपेक्षा शुद्ध है वहा वर्तमान अवस्थाकी अपेक्षा वह अशुद्ध भी है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद कषाय और योग, ये उसके बन्धके कारण तथा इनके विपरीत सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद (दक्षता), अकषाय ( कालुष्याभाव ) और अयोग, ये उसकी मुक्तिके कारण है।

यह बन्ध और निर्जराकी प्रक्रिया भी अपने अपने परिणामोंके अनुसार हीनाधिक स्वरूपसे चला करता है। जैसे—मिथ्यात्वके रहनेपर चूकि अविरति आदि शेष चार कारण भी अवश्य रहते है, अतएव मिथ्यादृष्टि जीवके अधिक बन्ध होता है। उस मिथ्यात्त्वके अभावमे सम्यग्दृष्टि जीवके अविरति आदिके द्वारा उक्त मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा कुछ हीन कर्मबन्ध होता है। सयत जीवके मिथ्यात्व और अविरतिके अभावमें प्रमादादि निमित्तक और भी कम बन्ध होता है। इसकी अपेक्षा अप्रमत्त अवस्थामे कषाय व योगनिमित्तक उससे भी कम बन्ध होता है। आगे अकषाय (उपशान्तमोह, क्षीणमोह व सयोगकेवली) अवस्थामें केवल एक योगनिमित्तक अतिशय अल्प मात्रामे प्रकृति और प्रदेशरूप ही बन्ध होता है। इसी प्रकार निर्जराके भी हीनाधिक क्रमको समझना चाहिये (२४५)। इतना स्मरण रखना चाहिये कि वह निर्जरा सविपाक और अविपाकके भेदसे दो प्रकार होती है। उनमे सविपाक निर्जरा (फल देकर कर्मपुद्गलोका पृथक् होना) तो सर्वसाधारणके हुआ करती है जो निरुपयोगी है। किन्तु जिसके पुण्य और पापरूप दोनो ही प्रकारके कर्मपुद्गल निष्फल होकर—अविपाक निर्जरा द्वारा—स्वय निर्जीर्ण होते है उसे यहा योगी कहा गया है। वह सब प्रकारके आस्रवसे रहित होकर निर्वाण प्राप्त करता है (२४६)।

## यथार्थ तपस्वी

उक्त आस्रवनिरोध (सवर) के कारण गुप्ति, समिति एव धर्म आदि है। किन्तु इच्छानिरोधस्वरूप तप सवर और निर्जरा दोनोका ही कारण है[1]। जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण तालाबका बाध यदि कहीपर थोडा-सा भी टूट जाता है तो बुद्धिमान् अधिकारी मनुष्य उसे उसी समय दुरुस्त करा देता है। कारण यह कि वह जानता है कि यदि उसे शीघ्र ही दुरुस्त नही कराया जायगा तो थोडे ही समयमे वह पूरा ही बाध काटकर नष्ट हो जावेगा और इस प्रकारसे सचित सब जल यो ही

---

१. स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः। तपसा निर्जरा च। त. सू. ९, २–३.

निकल जावेगा। ठीक इसी प्रकार गुणरूप जलसे परिपूर्ण इस तपरूप तालावके प्रतिज्ञारूप बांधमे यदि कही थोडी-सी भी क्षति (दोष) होती है तो विवेकी साधु उसकी अपेक्षा नही करता है–वह योग्य प्रायश्चित आदिके द्वारा उसे शीघ्र ही ठीक कर लेता हैं। इसके विपरीत अविवेकी साधु दुर्धर तपके द्वारा जिन दोषोको नष्ट करना चाहते है उन्हे ही वे परनिन्दा आदिके द्वारा और भी पुष्ट किया करते है। उस समय वे यह विचार नही करते कि अनेक उत्तमोत्तम गुणोसे विभूषित किसी महात्मामे यदि दैववश कोई एक आध क्षुद्र दोष दिखता है तो उसे तो उसकी गुणाधिकताके कारण कोई भी देख सकता है। पर इससे क्या उसकी निन्दा करके कोई उसके उस उच्च स्थानको पा सकता है? कभी नही। उदाहरणस्वरूप चन्द्रमाके भीतर स्थित लाछन उसकी ही चादनीके द्वारा देखा जाता है। परन्तु उसे देखकर यदि कोई कलंकी कहकर उस चन्द्रकी निन्दा करे तो इससे क्या वह उस चन्द्रके स्थानको पा लेगा? कभी नही। (२५०)

जिस प्रकार सज्जन पुरुषोंको गुणग्रहणके विना शान्ति नही प्राप्त होती उसी प्रकार दुर्जनोको भी दोषनिरूपणके विना शान्ति नही प्राप्त होती। इसका कारण उनका उस जातिका चिरकालीन अभ्यास ही है[1]। इसीलिये सच्चे साधु परके दोषोको न देखकर सदा अपने ही दोषोको देखा करते हैं। आत्माका उद्धार भी वस्तुतः इसीमें है। यही कारण है जो आत्मदोषद्रष्टाको शरीरसे सयुक्त होनेपर भी सिद्धसमान वतलाया गया है[2]।

कर्मोदयवश यदि कदाचित् किसी प्रकारका कष्ट भी प्राप्त होता है तो भी सच्चा साधु उससे खेदका अनुभव नही करता। वल्कि वह यह विचार करता है कि भविष्यमें उदय आनेके योग्य जिन कर्मनिषेकोंको मैं तपके द्वारा अपकर्षण कर वर्तमानमें उदयमे लाना चाहता था वे निषेक

---

१. गुणानगृण्हन् सुजनो न निर्वृतिं प्रयाति दोषानवदन् न दुर्जनः।
चिरन्तनाभ्यासनिबन्धनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः॥ च. च. १-७

२. अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोयं युक्तः कायेन चेदपि॥ क्ष. चू. १-८३.

यदि स्वयं ही उदयमे आ रहे हैं तो इससे मुझे खेद क्यों होना चाहिये ? जैसे कोई विजिगीषु जिस शत्रुके देशमे जाकर आक्रमण करना चाहता था वह शत्रु यदि स्वय उसके ही देशमे आ जाता है तो फिर भला वह विजिगीषु उसके साथ युद्ध करनेमें क्यो भयभीत होगा ? नही होगा— वह तो इस अनुकूलताको पाकर अतिशय प्रसन्न ही होगा (२५७)।

जिन तपस्वियोने सव कुछ सह सकनेके योग्य आत्मवलको प्राप्त करके अकेले ही रहनेकी दृढ प्रतिज्ञा कर ली है तथा जो अपने कार्यमें संलग्न होकर पर्वतीय भयानक गुफाओमें स्थित होते हुए ध्यानमे मग्न रहते हैं वे ही तपस्वी कर्म-मलको निर्मूल करके अविनश्वर आत्मीय सुखको प्राप्त करते हैं (२५८)। ऐसे महातपस्वी सुख ओर दु.खके सम-यमें यह विचार करते है कि यह सुख और दु ख अपने पूर्वकृत कर्मके उदयसे प्राप्त होता है, उसको छोडकर अन्य कोई भी उस सुख और दु खके देनेमें समर्थ नही है। अतएव इसमें हर्ष-विषाद करना व्यर्थ है। ऐसा विचार करते हुए वे प्राप्त सुख-दुःखमे उदासीन भावको धारण करते है[1]।

इस प्रकार राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण ही उन्हे अपने शरीरमे लगी हुई धूलि (मैल) भूषणके समान प्रतीत होती है। वे जहां कही भी शिला आदिके ऊपर आसन जमाकर ध्यानस्थ हो जाते हैं उन्हे कठोर व कंकरोली पृथिवीपर निद्रा लेते हुए कोई कष्ट नही होता। तथा जहा सिंहादि हिंस्र प्राणिओका सतत निवास होता है ऐसे भयानक पर्वतकी गुफाओको वे महलसे वढकर मानते है और वहां सिंहके समान निर्भयतापूर्वक रहते हैं (२५९)।

ऐसे ही राग-द्वेषविहीन मुनिको लक्ष्य करके कवि भर्तृहरि कहते है (वै. श. ९४) कि जिसकी शय्या (पलग) पृथिवी है, जिसकी भुजा ही तकियाका काम करती है, आकाश जिसका चंदोबा (उढौना) है, अनुकूल वायु जिसे पखेकी पवनसे भी बढकर प्रतीत होती है, शरद्

---

१. निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन। विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददतीति विमुञ्च शेमुषीम्।।द्वात्रिंशतिका ३१

परिणामोंसे सयुक्त होनेसे कारण नवीन कर्मबन्धको करता है, उससे नरकादि गतियोमे गमन होता है, गतिको प्राप्त हुए जीवको शरीर होता है, शरीरमे सम्बद्ध इन्द्रिया होती है, उनके द्वारा विषयग्रहण होता है, और उससे फिर राग एवं द्वेष भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकारसे गाडीके पहियेके समान संसाररूप समुद्रमे परिभ्रमण करनेवाले संसारी जीवकी अवस्था है। उक्त संसारपरिभ्रमण अभव्य जीवका अनादि-अनिधन तथा भव्य जीवका अनादि-सान्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा गया है।

श्लोक २१७ मे बाहुबलीका उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि भरतके द्वारा छोडा गया चक्र जब उनका घात न करके उन्हीकी दाहिनी भुजामे आकर स्थित हो गया तब उन्होने विरक्त होते हुए उस चक्र-रत्नसे मोह छोडकर उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उन्हें यद्यपि उसी समय मुक्त हो जाना चाहिये था, पर वे मुक्त न होकर चिर कालतक क्लेशको प्राप्त हुए हैं। सो ठीक भी है–थोडासा भी मान महती हानिको किया करता है।

उक्त बाहुबलीका उदाहरण कुन्दकुन्दाचार्यने भावप्राभृत (गा.४४) मे इस प्रकार दिया है[1]।

देहादिचत्तसगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं काल ॥

अर्थात् शरीरको आदि लेकर समस्त परिग्रहका त्याग करके भी मान कषायसे कलुषित रहनेके कारण बाहुबलीको कितने ही काल आतापनयोगसे स्थित रहने पडा–कायोत्सर्गके स्थित होते हुए भी उन्हे एक वर्ष तक मुक्ति प्राप्त नही हुई।

श्लोक ९९ में गर्भ और जन्मके दुःखको दिखलाते हुए बतलाया है कि प्राणी माताके उदररूप विष्ठागृहमें स्थित रहकर भूख-प्यासते

---

१. इस गाथाकी टीकामें श्री श्रुतसागर सूरिने आत्मानुशासनके इस (उपर्युक्त) श्लोकको 'तथा चोक्तं' कहकर उद्धृत भी किया है।

परिणामोंसे सयुक्त होनेसे कारण नवीन कर्मबन्धको करता है, उससे नरकादि गतियोमे गमन होता है, गतिको प्राप्त हुए जीवको शरीर होता है, शरीरमे सम्बद्ध इन्द्रिया होती है, उनके द्वारा विषयग्रहण होता है, और उससे फिर राग एवं द्वेष भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकारसे गाडीके पहियेके समान संसाररूप समुद्रमे परिभ्रमण करनेवाले संसारी जीवकी अवस्था है। उक्त संसारपरिभ्रमण अभव्य जीवका अनादि-अनिधन तथा भव्य जीवका अनादि-सान्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा गया है।

श्लोक २१७ मे बाहुबलीका उदाहरण देकर यह बतलाया गया है कि भरतके द्वारा छोडा गया चक्र जब उनका घात न करके उन्हीकी दाहिनी भुजामे आकर स्थित हो गया तब उन्होने विरक्त होते हुए उस चक्र-रत्नसे मोह छोडकर उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उन्हें यद्यपि उसी समय मुक्त हो जाना चाहिये था, पर वे मुक्त न होकर चिर कालतक क्लेशको प्राप्त हुए हैं। सो ठीक भी है—थोडासा भी मान महती हानिको किया करता है।

उक्त बाहुबलीका उदाहरण कुन्दकुन्दाचार्यने भावप्राभृत (गा.४४) मे इस प्रकार दिया है[1]।

देहादिचत्तसगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं काल॥

अर्थात् शरीरको आदि लेकर समस्त परिग्रहका त्याग करके भी मान कषायसे कलुषित रहनेके कारण बाहुबलीको कितने ही काल आतापनयोगसे स्थित रहने पडा—कायोत्सर्गके स्थित होते हुए भी उन्हे एक वर्ष तक मुक्ति प्राप्त नही हुई।

श्लोक ९९ में गर्भ और जन्मके दुःखको दिखलाते हुए बतलाया है कि प्राणी माताके उदररूप विष्ठागृहमें स्थित रहकर भूख-प्याससे

---

१. इस गाथाकी टीकामें श्री श्रुतसागर सूरिने आत्मानुशासनके इस (उपर्युक्त) श्लोकको 'तथा चोक्तं' कहकर उद्धृत भी किया है।

पीडित होता हुआ माताके द्वारा खाये हुए इष्ट उच्छिष्ट भोजनकी प्रतीक्षा किया करता है। वहां कीडोके साथ रहता हुआ वह स्थानके सकुचित होनेसे हाथ-पैर आदिको हिला-डुला भी नही सकता है।

इस अभिप्रायको कुन्दकुन्दाचार्यने भावप्राभृतकी निम्न गाथा (४०) में व्यक्त किया है[1]।

दियसगट्ठियमसण आहारिय मायभुत्तमण्णते।
छद्दि-खरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए॥

अर्थात् प्राणी दातोके सगमे स्थित भोजनको– माताके द्वारा दातोसे चवाये गये उच्छिष्ट अन्नको खाकर माताके उदरमे उसी भक्षित अन्नके मध्यमें तथा छर्दि (उच्छिष्ट) और खरिस ( रक्तमिश्रित अपक्व मल ) के मध्यमे निवास किया करता है[2]।

श्लोक ८९ और ९० में यह बतलाया है कि बाल्यआवस्थामें जीव हित व अहितको कुछ भी नही समझता है। उसने जो इस अवस्थामे कर्मके परवश होकर घृणित कार्य किया है वह स्मरण करनेके भी योग्य नही है। उपर्युक्त अभिप्राय भावप्राभृतकी इस गाथामे निहित है–

सिसुकाले य अयाणो असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण[3] ॥ ४१ ॥

---

१. कृमिसमूहका निर्देश भावप्राभृतकी पिछली गाथा ३९में किया गया है।

२. इस गाथाकी टीका करते हुए श्री श्रुतसागर सूरिने वहां आत्मानुशासनके इन श्लोकको उद्धृत भी किया है। यहां यह स्मरण रखनेकी बात है कि जीवको संबंधित करके जैसे भावप्राभृतमें 'वसिओ सि' मध्यम पुरुषका प्रयोग किया गया है वैसे ही आत्मानुशासनके उस श्लोकमें भी 'बिभेषि' मध्यम पुरुषका ही प्रयोग हुवा है।

३. इसकी टीका करते हुए श्री श्रुतसागर सूरिने आत्मानुशासनके ८९ वें श्लोकको उद्धृत भी किया है। ऐसी ही एक गाथा तिलोयपण्णत्तीमें भी उपलब्ध होती है–

बालत्तणम्मि गुरुग दुक्खं पत्तो यजाणमाणेण।
जोव्वणकाले मज्झे इत्थीपासम्मि संसत्तो॥ ति. प. ४. ६२६.

अभिप्राय यह है कि प्राणी बाल्यावस्थाको प्राप्त होकर अज्ञानतासे परिपूर्ण उस शैशवकालमें अशुचि (विष्ठा आदि) पदार्थके मध्यमें लोटता है-खेलता है और उसी अपवित्र पदार्थको बहुत बार खाया भी करता है[1]।

## आत्मानुशासन और भगवती-आराधना

हम यह ऊपर लिख चुके हैं कि आत्मानुशासनके श्लोक ८८ और ८९ में बाल्यावस्थाकी अज्ञानतापूर्ण प्रवृत्तिका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। उसका विशेष वर्णन भगवती–आराधनाकी निम्न गाथाओंमें उपलब्ध होता है—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि।
मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचि वि अयाणंतो ॥ १०२२ ॥
अण्णस्स अप्पणो वा सिंहाणय-खेल-मुत्त-पुरिसाणि।
चम्मट्ठि-वसा-पूयादीणि य तुंडे सगे छुभदि ॥ १०२३ ॥
जं किंचि खादि जं किंचि जं किंचि जंपदि अलज्जो।
ज किंचि जत्थ तत्थ व वोसरदि अयाणगो बालो ॥ १०२४ ॥
बालत्तणे कद सव्वमेव जजि णाम सभरिज्ज तदो।
अप्पाणम्मि दु गच्छे णिव्वेद किं पुण परम्मि ॥ १०२५ ॥

अर्थात् पवित्र-अपवित्र और कार्य-अकार्यका कुछ भी विवेक न रखनेवाला अल्पवयस्क बालक हिंसा एवं लज्जाको उत्पन्न करनेवाले अनेक कार्योंको किया करता है। वह दूसरेके और स्वय अपने भी नासिका-मल, कफ, मूत्र, मल, चमडा, हड्डी, चर्बी और पीव आदिको अपने मुंहमें डाला करता है। वह अज्ञान बालक लज्जारहित होकर कुछ भी खाता है, कुछ भी करता है, कुछ भी बोलता है, तथा जहां कहीं भी मल-मूत्र आदिको भी किया करता है। उस बाल्यावस्थामे जो कुछ भी किया गया है उसका स्मरण मात्र भी विरक्तिको उत्पन्न करनेवाला है।

---

१. इनके अतिरिक्त श्लोक ११० मोक्षप्राभृतकी १२ वी, श्लोक १६१ मोक्षप्राभृतकी २० वी, श्लोक १६७ मोक्षप्राभृतकी ७८ वीं तथा श्लोक १९३ मोक्षप्राभृतकी ५ वीं गाथासे प्रभावित प्रतीत होते हैं।

यहां श्लोक ९० का प्रथम चरण (बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितम्) विशेष ध्यान देने योग्य है। वह भगवती आराधनाकी १०२५ वी गाथासे विशेष प्रभावित दिखता है।

आत्मानुशासन (१२६-१३६) मे सत्पुरुषोंको विरक्त करानेकी इच्छासे स्त्रियोके कुछ दोष दिखलाते हुए उन्हे दृष्टिविष सर्पसे भी भयानक, क्रोधी, प्राणघातक, निरौषधविष, ईर्ष्यालु, बाह्यमे ही रमणीय, विषयानुरागको उत्पन्न करनेवाली तथा दूषित शरीरकी धारक बतलाया है। ऐसे ही उनके अनेक दोष उक्त भगवती आराधना (गा. ९३८-९०) मे भी दिखलाये गये है। विशेषता यह पायी जाती है कि आगे चलकर वहा यह स्पष्ट कह दिया है कि स्त्रियोके इन निर्दिष्ट तथा अन्य अनिर्दिष्ट भी दोषोका विचार करनेसे उन्हे विष व अग्निके समान सतापजनक जानकर–पुरुषका चित्त उद्वेगको प्राप्त होता है तब वह जैसे व्याघ्रादिके दोषोको जानकर उनका परित्याग करता है वैसे ही वह महिलाओके दोषोको देखकर उनका भी परित्याग करता है[1]। इसके पश्चात् वहा यह भी निर्देश कर दिया है कि जो दोष महिलाओके सम्भव हैं वे तथा उनकी अपेक्षा और भी कुछ अधिक दोष उन नीच पुरुषोके भी हो सकते हैं, क्योकि, वे उनकी अपेक्षा अधिक बल एव शक्तिसे सयुक्त होते हैं। जिस प्रकार अपने शीलकी सरक्षण करनेवाले पुरुषोंके लिये स्त्रिया निन्दित हैं उसी प्रकार अपने उस शीलकी रक्षा करनेवाली स्त्रियोके लिये पुरुष भी निन्दित हैं। कारण यह कि जिनकी कीर्ति दिशाओमे विस्तृत है तथा जो अनेक गुणोंसे विभूषित है ऐसे भी स्त्रिया लोकमे सम्भव हैं। वे मनुष्यलोककी देवता है, उसकी वन्दना स्वय देव भी आकर किया करते है। उत्तम देव-मनुष्योसे पूजित वे

---

१. एए अण्णे बहु (हू) दोसे महिलाकदे विचिंतयदो।
महिलाहिंतो विं चित्तं उव्वियदि विसग्गि-सर (रि) सीहिं॥
वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो।
तह महिलाणं दोसे दट्ठुं महिलाओ परिहरइ॥ भ. ९

महिलायें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलदेव और गणधर जैसे पुरुषरत्नोको उत्पन्न करनेवाली है[1]।

## आत्मानुशासन और समन्तभद्र-साहित्य

प्रस्तुत ग्रन्थके ऊपर समन्तभद्राचार्यके ग्रन्थोंका भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे--

श्लोक ५८ मे संसारके स्वरूपको दिखलाते हुए बतलाया है कि प्राणीको मृत्युसे भय रहता है, परन्तु वह निरन्तर होती अवश्य है (मृते. प्रतिभय शश्वन्मृतिश्च ध्रुवम्)। इसपर स्वयभूस्तोत्रके निम्न पद्य (३४) का प्रभाव स्पष्ट दिखता है--

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्य शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भय-कामवश्यो वृथा स्वय तप्यत इत्यवादीः ॥

श्लोक १०७ मे भव्य जीवको प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि तू दया, दम, त्याग एव समाधिके मार्गमे--जैन मतमे--जानेका सरलतापूर्वक प्रयत्न कर। इससे तू अनिर्वचनीय एव निर्विकल्प उस परम पदको अवश्य पा लेगा। यहा 'दयादमत्यागसमाधिसंततेः' का आधार युक्त्यनुशासनका निम्न श्लोक रहा है---

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठ नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ ६ ॥

---

१. महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं।
तत्तो अहियदरा वा तेसिं बल-सत्तिजुत्ताणं ॥
जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ।
तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥
किं पुण गुणसहिदाओ इत्थीओ अत्थि वित्थडजसाओ।
णरलोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥
तित्थयर-चक्कधर-वासुदेव-बलदेव-गणधरवराणं।
जणणीओ महिलाओ सुर-णरवरेहिं महियाओ ॥ भ. ९९३-९६.
इस प्रकार उनकी प्रशंसा वहां आगे भी गा. १००२ तक की गई है।

श्लोक १७१ में बतलाया है कि जीवादि प्रत्येक पदार्थ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा तत्स्वरूप–विवक्षित जीव आदि स्वरूप भी है तथा परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह अतत्स्वरूप–अजीव आदि स्वरूप– नही भी है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतासे विचार करनेपर उसका अन्त नही आता[1]।

इस विषयकी विशेष प्ररूपणा स्वामी समन्तभद्रने देवागमस्तोत्रमें विस्तारसे की है। यथा—

कथंचित् ते सदेवेष्ट कथचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥
क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तरा' शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुत. ॥ १६ ॥

अर्थात् हे भगवन्! आपको जीव आदि विवक्षित पदार्थ कथचित् सत् ही इष्ट है, कथचित् असत् ही इष्ट है, कथचित् उभय (सत्असत्) ही इष्ट है, और कथचित् अवक्तव्य ही इष्ट है। यह सब आपको नयके सम्बन्धसे ही इष्ट है, न कि सर्वथा। कारण कि ऐसा कौन-सा बुद्धिमान् है जो स्वरूपचतुष्टयसे–अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा–वस्तुको सत् ही न माने तथा इसके विपरीत पररूपचतुष्टयसे-दूसरेके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा–उसे असत् ही न माने। यदि ऐसा नही मानता है तो फिर वह वस्तुस्वरूपकी व्यवस्था भी नही कर सकता है– ऐसा माननेके विना चेतन व अचेतन आदि पदार्थोंकी पृथक् पृथक् व्यवस्था नही वन सकती है। क्रमसे विवक्षित स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा वह वस्तु उभय (सत्-असत्) ही है। कारण कि शब्दके द्वारा जब कभी भी वस्तुका कथन किया जाता है तब वह

---

१. इसका विशेष विवेचन तत्त्वार्थवार्तिक (१, ६, ५ और ४, ४२, १५.) आदिमें भी किया गया है।

क्रमसे ही किया जाता है। स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा युगपत् विवक्षामे वस्तु अवक्तव्य ही है, क्योकि स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी अपेक्षा एकसाथ शब्दके द्वारा वस्तुका कथन करना अशक्य है। ये चार भग हुए। इस अवक्तव्य भंगके साथ अपने अपने हेतुसे शेष तीन भंग और भी सभव है। जैसे--स्वचतुष्टयकी अपेक्षा होनेपर एक साथ चूकि वस्तुका कथन नहीं किया जा सकता है अतएव वह कथचित् सत् अवक्तव्य ही है। परचतुष्टयकी अपेक्षा होनेपर चूकि उसे कहा नही जा सकता है अतएव वह कथचित् असत् अवक्तव्य ही है। क्रमसे स्व-परचतुष्टयकी अपेक्षा होनेपर चूकि एकसाथ उसे नही कहा जा सकता है अतएव वह कथचित् सत् असत् अवक्तव्य ही है। आत्मानुशासनके उपर्युक्त श्लोकमें इसी सप्तभगीकी सूचना की गई है।

इसके आगे १७२ वे श्लोकके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (सत्) स्वरूप है, क्योंकि, इसके विना उसमे एकसाथ जो भेद और अभेदका निर्बाध ज्ञान होता है वह सगत नही हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचनकी आधारभूत देवागमकी निम्न कारिकायें सही प्रतीत होती हैं—

> न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
> व्येत्युदेति विशेषात् ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥
> कार्योत्पाद· क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
> न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥
> घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥
> पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
> अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते है कि हे भगवन्! आपके मतमें कोई भी वस्तु सामान्य स्वरूपसे– द्रव्यकी अपेक्षा– न तो उत्पन्न होता है

और न नष्ट भी होती है, क्योंकि, उन दोनों ही अवस्थाओंमें स्पष्टतया सामान्य स्वरूपका अन्वय देखा जाता है–सुवर्णघटको नष्ट करके उससे बनाये गये मुकुटमे भी उस सुवर्णका अस्तित्व पाया जाता है। (इससे वस्तुमे ध्रौव्य या नित्यताकी सिद्धि होती है।) वस्तु जो नष्ट और उत्पन्न होती है वह विशेष (पर्याय) की अपेक्षा होती है। इस प्रकार एक ही वस्तुमे एक साथ ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय इन तीनोके रहनेका नाम सत् या द्रव्य है[१]। हेतु (उपादान कारण) के नाशका नाम ही कार्यकी उत्पत्ति है, क्योकि, उन दोनोके एक हेतुताका नियम है–जो दण्ड घटके विनाशका हेतु होता है वही ठीकरोंकी उत्पत्तिका भी हेतु हुआ करता है। परन्तु अपने अपने असाधारण लक्षणकी अपेक्षा वे दोनो–विनष्ट घट और उत्पन्न ठीकरे–भिन्न ही होते है। इस प्रकार लक्षणसे भिन्न होनेपर भी वे दोनो सर्वथा भिन्न नही है– कथंचित् अभिन्न भी हैं, क्योकि, उनमें मिट्टी या सुवर्णत्व जाति आदिका अवस्थान देखा जाता है। ये तीनो परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तुमें रहते हैं, अन्यथा उनका आकाशकुसुमके समान सद्भाव ही नही रह सकेगा। इसको स्पष्ट करनेके लिये वहां ये दो उदाहरण दिये गये है–

१. क्रमसे घट, मुकुट और सुवर्णमात्रके अभिलाषी तीन व्यक्ति किसी सुनारके यहां जाते हैं। उस समय उन्हें सुनार घटको तोडकर मुकुटको बनाता हुआ दिखता है। यह देखकर घटका अभिलाषी खिन्न और मुकुटका अभिलाषी हर्षित होता है। परन्तु सुवर्णसामान्यका अभिलाषी व्यक्ति न तो खिन्न होता है और न हर्षित भी, वह मध्यस्थ रहता है, यह अवस्था उनकी निर्हेतुक नही है। इससे प्रगट है कि घट और मुकुटमें जैसे पर्यायकी अपेक्षा भेद है वैसे द्रव्य (सुवर्ण) की अपेक्षा भेद नही है–सुवर्णसामान्यकी अपेक्षा वे दोनो अभिन्न हैं।

२ जिस व्यक्तिने यह नियम किया है कि मै आज दूधको ही ग्रहण करूगा वह दहीको नही खाता है, जिसने यह नियम किया है कि मै आज दहीको ही लूगा वह दूधको नही लेता है, तथा जिसने यह

---

१. सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। त.सू. ५.२९-३०

नियम लिया है कि मैं आज गोरसको ग्रहण नही करूगा वह दूध और दही दोनोंको ही नही ग्रहण करता है। इस प्रकार गोरस (सामान्य) स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी जब दूध और दही ये दोनो अवस्थाविशेषसे भिन्न समझे जाते हैं तभी उक्त तीनो व्यक्तियोका वैसा आचरण सगत होता है। इससे सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों स्वरूप है।

इसके पश्चात् १७३ वे श्लोकमे यह कहा गया है कि वस्तु न नित्य है, न क्षणनश्वर (क्षणिक) है, न ज्ञानमात्र है और न अभाव स्वरूप (शून्य) भी है, क्योंकि, वैसी निर्बाध प्रतीति नही होती है, जैसी कि निर्बाध प्रतीति होती है तदनुसार वस्तु कथचित् नित्यानित्यादि-स्वरूप ही सिद्ध होती है। यह अवस्था जैसे एक वस्तुकी है वैसे ही वह अनादिअनन्त समस्त वस्तुओकी ही समझना चाहिये।

इस संक्षिप्त विवेचनका आधार भी वह देवागमस्तोत्र रहा है[1]। वहा ३७–५४ कारिकाओंमें नित्यत्व और अनित्यत्व एकान्तवादोका निराकरण करके ५६ वी कारिका द्वारा कथचित् नित्यानित्यत्वको सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार २४–२७ कारिकाओमे सामान्य अद्वैतवादका निराकरण करके ७९-८० कारिकाओके द्वारा विज्ञानाद्वैतका तथा १२ वी कारिकाके द्वारा अभावरूपता (शून्यैकान्त) का निषेध किया है।

## आत्मानुशासन व पूज्यपादसाहित्य

इष्टोपदेश और समाधिशतक ये दो ग्रथ आध्यात्मिक है जो पूज्यपाद स्वामीके द्वारा रचे गये हैं। इन दोनों ही ग्रथोका प्रभाव आत्मानुशासनपर दृष्टिगोचर होता है यथा—

आत्मानुशासनके ४५ वें श्लोकमे यह बतलाया है कि जिस प्रकार नदियां कभी शुद्ध जलसे परिपूर्ण नही होती है, किन्तु नालियो आदिके

१. स्वामी समन्तभद्रविरचित युक्त्यनुशासनमें भी श्लोक १८-२४ में विज्ञानाद्वैतका, ८-९ श्लोकोंमें नित्यत्वका, ११-१७श्लोकोंमें क्षणिकत्वका तथा २५ वें श्लोकमें अभावैकान्त (शून्यवाद) का विचार किया गया है।

गंदले पानीसे ही वे परिपूर्ण होती है, उसी प्रकार शुद्ध धनसे कभी सत्पुरुषोके भी सम्पत्ति नही बढती है, किन्तु वह अन्यायोपार्जित धनसे ही वढती है जो सत्पुरुषोको इष्ट नही है। इस अन्यायोपार्जित धनकी निन्दा इष्टोपदेशमें इस प्रकारसे की गई है–

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त. सचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति[1] ॥ १६ ॥

अभिप्राय यह है कि जो निर्धन व्यक्ति यह सोचकर धनका संचय करता है कि मै उससे पुण्यवर्धक दानादि सत्कार्योको करूगा उसका ऐसा करना उस मूर्खके समान है जो यह सोचकर कि मै स्नान करूंगा, अपने निर्मल शरीरको कीचडसे लिप्त करता है। कारण यह कि धनका संचय कभी न्यांय्य वृत्तिसे नही हुआ करता है।

श्लोक ५० में जीवको सबोधित करके यह कहा गया है कि जिस विषयसुखको विषयी जनोने भोगकर विरक्त होते हुए छोड दिया है उसीको तू उच्छिष्ट (वान्ति) के समान फिर भी भोगना चाहता है। इसमें तुझे ग्लानि नही होती? जवतक तू उस विषयतृष्णाको नष्ट नही करता है तवतक तुझे शान्ति प्राप्त नही हो सकती है। यह भाव प्रकारान्तरसे इष्टोपदेशके निम्न श्लोकमें भी निहित है—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुग्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

आशय इसका यह कि अनादि कालसे ससारमें परिभ्रमण करते हुए मैने सव पुद्गलोंको वार वार भोगकर छोड दिया है। फिर जव आज वह विवेक उत्पन्न हो चुका है तव उच्छिष्टके समान उन्ही पुद्गलोको फिरसे भोगनेकी इच्छा मुझे क्यो करना चाहिये? नही करना चाहिये।

---

१. इस श्लोककी टीका करते हुए पण्डितप्रवर आशाधरजीने यहां आत्मानुशासनके उक्त श्लोकको उद्धृत भी किया है।

श्लोक ११० में[1] यह उपदेश दिया गया है कि हे भव्य ! तू यह समझ कि यहा ससारमे मेरा कुछ भी नही है। यदि तू इस प्रकारसे रहता है तो शीघ्र ही तीनो लोकोंका स्वामी (परमात्मा) हो जावेगा। यह वह परमात्माका रहस्य है जिसे केवल योगी ही जानते है, अन्य कोई भी नही जानता। इस प्रकार यहा निर्ममत्व भावको मोक्षका कारण वतलाकर उसे स्वीकार करनेका प्रेरणा की गई है। अब इष्टोपदेशके निम्न पद्यको देखिये कितनी समानता है–

बध्यते मुच्यते जीव· सममो निर्मम· क्रमात् ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन निर्ममत्व विचिन्तयेत्[2] ॥ २६ ॥

इसमें भी यही बतलाया गया है कि समम जीव–शरीर एवं अन्य बाह्य पदार्थोमें ममत्वबुद्धि रखनेवाला प्राणी–कर्मबधको प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत निर्मम जीव–मेरा यहा कुछ भी नही और न मै भी किसीका हूं, इस प्रकारकी ममत्वबुद्धिसे रहित हुआ भव्य जीव-मुक्तिको प्राप्त होता है। इसीलिये प्रयत्नपूर्वक उस निर्ममत्व भावका अकिंचनताका–चिन्तन करना चाहिये। यही बात समाधिशतकके निम्न श्लोकमे भी कही गई है–

परत्राहमति· स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसशयम् ।
स्वस्मिन्नहंमतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥ ४३ ॥

अर्थात् शरीरादि परपदार्थोमे 'अह' बुद्धिको रखनेवाला अज्ञानी प्राणी तो निश्चयत· कर्मको बाधता है तथा आत्मामें आत्मबुद्धि रखनेवाला विवेकी जीव नियमतः उस कर्मसे छुटकारा पाता है।

१७५ वे श्लोकमे यह बतलाया है कि ज्ञानभावनाके चिन्तनका फल प्रशस्त अविनश्वर ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति है परन्तु अज्ञानी जन मोहके प्रभावसे उसका फल लाभ-पूजादिमें खोजते है। इसपर इष्टोपदेशके निम्न पद्यका प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

---

१. इसके अतिरिक्त १८०-१८१ और २४३-४४ श्लोकोंको भी देखिये, उनमें भी यही भाव निहित है।

२ इसकी टीकामें पं आशाधरजीने उक्त श्लोकको उद्धृत भी किया है।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञान ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वच.[1] ॥ २३ ॥

अर्थात् अज्ञान एवं अज्ञानी जनकी उपासना अज्ञानको तथा ज्ञानमय निज आत्मा और ज्ञानी गुरु आदिकी उपासना ज्ञानको देती है। ठीक है—जो जिसके पास होता है उसे ही वह देता है, यह एक प्रसिद्ध उक्ति है।

श्लोक १७८–७९ में जीवको मथानी तथा उसमें लपेटी जानेवाली रस्सी (नेती) के दोनो छोरोको राग-द्वेपके समान वतलाकर यह कहा गया है कि जिस प्रकार मथानीमें लिपटी हुई रस्सीको जवतक एक ओरसे खीचते तथा दूसरी ओरसे ढीली करते रहते हैं तवतक वह रस्सी वधती व उकलती रहती है तथा मथानी भी तवतक घूमती ही रहती है। उसी प्रकार जीव जवतक एकसे राग और दूसरेसे द्वेप करता है तवतक रस्सीके समान उसका कर्म वधता और उकलता (सविपाक निर्जरासे निर्जीर्ण होता) रहता है तथा जीव भी तवतक संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करता ही रहता है। परन्तु जव उस रस्सीको एक ओरसे ढीली करके दूसरी ओरसे पूरा खीच लिया जाता है तव जिस प्रकार उसका वंधना व उकलना तथा मथानीका घूमना भी वद हो जाता है उसी प्रकार राग-द्वेपको छोड देनेसे कर्मका वधना और फल देकर निर्जीर्ण होना तथा जीवका ससार परिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। यह विवेचन इष्टोपदेशके निम्न श्लोकसे कितना अधिक प्रभावित है, यह ध्यान देनेके योग्य है—

राग-द्वेपमयी-दीर्घनेत्राकर्पणकर्मणा ।
अज्ञानात् सुचिर जीव. ससाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

यहा उसी मथानीका दृष्टान्त देकर राग-द्वेपरूप लवी रस्सीके खीचनेसे जीव ससार-समुद्रमें अपनी अज्ञानताके वश चिरकालतक परिभ्रमण किया करता है, यही भाव दिखलाया गया है।

---

१ इसकी टीकामें पं. आशाधरजीने उक्त श्लोकको उद्धृत भी किया है।

श्लोक १८२ मे कहा गया है कि जिस प्रकार बीजसे मूल और अकुर उत्पन्न होते है उसी प्रकार मोहरूप बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसीलिये जो उनको नष्ट करना चाहता है उस मोहबीजको ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जला देना चाहिये। अब इसे मिलता-जुलता यह समाधि-शतकका श्लोक देखिये—

यदा मोहात् प्रजायेते राग-द्वेषौ तपस्विन:।
तदैव भावयेत् स्वस्थमात्मान शा (सा) म्यत. क्षणात् ॥ ३९ ॥

श्लोक २३९-४० में बतलाया है कि शुभ, पुण्य और सुख ये तीन हितकारक होनेसे अनुष्ठेय तथा अशुभ, पाप और दुख ये तीन अहितकारक होनेसे हेय हैं। इन तीनों हेयोमेसे प्रथम अशुभका त्याग कर देनेसे शेष दो—पाप और दुख—स्वयमेव नष्ट हो जाते है, क्योंकि, वे दोनों उस अशुभके अविनाभावी हैं। अन्तमें फिर योगी शुद्धके निमित्त उस शुभको भी छोडकर परम पदको प्राप्त हो जाता है। यह भाव समाधि शतकके निम्न दो श्लोकोमें व्यक्त किया गया है—

*अपुण्यमव्रतै: पुण्य व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।*
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ ८३ ॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठित ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मन: ॥ ८४ ॥

अर्थात् अव्रतोसे— हिंसादिरूप अशुभ प्रवृत्तिसे— पाप तथा व्रतोंसे— अहिंसादिरूप शुभ आचरणसे— पुण्य होता है। उक्त दोनों (पाप-पुण्य) के अभावका नाम मोक्ष है। इसलिये मुमुक्षु जीवको अव्रतोके समान व्रतोको भी छोड देना चाहिये। वह अव्रतोको छोडकर व्रतोंमें निष्ठित होवे और तत्पश्चात् अपने परम पदको प्राप्त होकर उन व्रतोंको भी छोड दे।

## आत्मानुशासनपर श्वे. आगमोंका प्रभाव

प्रस्तुत ग्रन्थके भीतर श्लोक १० में सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेदोका निर्देश मात्र करके उसके गुण और दोषोको दिखलाते हुए उसे ससारनाशक बतलाया गया है। इसके आगे श्लोक ११ मे पूर्वनिर्दिष्ट

उन दस भेदोंका नामनिर्देश करके श्लोक १२-१४ द्वारा उनका पृथक् पृथक् स्वरूप भी बतलाया गया है। ये दस भेद आत्मानुशासनके पूर्ववर्ती दिगम्बर ग्रन्थोमें कहा और किस प्रकारसे पाये जाते हैं, इसके खोजनेका मैंने यथासम्भव कुछ प्रयत्न किया है। परन्तु वे मुझे उपलब्ध नही हो सके। ये दस भेद लगभग इसी रूपसे 'पन्नवणासुत्त' आदि आगम ग्रथोमें अवश्य पाये जाते हैं। यथा—

निसग्गुवएसरुई आणरुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया-सखेव-धम्मरुई[1] ॥
पन्नवणा १, ७४ (सुत्तागमे २, पृ २८६)

इस गाथाके अनुसार वे दस ये हैं - निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, सक्षेपरुचि और धर्मरुचि।

इस प्रकार आज्ञासम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीज-सम्यक्त्व, सक्षेपसम्यक्त्व और विस्तारसम्यक्त्व ये छह सम्यक्त्वभेद तो दोनो ग्रन्थोमे समानरूपसे पाये जाते हैं। किन्तु पन्नवणामें मार्गसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व इन चार भेदोके स्थानमें निसर्गरुचि, अभिगमरुचि, क्रियारुचि और धर्मरुचि ये चार भेद पाये जाते है।

श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी कहा गया है कि इस सम्यक्त्वको उपाधिभेदसे दस प्रकारका भी सम्यक्त्व इन भेदोसे—पूर्वोक्त औपशमादि भेदोसे अभिन्नस्वरूप है[2]।

---

१. आत्मानुशासनमे रुचिके समानार्थक विरुचित, श्रद्धा, दृष्टि और उस रुचि शब्दका भी प्रयोग हुआ है।

२. किं चेहुवाहिभेया दसहावीमं परूवियं समए।
ओहेण तंपिमेसिं भेयाणमभिन्नरूव तु ॥ श्रा. प्र. ५२.
इसकी टीकामें श्री हरिभद्रसूरिने 'यथोक्तं प्रज्ञापनायाम्' लिखकर पन्नवणाकी उक्त गाथाको उद्धृत किया है।

श्री गुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनके समान उत्तरपुराणमें भी इन दस सम्यक्त्वके भेदोंकी प्ररूपणा की[1]। है इसके उत्तरकालीन गन्थोमें ये दस भेद प्राय· आत्मानुशासनके उक्त १० वें श्लोकको उद्धृत करके प्ररूपित हुए देखे जाते है[2]।

## आत्मानुशासन और सुभाषितत्रिशती

योगिराज श्री भर्तृहरिने सुभाषितरूपसे शतकत्रयकी रचना की है। इनमे प्रथम सौ श्लोकोंमें नीति, आगेके सौ श्लोकोमे शृंगार तथा अन्तिम सौ श्लोकोंमे वैराग्यका वर्णन किया है। रचना प्रौढ, अलंकारोसे अलंकृत एव आकर्षक है। आत्मानुशासनकी रचनामे श्री गुणभद्राचार्यने इसका उपयोग किया है, ऐसा ग्रन्थके अन्त परीक्षणसे प्रतीत होता है। *यथा*—

आत्मानुशासनमे जो '*नेता यत्र*[3] वृहस्पतिः' इत्यादि श्लोक (३२) आया है वह तथा '*यदेतत् स्वच्छन्द*' आदि श्लोक (६७) भी उपर्युक्त सुभाषितत्रिशतीमें (नी. श. ८१ और वै श. ८२) जैसाका तैसा उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कितने ही श्लोकोंमें शब्द, अर्थ अथवा दोनोसे भी समानता पायी जाती है। जैसे—

श्लोक १२७ मे स्त्रीस्वभावका वर्णन करते हुए उन्हें सर्पसे भी भयानक बतलाया है। हेतु यह दिया है कि सर्प तो क्रुद्ध होकर किसी विशेष समयमे ही काटता है तथा उसके विषकी विनाशक औषधिया भी बहुत पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त उसके काट लेनेपर एकमात्र इसी जन्ममे कष्ट होता है। परन्तु स्त्रिया क्रोध और प्रसन्नता दोनो ही अव-

---

१. उत्तरपुराण ७४, ४३९-४९.

२. यशस्तिलक (उत्तर खण्ड) पृ. ३२३, श्रुतसागरसूरिविरचित तत्त्वार्थवृत्ति १-७.; एवं दर्शनप्राभृतटीका गा. १२.; पण्डितप्रवर श्री आशाधरजीने एक स्वतन्त्र श्लोकके द्वारा इन दस भेदोंका उल्लेख किया है—

आज्ञा-मार्गोपदेशार्थ-बीज-संक्षेप-सूत्रजाः।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक् ॥ अ. ध. २, ६२.

३. नि. सा. द्वारा मुद्रित प्रथम गुच्छकमें 'यस्य' पाठ है।

स्थाओंमे काटती है–प्राणियोंको सतप्त करती है, तथा उनके विपकी विनाशक कोई औषधि भी नही है। इसके अतिरिक्त उनके काटनेपर इस लोक और पर लोक दोनोंमें ही प्राणियोंको सताप होता है। दूसरे, वे उन महान् ऋषियोको[1] भी काटती है–मोहित करती है–कि जिनसे सर्प भी भयभीत रहा करते है। अब शृंगारशतकका यह श्लोक भी देखिये––

> अपसर सखे दूरादस्मात् कटाक्ष-विषानलात्
> प्रकृतिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलास- फणाभृतः।
> इतरफणिना दष्ट· शक्यश्चिकित्सितुमौषधै–
> श्चतुरवनिता-भोगिग्रस्त त्यजन्ति हि मन्त्रिणः॥ ५२॥

इसमे भी स्त्रीको सर्पके समान वतलाकर उसे स्वभावतः कुटिल, कटाक्षरूप विषाग्निकी ज्वालासे सयुक्त और विलासरूप फणको धारण करनेवाली कहा है। साथमें यह भी वतलाया है कि लोक प्रसिद्ध सर्पके द्वारा काटे गये प्राणीकी औषधियोके द्वारा चिकित्सा भी की जा सकती है, परन्तु चतुर स्त्रीरूप सर्पके द्वारा काटे गये प्राणीको असाध्य समझकर मान्त्रिक जन भी छोड देते हैं। इसलिए हे मित्र! तू उक्त स्त्रीरूप सर्पसे दूर रह।

श्लोक १२९ में स्त्रियोको सरोवरके समान निर्दिष्ट करके उन्हे हास्यसे निर्मल एवं तरगोके समान अस्थिर सुखको उत्पन्न करनेवाले जलसे परिपूर्ण तथा मुखरूप कमलोसे वाह्यमें रमणीय वतलाया है। साथ ही यह भी सूचना कर दी है कि वहां पानी पीनेकी इच्छा करने-वाले वहुत-से अज्ञानी जन किनारेपर ही भयानक विषयोरूप मगर-मत्स्योके ग्रास बनकर नष्ट हो चुके हैं और फिर वहासे नही निकले है। यह आशय प्रायः शृंगार-शतकके निम्न श्लोकमे देखा जाता है–

---

१ विश्वामित्र-पराशरप्रभृतयो वाताम्बु-पर्णाशना–
स्तेऽपि स्त्रीमुख-पङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गतः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुत ये भुञ्जते मानवा–
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यः प्लवेत् सागरे॥ शृं. श. ८०

उन्मीलत्त्रिवलीतरंगनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्गतचक्रवाकयुगला वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रूरात्र नापेक्ष्यते
संसारार्णवमज्जनं यदि तदा दूरेण सत्यज्यताम् ॥ ४९ ॥

अर्थात् स्त्रीके आकारको धारण करनेवाली यह क्रूर नदी उत्पन्न होनेवाली त्रिवलीरूप तरगोंसे सहित, स्तनोंरूप चक्रवाके पक्षियुगलसे सयुक्त और मुखरूप कमलसे शोभायमान है। इसलिये यदि संसाररूप समुद्रमे निमग्न होनेकी इच्छा नही है तो उसे दूरसे ही छोड देना चाहिये।

आगे १३० वे श्लोकमें बतलाया है कि दुष्ट इन्द्रियरूप शिकारियोके द्वारा मनुष्यरूप मृगादिकोके निवासस्थानके चारो ओर प्रज्वलित की गई रागरूप अग्निसे सतप्त होकर ये मनुष्यरूप मृगरक्षाकी इच्छासे स्त्रीके मिषसे बनाये गये कामरूप व्याधके घातस्थानको प्राप्त होते हैं।

इसके सदृश श्रृंगारशतकमें यह श्लोक उपलब्ध होता है—

विस्तारित मकरकेतनधीवरेण स्त्रीसज्ञित बडिशमत्र भवाम्बराशौ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्य-मत्स्यान् विकृष्य विपचत्यनुरागवन्हौ॥५३।

इसका अभिप्राय यह है कि कामरूप धीवरने मनुष्योंरूप मत्स्योंको फसानेके लिये इस ससाररूप समुद्रमें स्त्रीनामधारी काटेको विस्तृत किया। उसके द्वारा वह स्त्रीरूप कांटेको अधरोष्ठरूप मांसखंडके लोलुपी मनुष्योरूप मछलियोको शीघ्र ही पकडकर उन्हे अनुरागरूप अग्निमें पकाता है।

इन दोनो श्लोकोंके तात्पर्यमें कोई भेद नही है। विशेषता यदि है तो वह इतनी ही है कि जहा आत्मानुशासनमें स्त्रीको कामरूप व्याधके द्वारा निर्मित मनुष्यरूप मृगोका घातस्थान बतलाया गया है वहां श्रृंगार शतकमें उसे कामरूप धीवरके द्वारा विस्तारित ऐसा मनुष्यरूप मछलियोंको फसानेवाला काटा बतलाया गया है।

आत्मानुशासनके उपर्युक्त श्लोकमे इद्रियोको रागरूप अग्निको जलाकर मनुष्योको सन्तप्त करनेवाले शिकारियोके समान बतलाया है। वे इन्द्रिया किस प्रकारके रागको उत्पन्न करती हैं, इसके लिये श्रृगार शतकका यह श्लोक देखिये—

इह हि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽय
स्फुरित परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम् ।
इति हृतपर मार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥ ३६ ॥

अर्थात् स्त्रियोंमे कानोको सुखप्रद मधुरगीत, नेत्रोको मुग्ध करनेवाला यह नृत्य, जिव्हाको सन्तुष्ट करनेवाला यह रस (अधरामृत) नासिकाको मुदित करनेवाला वह कर्पूरादिके लेपनका सुन्दर गन्ध और यह स्पर्शन इन्द्रियको हर्षित करनेवाला स्तनोंका स्पर्श है। इस प्रकार मानकर परमार्थसे पराङ्मुख हुई इन धूर्त पाचो इन्द्रियोके द्वारा भ्रमणको प्राप्त अपने अपने विषयमे आसक्त–कराया जानेवाला मैं ठगा गया हू।

श्लोक १५१ मे साधुको लक्ष्य करके यह कहा गया है कि तेरे पास गृहके स्थानमें रहनेके लिये गुफाये विद्यमान है, पहिननेके लिये दिशारूप वस्त्र है, इष्ट भोजन तपकी वृद्धि है, अर्थ ( धन, के स्थानमे आगमका अर्थ ( रहस्य ) है, तथा कलत्रके स्थानमें उत्तमोत्तम गुण हैं। इस प्रकार तेरे लिये मागनेके कुछ भी शेष नही है। अतएव तू व्यर्थमे याचनाको प्राप्त न हो। इसकी तुलना वैराग्यशतकके इस श्लोकसे कीजिये—

पाणिः पात्र पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपल तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषा नि.सगताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसतोषिणस्ते
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ ९९ ॥

यहां भी यही बतलाया है कि जिन साधुओके पास अपना हाथ ही पवित्र पात्र है, भ्रमणसे प्राप्त हुआ भैक्ष भोजन है, विस्तृत दश दिशाये वस्त्र हैं, तथा पृथिवी ही स्थिर व विशाल शय्या है, इस प्रकार जो अपरिग्रह व्रतको स्वीकार करनेसे परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए अपने मनसे सन्तुष्ट रहते है और इसीलिये जिन्होने दीनताको उत्पन्न करनेवाले व्यतिकरका परित्याग कर दिया है ऐसे वे साधू धन्य है और वे ही कर्मका निर्मूलन करते हैं।

श्लोक २६० मे कहा गया है कि जो साधु अतिशय वृद्धिगत तपके प्रभावसे प्राप्त हुई ज्ञान-ज्योतिके द्वारा अन्तस्तत्त्वको जानकर प्रसन्नताको प्राप्त है तथा वनके भीतर ध्यानावस्थामे हरिणियोके द्वारा विश्वासपूर्वक देखे जाते है वे साधु धन्य हैं। ऐसे ही धीर साधु अपने अलौकिक आचरणके द्वारा चिरकाल तक दिनोको बिताया करते हैं। अब वैराग्यशतकसे इस श्लोकको भी देखिये--

गङ्गातीरे हिमगिरीशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रा गतस्य ।
किं तैर्भाव्य मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥ ९८ ॥

यहां योगी विचार करता है कि गगा नदीके किनारे हिमालय पर्वतकी शिलाके ऊपर पद्मासनसे स्थित होकर आत्मध्यानके अभ्यासकी विधिसे योगनिद्राको प्राप्त हुए मेरे क्या वे उत्तम दिन कभी नही होंगे कि जिनमे वृद्ध हिरणनिर्भय होकर मेरे शरीरसे अपने शरीरको खुजलावेगे।

उपर्युक्त दोनो ही श्लोकमे ध्यानकी वह उत्कृष्ट अवस्था निर्दिष्ट की गई है कि जिसमे निर्भय एवं निरीह योगीके स्थिर शरीरको देखकर हिरण हिरणियोको यह कल्पना भी नही होती है कि यह कोई मनुष्य है। इसीलिए वे निर्भय होकर अपने शरीरको उसके शरीरसे रगडने लगते हैं।

इसी प्रकार आत्मानुशासनके २५९ वे श्लोकमे जिस निर्ममत्व एवं समताभावको अकित किया गया है वह वैराग्यशतकके ९१ और ९४--९६ श्लोकोमे दृष्टिगोचर होता है।

## आत्मानुशासन और आयुर्वेद

प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता श्री गुणभद्राचार्य केवल सिद्धान्त एव न्याय-व्याकरणादि विषयोंमे ही पारगत नही थे, बल्कि वे आयुर्वेदके भी अच्छे ज्ञाता थे; यह उनके इसी ग्रन्थसे सिद्ध होता है। उन्होने ग्रंथके प्रारभमे यह कह दिया है कि यहा जो उपदेश दिया जा रहा है वह यद्यपि सुननेके समय कुछ कटुक प्रतीत होगा, तो भी उसका फल मधुर होगा।

इसीलिये जिस प्रकार रोगी मनुष्य तीक्ष्ण ( अतिशय कडवी ) औषधिसे भयभीत नही होता है उसी प्रकार आत्महितैषी भव्य जीवोको इससे भयभीत नही होना चाहिये ।

आगे श्लोक १६ १७ मे मिथ्यात्वरूप घातक व्याधिसे पीडित भव्य जीवकी अज्ञान बालकके समान सुकुमार क्रिया करनेका निर्देश करके यह बतलाया है कि जिस प्रकार विषम भोजनसे उत्पन्न हुए ज्वरसे पीडित एह तीव्र प्यासका अनुभव करनेवाले क्षीणशक्ति रोगीके लिये सुपाच्य पेय ( दूध व फलोंका रस आदि ) आदिकी व्यवस्था हितकर होती है उसी प्रकार विषयसेवनसे उत्पन्न मोहसे सयुक्त होकर तीव्र विषयतृष्णाजनित सतापको प्राप्त हुए तेरे लिये पेयादिके समान अणुव्रतादिका आचरण ही हितकर होगा ।

श्लोक १०८ मे कहा गया है कि परिग्रहका त्याग विवेकबुद्धिसे मोहके नष्ट करनेवाले जीवको इस प्रकारसे अजर-अमर कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीरको विशुद्ध करके प्राणीको अजर-अमर (दीर्घायु) कर देता है ।

यह कुटीप्रवेश क्रिया क्या है, इसके सिये आयुर्वेद ग्रन्थोंमे कहा गया है कि रसायनोका प्रयोग दो प्रकारका होता है– कुटीप्रावेशिक और वातातपिक । इनमे कुटीप्रावेशिक मुख्य है । कुटीका अर्थ झोपडी होता है । तदनुसार आयुर्वेदिक उपकरणोंकी सुलभता युक्त नगरके भीतर किसी ऐसे भवनमें, जहा न वायुका सचार हो औन न भयके कारण भी विद्यमान हो, उत्तरदिशागत उत्तम स्थानमे एकके भीतर दूसरी और दूसरीके भीतर तीसरी इस प्रकार तीन कोठरियोवाली कुटीकी रचना करना चाहिये । यह कुटी छोटे गवाक्षो ( झरोखो ) से सहित, धुआँ, धूप, धूलि, सर्प, स्त्री एवं मूर्ख जन आदिसे रहित, वैद्यके उपकरणो (औषधियां आदि) से सुसज्जित तथा साफ-सूथरी होना चाहिये । जो व्यक्ति उस क्रियाके करानेका इच्छुक है उसे किसी शुभ दिनमे पूज्य गुरुजनोकी पूजा करके उस कुटीके भीतर प्रवेश करना चाहिये । उक्त रसायनके अभिलाषी व्यक्तिको पवित्र, सुखी, बलवान् ब्रह्मचारी, धैर्यशाली, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय एवं दानादि धर्मकार्योमें

तत्पर होना चाहिये। साथ ही उसका औषधिमें अनुराग भी होना चाहिये[१]।

रसायन प्रारम्भ करानेके पूर्वमे हरीतकी (हरड) आदिके विरेचनद्वारा मलस्थितिके अनुसार तीन, पाच अथवा सात दिनतक उसकी कोष्ठशुद्धि कराना चाहिये, तत्पश्चात् प्रारम्भ कराना चाहिये। रसायनका अर्थ होता है श्रेष्ठ रस रुधिरादिककी प्राप्तिका उपाय। इस रसायनके उपयोगसे मनुष्यको दीर्घ आयु, स्मृति, मेघा, आरोग्य, तारुण्य एव तेज आदिकी प्राप्ति होती है[२]।

प्रकृत रसायनोमें अनेक प्रकारके लेह आदि योगोंकी विधी, उनके उपयोग और उससे प्राप्त होनेवाले फलका पृथक् पृथक् विवेचन आयुर्वेद ग्रन्थोमें उपलब्ध होता है[३]।

श्लोक १८३ मे मोहको व्रणके समान बतलाकर यह कहा गया है कि जिस प्रकार पुराना, शनि आदि ग्रहके दोषसे उत्पन्न, गहरा, गतियुक्तशरीरके भीतर जाकर फैलनेवाला-और सरुज्[४] (पीडाप्रद)

---

१. रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः। कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा ॥ निर्वाते निर्भये हर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे। दिश्युदीच्यां। शुभे देशे त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ॥ धूमातप-रजोव्याल-स्त्रीमूर्खाद्यविलङ्घिताम्। सज्जवैद्योपकरणां सुमृष्टां कारयेत् कुटीम् ॥ अथ पुण्येऽह्नि संपूज्य पूज्यांस्तां प्रविशेच्छुचिः। तत्र संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः ॥ ब्रह्मचारी धृतियुतः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः दान-शील-दया-सत्य-व्रत-धर्मपरायणः ॥ देवतानुस्मृतो युक्तो युक्तस्वप्न-प्रजागरः। प्रियौषधः पेशलवाक् प्रारभेत रसायनम् ॥ अष्टाङ्गहृदय ३९, ५-१०.

२. दीर्घमायुः स्मृतिं मेधमारोग्यं तरुणं वयः। प्रभा-वर्ण-स्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥ वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ अ. हृ ३९, १-२.

३. इन रसायनोका वर्णन वाग्भटविरचित अष्टाङ्गहृदय (अ. ३९) में श्लोक १५-१४४ में पाया जाता है।

४. सरुज् व्रणका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

श्यामं सशोफं पिटिकान्वितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहितं च।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमासं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥
योगरत्नाकर २, पृ. २९६.

फोडा जात्यादिघृत अथवा तेलसे शुद्ध होकर भर जाता है उसी प्रकार चिरकालीन, परिग्रहकी ममतासे उत्पन्न, महान्, नरकादि गतियोसे सयुक्त और पीडाप्रद मोह भी परिग्रहपरित्यागसे शुद्ध होता है। यहा निर्दिष्ट किये गये जात्यादि घृतका विधान आयुर्वेदमे इस प्रकार उपलब्ध होता है—

जाती पत्र-पटोल-निम्बकटुका-दार्वी-निशा-सारिवा-
मञ्जिष्ठामय तुत्थ-सिक्थ-मधुकैर्नक्ताण्हबीजान्वितै. ।
सर्पि सिद्धमनेन सूक्ष्मवदना मर्माश्रिता: स्राविणो
गम्भीरा.[1] सरुजो व्रणाः सगतिकाः शुद्धचन्ति रोहन्ति च ॥
(योगरत्नाकर (मराठी अनुवाद सहित) २, पृ २९२.

अर्थात् जातीके पत्ते, कटु परवल, कटु नीमकी छाल, कुटकी, दारु, हलदी, सरिवन, मजीठा, हरड, तूतीया, मैन, मुलहठी और कजीके बीज, इन सबसे सिद्ध किये गये घृतसे सूक्ष्म मुख(छेद)वाले, मर्मपर उत्पन्न हुए, बहनेवाले, गहरे घाववाले, ठाकनेवाले और भीतर फैलनेवाले व्रण (घाव) शुद्ध होकर भर जाते है। इस घृतकी उपर्युक्त औषधियोमे चूकि सर्वप्रथम जातीके पत्तोका उल्लेख किया गया है, अतएव इसे जात्यादिघृत कहा जाता है।

इन्ही औषधियोंमें कुछ कुष्ठ आदि अन्य औषधियोको मिलाकर उन्हे तेलमे पकानेपर जात्यादितेल बनता है जो विषव्रज, फोडा, खुजली, कण्डू, विसर्प तथा कीडेके काटने, शस्त्रप्रहार एव जलने आदिसे उत्पन्न हुए कितने ही प्रकारके घावोमे उपयोगी होता है[2]।

---

१. यह अन्तिम चरण विशेष ध्यान देने योग्य है। इसकी समानता आत्मानुशासनके उक्त श्लोकसे देखिये—

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक्।
त्यागजात्यादिना मोह-व्रणः शुद्धचति रोहति ॥ १८३ ॥

२. जाती-निम्ब-पटोलानां नक्तमालस्य पल्लवाः। सिक्थकं मधुकं कुष्टं द्वे निशे कटुरोहिणी ॥ मञ्जिष्ठा पद्मकं लोध्रमभया नीलमुत्पलम्। तुत्थकं सारिवाबीज नक्तमालस्य च क्षिपेत् ॥ एतानि समभागानि पिष्ट्वा तैलं विपाचयेत्। विषव्रणसमुत्पत्तौ स्फोटेषु च सकच्छुषु ॥ कण्डू-विसर्परोगेषु कीटदष्टेषु सर्वथा। सद्यःस्त्रप्रहातेषु दग्ध-विद्ध-क्षतेषु च ॥ नख दन्तक्षते देहे दुष्टमांसावघर्षणे। व्रक्षणार्थमिदं तैल हितं शोधन-रोपणम् ॥ योगरत्नाकर २, पृ. ३०१.

श्लोक १३३ में नारीके जघनरन्ध्रको कामदेवके आयुध (बाण) जन्य नाडीव्रणके समान निर्दिष्ट किया गया है। इस नाडीव्रणका स्वरूप आयुर्वेदमें इस प्रकार पाया जाता है—

य: शोफमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो यो वा व्रणं प्रचूरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तर प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः॥
तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।
योगरत्नाकर २, पृ. ३१३.

इसका अभिप्राय यह है कि जो अज्ञानी एवं असाधु आचरण करनेवाला वैद्य अतिशय पके हुए सूजनयुक्त फोडोको बच्चा समझकर उपेक्षा करता है तथा बहुत पीववाले घावकी भी उपेक्षा करता है उसकी पीव चूकि पूर्वोक्त स्थानो (त्वचा, मास, शिरा, स्नायु, सन्धि, हड्डी और मर्म) मे अतिशय मात्रामें गति करती है—जाती है— इसलिये उसे गति माना जाता है तथा चूकि वह नाडीके समान बहता है इसलिय उक्त व्रणको नाडी भी माना जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत उपर्युक्त स्थलोको देखते हुए यह भली भाति सिद्ध होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता श्री गुणभद्राचार्य आयुर्वेदके भी अच्छे ज्ञाता थे और उसका प्रभाव उनके इस ग्रन्थपर भी पर्याप्त मात्रामे पडा है।

## आत्मानुशासनके काव्यगुण

किंवदन्ती है कि जब आचार्य जिनसेन स्वामीको अपने स्वर्गवासका समय निकट आता दिखा तब उन्हे अपने प्रारम्भ किये हुए महापुराणके पूर्ण होनेकी चिन्ता हुई। उस समय उन्होंने अपने योग्य दो शिष्योको बुलाकर उनकी योग्यताकी परीक्षा करते हुए उन्हे सस्कृतमें अनूदित करनेके लिये यह वाक्य दिया—सूखा वृक्ष सामने है। इसका अनुवाद एकने 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' तथा दूसरेने 'नीरसतरुरिह विलसति पुरत:' इस रूपसे किया। दूसरा अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता श्री गुणभद्राचार्यका था जो सरस एवं ललित पदयुक्त होनेसे आकर्षक था। उसेदेखकर जिनसेनाचार्यको यह विश्वास हो गया कि मेरा यह

सुयोग्य शिष्य अपनी प्रतिभाके बलपर इस महापुराणको अवश्य पूरा करेगा। तदनुसार उन्होंने उसे पूरा किया भी है।

उपर्युक्त लोकश्रुतिमें कदाचित् ऐतिहासिक दृष्टिसे सत्यांश भले ही सम्भव न हो, परन्तु इस सत्यमे सन्देहके लिये कोई स्थान नही है कि प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माता गुणभद्र उच्च कोटिके प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी यह कृति आध्यात्मिक होकर भी उत्कृष्ट काव्यके अन्तर्गत है। कवि सम्प्रदायमें काव्यका लक्षण यह किया जाता है–

साधुशब्दार्थसदर्भं गुणालकार भूषितम्।
स्फुटरीति-रसोपेतं काव्य कुर्वीत कीर्तये॥

अर्थात् जिस रचनामें अनर्थकत्व आदि दोषसे रहित शब्दोकी तथा देशविरुद्धत्व आदि दोषसे रहित अर्थकी योजना की गई हो, जो औदार्य आदि गुणो एव अनुप्रासादिरूप शब्दालकारो और उपमा रूपकादिस्वरूप अर्थालकारोसे अलकृत हो, तथा प्रगट रीति व रसोंसे सुशोभित हो वह काव्य कहलाता है और वही कविकी कमनीय कीर्तिको दिगदिगन्तमे विस्तृत करता है।

काव्यका यह लक्षण प्रकृत आत्मानुशासनमें सर्वथा घटित होता है। उसमे की गई शब्द और अर्थकी योजना निर्दोष है। वह गुणोंसे भी शून्य नही है–वहा विविध स्थलोमें औदार्य, प्रसत्ति एव ओज आदि गुण भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वह अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, श्लेष, विभावना एवं अर्थान्तरन्यास आदि अनेक अलकारोसे अलकृत एव रीति और रससे भी सयुक्त है। तथा उसमें जहां तहां विविध प्रकारके उपर्युक्त छन्दोंका भी उपयोग उत्तम रीतिसे किया है। उदाहरणस्वरूप इस श्लोकको देखिये–

यमनियमनितान्त. शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥ २२५॥

इसमे सरस अर्थ और पदोंकी योजना की गई है, अतएव यह माधुर्य गुणसे विभूषित है। साथ ही वह यम-नियम, नितान्त शान्त अन्तरात्म, विहित-हित-मिताशी, जाल समूल, तथा दहति निहत इत्यादि समान श्रुतिवाले अक्षरोकी पुनरावृत्तिसे सहित होनेके कारण अनुप्रासालंकारसे अलकृत है। यह अनुप्रासालकार तो प्राय समस्त ग्रन्थमें ही देखा जाता है। यह उन गुणभद्रकी भद्र वाणीकी विशेषता है। इस अनुप्रासका यह दूसरा भी स्थल देखिये—

प्राज्ञ. प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय. प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापर प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर।
प्रायः प्रश्नसह प्रभु परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद् धर्मकथां गणी गुणनिधि· प्रस्पष्टमिष्टाक्षर ॥ ५ ॥

इस श्लोकमें प्रायः प्रत्येक विशेषणके प्रारम्भमें 'प्र' का प्रयोग बडी सुन्दरताके साथ किया गया है। इस शब्दकौशल्यके साथ अर्थकी विशेषता भी अतिशय ग्राह्य है[1]।

उपमालकारका उदाहरण देखिये—

व्यापत्पर्वमम विरामविरस मूलेऽप्यभोग्योचित
विश्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
मानुष्य घुणभक्षितेक्षुसदृश नाम्नैकरम्यं पुन.
निः सारं परलोकबीजमाचरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥ ८१ ॥

यहा मनुष्य पर्यायको घुणभक्षित इक्षुकी उपमाको ऐसे श्लेषात्मक विशेषणपद्रोके द्वारा पुष्ट किया गया है जो दोनो ओर घटित होते हैं[2]।

यह अतिशयोक्तिसे अनुप्राणित अर्थान्तरन्यास अलंकारका उदाहरण है—

---

१. अनुप्रास शब्दालंकारके उदाहरणस्वरूप अन्य भी भिन्न निम्न श्लोक देखे जा सकते हैं-- ५७, ६१, ८९, ९१, १०१ आदि।

२. उपलंकारसे विभूषित निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है---६३, ७७ १२०, १२१, १२३, १२९, १७८ आदि।

क्षितिजलधिभि॰ संख्यातीतैर्बहि. पवनैस्त्रिभिः
परिवृतमत. खेनाधस्तात् खलासुरनारकान् ।
उपरिदिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणा त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तक ॥ ७५ ॥

यहां विधि-मन्त्रीके द्वारा मनुष्योके सरक्षणके लिए उक्त सामग्रीकी योजनाकी कल्पना असम्बन्धे सम्बन्धरूप अतिशयोक्ति अलंकार है और उसीके द्वारा ' ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तक. ' उक्तिकी सिद्धि की गई है, जिससे यहा अर्थान्तरन्यास अलंकार[1] बना है ।

जन्म-तालद्रुमाज्जन्तु-फलानि प्रच्युतान्यध. ।
अप्राप्य मृत्यु-भूमागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥ ७४ ॥

यह रूपकालकारसे अलकृत है[2] ।

पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥ ८६ ॥

यहा पलितको छल कहकर बुद्धिके नैर्मल्यकी कल्पना की जानेसे अपन्हुति अलंकार समझना चाहिये[3] ।

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात् पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षति. ॥ १३९ ॥

यहां अप्रकृत पुष्पोंकी गुणहीनताको दिखलाकर तपोभ्रष्ट साधुओकी निन्दा की गई है, अतएव यह अप्रस्तुतप्रशसालंकारसे अलकृत है[4]।

---

१. अर्थान्तिरन्यासके ये उदाहरण भी देखे जा सकते है—४४, ७६, ९३, ११८, ११९, १३६, १३९ आदि ।

२. रूपकालंकारके अन्य भी उदाहरण सुलभ हैं । यथा— ८७, १३२, १७०, १८३ आदि ।

३. अपन्हुतिके उदाहरण स्वरूप १२६ आदि अन्य भी श्लोक देखने योग्य हैं ।

४. इसके श्लोक १४० आदि अन्य भी उदाहरण हैं ।

यह विभावनालंकारका उदाहरण देखिये--

अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्ट विश्वमाशितं ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

यहां भोजनरूप कारणके विना भी उच्छिष्टरूप कार्यके दिखलानेसे विभावना अलकार समझना चाहिये। यहा श्लेषालकारका भी चमत्कार है। यह श्लेषालकारका भी उदाहरण देखिये--

यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावशाः प्रदेश परः
प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधना मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै ।
भूयास्तस्य भुजगदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो
व्यक्त वस्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्थसाक्षात्कृतः ॥ ९६ ॥

यहा श्लेषरूपसे भाण्डागार और धर्म इन दोनोका स्वरूप दिखाया गया है।

इस प्रकारसे यह आत्मानुशासनरूप कृति अनेक उत्तमोत्तम अलकारोसे अलकृत होनेसे अतिशय मनोहर है।

# विषय-सूची

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

गुणभद्र-देव-विरचितं

# आत्मानुशासनम्

लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं निधाय हृदि वीरम् ।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥ १ ॥

---

वीरं प्रणम्य भववारिनिधिप्रपोत—
मुद्योतिताखिलपदार्थमनल्पपुण्यम् ।
निर्वाणमार्गमनवद्यगुणप्रबन्ध—
मात्मानुशासनपदं प्रवरं प्रवक्ष्ये ॥

बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो लक्ष्मीत्याद्याह— अहं वक्ष्ये प्रतिपादयिष्ये । किं तत् । आत्मानुशासनम् आत्मनः शिक्षाप्रदायकं शास्त्रम् । किं कृत्वा । निधाय धृत्वा

---

जो वीर जिनेंद्र लक्ष्मीके निवासस्थानस्वरूप हैं तथा जिनका पाप कर्म नष्ट हो चुका है उन्हें हृदयमें धारण करके मैं भव्य जीवोंको मोक्ष प्राप्तिके निमित्तभूत आत्मानुशासन अर्थात् आत्मस्वरूपकी शिक्षा देनेवाले इस ग्रंथको कहूंगा । विशेषार्थ— यहां प्रस्तुत ग्रंथके कर्ता श्री गुणभद्राचार्यने

क्व। हृदि हृदये[1]। कम्। वीर विशिष्टाम् इन्द्राद्यसंभविनीम् ईम् अन्तरङ्गा वहिरङ्गा[2] समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणा लक्ष्मी राति आदत्त इति वीरः अन्तिमतीर्थंकर तीर्थंकरसमुदायो वा तम्। कथमूतम्। लक्ष्मीनिवासनिलय यतो वीरोऽतो लक्ष्मीनिवासस्थानम्। पुनरपि कथमूतम्। विलीनविलय विलीनो विनष्टो विलयो लब्धानन्तचतुष्टयस्वरूपात्प्रच्युतिर्यस्य। किमर्थं वक्ष्ये। मोक्षाय सकलकर्मविप्रमोचनाय। केषाम्। भव्याना सम्यग्दर्शनादिसामग्री प्राप्तमनन्त-चतुष्टयरूपतया भवनयोग्यानाम् ॥ १ ॥ शास्त्राभिधेये विनेयाना भयमुत्सार्य

ग्रंथके प्रारम्भमें अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनेंद्रका स्मरण करके उस आत्मानुशासन ग्रंथके रचनेकी प्रतिज्ञा की है जो भव्य जीवोको आत्माके यथार्थ स्वरूपकी शिक्षा देकर उन्हे मोक्षकी प्राप्ति करा सके। यहा श्लोकमे मंगलस्वरूपसे जिस 'वीर' शब्दका प्रयोग किया गया है उससे अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनेद्रका तो स्पष्टतया बोध होता ही है, साथ ही उससे समस्त तीर्थंकर समूहका भी बोध होता है। यथा– 'विशिष्टाम् ई राति इति वीर', तं वीरम्' इस निरुक्तिके अनुसार यहां वीर (वि-ई-र) पदमे स्थित 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'विशिष्ट' है, ई शब्दका अर्थ है, लक्ष्मी तथा र का अर्थ देनेवाला है। इस प्रकार समुदायरूपमे उसका यह अर्थ होता है कि जो विशिष्ट अर्थात् अन्यमे न पायी जानेवाली समवसरणादिरूप बाह्य एवं अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरग लक्ष्मीको देनेवाला है वह वीर कहा जाता है। इस प्रकार चूंकि अन्तरग और बहिरंग दोनो ही प्रकारकी लक्ष्मीसे सम्पन्न सब ही तीर्थंकर अपने दिव्य उपदेशके द्वारा भव्य जीवोके लिये विशिष्ट लक्ष्मीके देनेमें समर्थ होते हैं। अतएव वीर शब्दसे यहां उन सबका ही ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार मंगलरूपमें श्री वर्धमान जिनेद्र अथवा समस्त ही तीर्थंकर समुदायका ध्यान करके ग्रंथकर्ताने इस ग्रंथके रचनेका यह प्रयोजन भी प्रगट कर दिया है कि चूंकि सब ही प्राणी सुखको चाहते है और दुखसे डरते हैं अतएव मैं उन भव्य जीवोके लिये इस ग्रंथके द्वारा उस आत्मतत्त्वकी शिक्षा दूंगा कि जिसके निमित्तसे वे जन्ममरणके असह्य दुखसे छूटकर अविनश्वर एवं निर्बाध सुखको प्राप्त कर सकेगे ॥ १ ॥ हे आत्मन्! तू दुखसे अत्यन्त डरता है और

१. ज निधाय हृदि धृत्वा क्व हृदये। २. ज अन्तरगबहिरङ्गा।

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवाञ्छसि सुखमतोऽहमप्यात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥ २ ॥
यद्यपि कदाचिदस्मिन् विपाकमधुरं तदात्वकटु किंचित् ।
त्वं तस्मान्मा भैषीर्यथातुरो भेषजादुग्रात् ॥ ३ ॥

---

प्रवृत्त्यङ्गतामुपदर्शयन् दु खादित्याह– नितराम् अत्यर्थम् । अत यतो दु खाद् बिभेषि सुख च अभिवाञ्छसि अत । अहम् अपि । हे आत्मन् । तवानुमतम् एव तव अभिमतम् एव । अनुशास्मि प्रतिपादयामि । कुतोऽनुमतम् एवम् । यतो दु खापहारि दु खस्फेटक सुखकर च ॥ २ ॥ तच्च यद्यपि कदाचित्तदात्वकटु तथापि ततो मा भैषीस्त्वम् इत्याह– यद्यपीत्यादि । अस्मिन् शास्त्रे । कदाचित् कस्मिश्चित् प्रघट्टके प्रतिपाद्यमान किंचित् सम्यग्दर्शनादि । तदात्वकटु किंचित् प्रतिपाद्य प्रतिपादनकाले अनुष्ठानकाले च दु खदम् । यद्यपि । विपाकमधुर फलानुभवनकाले सुखदम् । तस्मात् तदात्वकटुकात् । यथा आतुर रोगी । भेषजात औषधात् । उग्रात् रौद्रात् । न बिभेति तथा त्व मा भैषी. । अथवा यथासौ ततो बिभेति तथा त्व मा भैषी ॥ ३ ॥ ननु उपदेष्टारो बहव सन्ति तत्कि भवतां

---

सुखकी इच्छा करता है, इसलिये मैं भी तेरे लिये अभीष्ट उसी तत्त्वका प्रतिपादन करता हूं जो कि तेरे दु खको नष्ट करके सुखको करनेवाला है ॥ २ ॥ यद्यपि इस (आत्मानुशासन) में प्रतिपादन किया जानेवाला कुछ सम्यग्दर्शनादिका उपदेश कदाचित् सुननेमे अथवा आचरणके समयमें थोडासा कडुआ (दु खदायक) प्रतीत हो सकता है, तो भी वह परिणाममें मधुर (हितकारक) ही होगा। इसलिये हे आत्मन् ! जिस प्रकार रोगी तीक्ष्ण (कडुवी) औषधिसे नही डरता है उसी प्रकार तू भी उससे डरना नही ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार ज्वर आदिसे पीडित बुद्धिमान् मनुष्य उसको नष्ट करनेके लिये चिरायता आदि कडुवी भी औषधिको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता है, उसी प्रकार ससारके दु खसे पीडित भव्य जीवोको इस उपदेशको सुनकर प्रसन्नतापूर्वक तदनुसार आचरण करना चाहिये। कारण यह कि यद्यपि आचरणके समय वह कुछ कष्टकारक अवश्य दिखेगा तो भी उसका फल मधुर (मोक्षप्राप्ति) होगा ॥ ३ ॥ जिनका उत्थान (उत्पत्ति और प्रयत्न) व्यर्थ है ऐसे वाचाल मनुष्य और मेघ दोनों ही सरलतासे प्राप्त होते हैं। किन्तु जो

जना घनाश्च वाचालाः सुलभाः स्युर्वृथोत्थिताः ।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युज्जिहीर्षवः ॥ ४ ॥
प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ॥ ५ ॥

---

विफलप्रयासेन इति आह—जना इत्यादि । वाचाला॰ असत्प्रलापिन॰ । वृथोत्थिता. विफलाटोपा विफलप्रवृत्तयो वा । अन्तरार्द्रा सकरुणा. सजलाश्च । अभ्युज्जिहीर्षव॰ अभ्युद्धर्तुमिच्छवः ॥ ४ ॥ तर्हि कीदृग्गुणै. युक्त उपदेष्टा भवतीति प्रश्ने 'प्राज्ञः' इत्यादि श्लोकद्वयम् आह— प्रज्ञा त्रिकालार्थविषया प्रतिपत्ति॰ । उक्त च— 'मतिरप्राप्तिविषया' बुद्धि. साम्प्रतदर्शिनी अतीतार्था स्मृतिर्ज्ञेया प्रज्ञा कालत्रयार्थगा ।

---

भीतरसे आर्द्र (दयालु और जलसे पूर्ण) होकर जगत्का उद्धार करना चाहते है ऐसे वे मनुष्य और मेघ दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ **विशेषार्थ**— जो मेघ गरजते तो है, किन्तु जलहीन होनेसे बरसते नही है, वे सरलतासे पाये जाते है । परन्तु जो जलसे परिपूर्ण होकर वर्षा करनेके उन्मुख हैं, वे दुर्लभ ही होते हैं । ठीक इसी प्रकारसे जो उपदेशक अर्थहीन अथवा अनर्थकारी उपदेश करते है वे तो अधिक मात्रामें प्राप्त होते है किन्तु जो स्वयं मोक्षमार्गमे प्रवृत्त होकर दयार्द्रचित्त होते हुए अन्य उन्मार्गगामी प्राणियोंको उससे उद्धार करनेवाले सदुपदेशको करते है वे कठिनतासे ही प्राप्त होते हैं । ऐसे ही उपदेशकोंका प्रयत्न सफल होता है ॥ ४ ॥
जो त्रिकालवर्ती पदार्थोको विषय करनेवाली प्रज्ञासे सहित है, समस्त शास्त्रोके रहस्यको जान चुका है, लोकव्यवहारसे परिचित है, अर्थलाभ और पूजा–प्रतिष्ठा आदिकी इच्छासे रहित है, नवीन नवीन कल्पनाकी शक्तिरूप अथवा शीघ्र उत्तर देनेकी योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभासे सम्पन्न है, शान्त है, प्रश्न करनेके पूर्वमें ही वैसे प्रश्नके उपस्थित होनेकी सम्भावनासे उसके उत्तरको देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकारके प्रश्नोके उपस्थित होनेपर उनको सहन करनेवाला है अर्थात् न तो उनसे घबडाता है और न उत्तेजित ही होता है,

'सा अस्य अस्तीति प्राज्ञ ।' 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः' (जैनेन्द्रम्. ४-१-२८) इति ण प्राप्तेत्यादि । प्राप्त परिज्ञात समस्तशास्त्राणा हृदयम् अन्तस्तत्व येन । प्रव्यक्तलोकस्थिति प्रव्यक्ता परिस्फुटा लोकस्य जगत प्राणिगणस्य वा स्थिति स्थान व्यवहारश्च यस्य । प्रास्ताश प्रकर्षेण अस्ता स्फेटिता आशा लाभपूजादिवाञ्छा येन । प्रतिभापर आशु उत्तरप्रतिपत्ति प्रतिभा सा परा उत्कृष्टा यस्य । प्रशमवान् प्रकृष्टोपशमयुक्त । प्रागेव दृष्टोत्तर परपर्यनुयोगात् पूर्वमेव अवधारितोत्तरः यद्ययम् एवविध पर्यनुयोगं करिष्यति तदा एव विधम् उत्तर दास्यामीति । प्राय. प्रश्नसह. प्रचुरप्रश्नसह. । प्रभुः आदेयरूपः । परमनोहारी परचित्तानुरागजनक. परचित्तोपलक्षको वा । परानिन्दया परेषा दोषाभावनया यथावद्वस्तुस्वरूपमेव निरूपयन् धर्मकथा ब्रूयात् इत्यर्थ. । गणी आचार्य. । गुणनिधि. । अनेकगुणनिधान. । प्रस्पष्टेत्यादि । प्रकर्षेण स्पष्टानि व्यक्तानि मृष्टानि श्रोत्रमन प्रियाणि अक्षराणि यस्य ॥ ५ ॥ श्रुतमित्यादि । श्रुतम् अविकल परिपूर्णं नि.सदिग्ध वा यस्मिन् स

---

श्रोताओके ऊपर प्रभाव डालनेवाला है, उनके (श्रोताओके) मनको आकर्षित करनेवाला अथवा उनके मनोगत भावको जाननेवाला है, तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणोका स्थानभूत है, ऐसा सघका स्वामी आचार्य दूसरोकी निन्दा न करके स्पष्ट एव मधुर शब्दोमे धर्मोपदेश देनेका अधिकारी होता है ॥ ५ ॥ जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्तका जानकार है, जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व कायकी प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरोको प्रतिबोधित करनेमे प्रवीण हैं, मोक्षमार्गके प्रचाररूप समीचीन कार्यमें अतिशय प्रयत्नशील है, जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते है तथा जो स्वय भी विशिष्ट विद्वानोंकी प्रशसा एव उन्हे नमस्कार आदि करता है, जो अभिमानसे रहित है, लोक और लोकमर्यादाका जानकार है, सरल परिणामी है, इस लोकसम्बन्धी इच्छाओसे रहित है, तथा जिसमे और भी आचार्य पदके योग्य गुण विद्यमान है, वही हेयोपादेय-विवेकज्ञानके अभिलाषी शिष्योका गुरु हो सकता है ॥ ६ ॥ जो भव्य है, मेरे लिये हितकारक मार्ग कौनसा है, इसका विचार करनेवाला है, दु.खसे अत्यन्त डरा हुआ है, यथार्थ सुखका अभिलाषी है, श्रवण आदिरूप बुद्धिविभवसे सम्पन्न है, तथा उपदेशको सुनकर और उसके विषयमे स्पष्टतासे

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने
परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥ ६ ॥

---

गुरु उपदेष्टा । तथा शुद्धा निरवद्या वृत्ति चारित्र मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्वा । परप्रतिबोधने परिणति. परिणाम. प्रवीणता वा । उरु. महान् उद्योग. उद्यम । क्वेत्याह मार्गेत्यादि । मार्गं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षण प्रवर्तयति इति मार्गप्रवर्तनः स चासौ सद्विधिश्च सन् शोभनो मायादिरहितो विधि. अनुष्ठान यस्मिन् । बुधनुति. बुधाना बुधैर्वा नुतिर्नमनम् । अनुत्सेकोऽनुद्धत[1] । लोकज्ञता सचराचर-जगत्परिज्ञानम् । मृदुता सेव्यता । अस्पृहा निस्पृहता । अन्ये च उक्तेभ्योऽपरेऽपि परमकरुणादयः । सता हेयोपादेयविवेकपरिज्ञानार्थिनाम् ॥ ६ ॥ यद्येवविध शास्ता शिष्यस्तर्हि कीदृशो भवतीत्याह-भव्य इत्यादि । विमृशन् पर्यालोचयन् ।

---

विचार करके जो युक्ति व आगमसे सिद्ध ऐसे सुखकारक दयामय धर्मको ग्रहण करनेवाला है, ऐसा दुराग्रहसे रहित शिष्य धर्मकथाके सुननेमें अधिकारी माना गया है । **विशेषार्थ**– यहा धर्मोपदेशके सुननेका अधिकारी कौन है, इस प्रकार श्रोताके गुणोका विचार करते हुए सबसे पहले यह बतलाया है कि भव्य होना चाहिये । जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करके भविष्यमें अनन्तचतुष्टय-स्वरूपसे परिणत होनेवाला है वह भव्य कहलाता है । यदि श्रोता इस प्रकारका भव्य नही है तो उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा । कारण कि जिस प्रकार पानीके सीचनेसे मिट्टी गीलेपनको प्राप्त हो सकती है उस प्रकार पत्थर नही हो सकता, अथवा जिस प्रकार नवीन घटके ऊपर जलबिन्दुओके डालनेपर वह उन्हे आत्मसात् कर लेता है उस प्रकार घी आदिसे चिक्कणताको प्राप्त हुआ घट उन्हे आत्मसात् नही कर सकता है– वे इधर उधर बिखर कर नीचे गिर जाती हैं । ठीक यही स्थिति उस श्रोताकी भी है– जिस श्रोताका हृदय सरल है वह सदुपदेशको ग्रहण करके तदनुसार प्रवृत्ति करनेमे प्रयत्नशील होता है, किन्तु जिसका हृदय कठोर है उसके ऊपर सदुपदेशका कुछ भी प्रभाव

---

१ ज. अनुद्धता ।

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुःखाद् भृशं भीतवान्[1] ।
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम् ॥
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं ।
गृण्हन् धर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो[2] निरस्ताग्रहः ॥ ७ ॥

---

भृशम् अतिशयेन । श्रवणेत्यादि । श्रवणादयो बुद्धेर्विभवा गुणविभूतय यस्य । शुश्रूषा श्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा हि बुद्धिगुणा । शर्मकर सुखजनकम् । दया गुणमय दयागुणेन निर्वृत्त दयागुणैर्वा प्रकृतः यत्र । युक्त्या प्रमाणनयात्मिकया । अधिकृतः योग्य । शास्य. प्रतिपाद्य । निरस्ताग्रह दुराग्रहरहित ॥ ७ ॥ एवविधः

---

नही पडता । अतएव सबसे पहिले उसका भव्य होना आवश्यक है । दूसरी विशेषता उसकी यह निर्दिष्ट की गई है कि उसे हिताहितका विवेक होना चाहिये । कारण कि मेरा आत्मकल्याण किस प्रकारसे हो सकता है, यह विचार यदि श्रोताके रहता है तव तो वह सदुपदेशको सुनकर तदनुसार कल्याणमार्गमे चलनेके लिये उद्यत हो सकता है । परन्तु यदि उसे आत्महितकी चिन्ता अथवा हित और अहितका विवेक ही नही होता है तो वह मोक्षमार्गमे प्रवृत्त नही हो सकेगा । किन्तु जव और जिस प्रकारका अनुकूल या प्रतिकूल उपदेश उसे प्राप्त होगा तदनुसार वह अस्थिरतासे आचरण करता रहेगा । इस प्रकारसे वह दुखी ही बना रहेगा । इसीलिये उसमे आत्महितका विचार और उसके परीक्षणकी योग्यता अवश्य होनी चाहिये । इसी प्रकार उसे दुखका भय और सुखकी अभिलाषा भी होनी चाहिये, अन्यथा यदि उसे दुखसे किसी प्रकारका भय नही है या सुखकी अभिलाषा नही है तो फिर भला वह दुखको दूर करनेवाले सुखके मार्गमे प्रवृत्त ही क्यो होगा ? नही होगा । अतएव उसे दुखसे भयभीत और सुखाभिलाषी भी अवश्य होना चाहिये । इसके अतिरिक्त उसमे निम्न प्रकार बुद्धिका विभव या श्रोताके आठ गुण भी होने चाहिये– "शुश्रूषा श्रवण चैव ग्रहणं धारण तथा । स्मृत्यूहापोहनिर्णीति श्रोतुरष्टौ गुणान् विदु. ॥" सवसे पहले उसे उपदेश सुननेकी उत्कठा ( शुश्रूषा ) होनी चाहिये, अन्यथा तदनुसार आचरण करना तो दूर रहा किन्तु वह उसे रुचिपूर्वक सुनेगा

---

१. स शस्यो । २. मु (नि. सा.) भीतिमान् ।

पापाद् दुःखं धर्मात् सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।
तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥ ८ ॥

---

शिष्यो गुरूपदेशात्सुखार्थितया धर्मोपार्जनार्थमेव प्रवर्तताम् । यत पापादित्यादि । इति एवम् चरतु अनुतिष्ठतु ॥ ८ ॥ धर्मं वा चरता सर्वेणापि विशिष्टसुखप्राप्त्यर्थिना

---

भी नही । अथवा शुश्रूषासे अभिप्राय गुरूकी सेवाका भी हो सकता है, क्योकि वह भी ज्ञानप्राप्तिका साधन है । इसके अनन्तर श्रवण (सुनना), सुने हुये अर्थको ग्रहण करना, ग्रहण किये हुए अर्थको हृदयमे धारण करना, उसका स्मरण रखना, उसके योग्यायोग्यका युक्तिपूर्वक विचार करना, इस विचारसे जो योग्य प्रमाणित हो उसे ग्रहण करके अयोग्य अर्थको छोडना, तथा योग्य तत्त्वके विषयमे दृढ रहना, ये श्रोताके आठ गुण हैं जो उसमे होने चाहिये । उपर्युक्त गुणोंके अतिरिक्त श्रोतामे हठाग्रहका अभाव भी होना चाहिये, क्योकि यदि वह हठाग्रही है तो वह यथावत् वस्तुस्वरूपका विचार नही कर सकेगा । कहा भी है– "आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥"
दुराग्रही मनुष्यने जो पक्ष निश्चित कर रखा है वह युक्तिको उसी ओर ले जाना चाहता है । किन्तु जो आग्रहसे रहित होकर निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करना चाहता है वह युक्तिका अनुसरण करके उसके ऊपर विचार करता और तदनुसार वस्तुस्वरूपका निश्चय करता है । इस प्रकार जिस श्रोतामे ये गुण विद्यमान होगे वह सुरूचिपूर्वक धर्मोपदेशको सुन करके तदनुसार आत्महितके मार्गमे अवश्य प्रवृत्त होगा ॥ ७ ॥
पापसे दुख और धर्मसे सुख होता है, यह बात सब जनोमें भले प्रकार प्रसिद्ध है– इसे सब ही जानते हैं । इसलिये जो भव्य प्राणी सुखकी अभिलाषा करता है उसे पापको छोडकर निरन्तर धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ ८ ॥ सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा करते है, वह सुखकी प्राप्ति समस्त कर्मोका क्षय हो जानेपर होती है, वह कर्मोका क्षय भी सम्यक्चारित्रके निमित्तसे होता है, वह सम्यक्चारित्र भी सम्यग्ज्ञानके आधीन है, यह सम्यग्ज्ञान भी आगमसे

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियतं सोऽप्यागमात् स श्रुतेः ।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यतः
तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥ ९ ॥

---

विचार्याप्त कश्चित्समाश्रयणीय तन्मूलकारणत्वात् तत्प्राप्तेः। एतदेवाह— सर्व इत्यादि। प्रेप्सति प्रकर्षेण वाञ्छति। काम्। सत्सुखाप्ति मोक्षसुखाप्तिम्। अचिरात् सक्षेपेण। सद्वृत्तात् सम्यक्चारित्रात्। तच्च बोधनियत ज्ञानायत्तम्। स श्रुते स आगम श्रुते' आकर्णनात्। आकर्ण्यमानो हि आगम कार्यकारी भवति सद्व्यवहार च भजते। सा चाप्तात्। स च सर्वदोपरहित। सर्वे दोषा रागादयोऽष्टादश— 'क्षुधा तृषा भय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च खेद स्वेदो मदो रति॥ विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः। त्रिजगत्सर्वभूताना दोषा साधारणा इमे। एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्त सोऽयमाप्तो निरञ्जन।' इत्यभिधानात्। अत यत. परम्परया सत्सुखाप्तेराप्तो मूलमत'। तम् इत्थभूतम् आप्तम्। युक्त्या प्रमाणोपपत्त्या। सुविचार्य जिन-सुगत-ईश्वर-ब्रह्म-कपिलेषु आप्तत्वेन परिकल्पितेषु मध्ये क एवविधगुणसम्पन्नो घटते इति निपुणरूपतया परीक्ष्य। सर्वसुखद सर्वसुख परिपूर्णं मोक्षसुख तस्य दायक सर्वेषा वा प्राणिना सुखदायकम्। श्रयन्तु आश्रयन्तु आराधयन्तु। श्रिये बाह्याभ्यन्तरलक्ष्मीसिद्धयर्थं॥ ९॥ तत्सिद्ध्यै

---

प्राप्त होता है, वह आगम भी द्वादशागरूप श्रुतके सुननेसे होता है, वह द्वादशाग श्रुत भी आप्तसे आविर्भूत होता है, आप्त भी वही हो सकता है जो समस्त दोषोसे रहित है, तथा वे दोष भी रागादिस्वरूप है। इसलिये सुखके मूल कारणभूत आप्तका (देवका) युक्ति(परीक्षा)-पूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य बाह्य एव अभ्यन्तर लक्ष्मीको प्राप्त करनेके लिये सम्पूर्ण सुख देनेवाले उसी आप्तका आश्रय करे।
**विशेषार्थ**— यहा यह बतलाया है कि क्षुधा–तृषा आदि अठारह दोषोसे रहित आप्तकी दिव्यध्वनिको सुनकर गणधरोके द्वारा द्वादशाग श्रुतकी रचना की जाती है। उसको सुनकर आरातीय आचार्य आगमका प्रणयन करते है जिसके कि अभ्याससे साधारण प्राणियोका हिताहितका बोध प्राप्त होता है। इस प्रकार जब प्राणीको हिताहितविवेकके साथ वस्तुस्थितीका ज्ञान हो जाता है तब उसका सम्यक्चारित्र (तप-सयम आदि) की ओर झुकाव होता है और इससे वह सम्पूर्ण

**श्रद्धानं द्विविधं त्रिधा दशविधं मौढ्याद्यपोढं सदा**
**संवेगादिविवर्धितं भवहरं त्र्यज्ञानशुद्धिप्रदम् ।**

---

च तेन भगवता सतामुपाय. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसाराधनारूपो दर्शितस्तत्र सम्यग्दर्शनाराधनास्वरूप दर्शयन्नाह— श्रद्धानमित्यादि । श्रद्धान सम्यग्दर्शन विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मन स्वरूपम् । तत् द्विविध तावत् नैसर्गिकमधिगम च । त्रिधा औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक च । दशविधं वक्ष्यमाणाज्ञासम्यक्त्वादि-भेदात् । मौढ्याद्यपोढ मौढ्यादिभिः पञ्चविंशतिदोषै. रहितम् । के ते मौढ्यादयो दोषा इत्याह— ' मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविंशति ॥' मूढत्रय लोक-समय-देवतामूढलक्षणम् । अष्टमदा जाति-कुलैश्वर्यादय । षडनायतनानि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्त

---

कर्मोसे आत्माको पृथक् करके शीघ्र ही अविनश्वर निराकुल सुखको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार परम्परासे उसके मनोरथकी पूर्तिका मूल कारण रागादि दोषोसे रहित सर्वदर्शी आप्त ही ठहरता है। अतएव सुखाभिलाषी प्राणियोको ऐसे ही आप्तका स्मरण, चिन्तन एव उपासना आदि करनी चाहिये ॥ ९ ॥ तत्त्वार्थश्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका; औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे तीन प्रकारका; तथा आगे कहे जानेवाले आज्ञासम्यक्त्व आदिके भेदसे दस प्रकारका भी है। मूढता आदि ( ३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शका-काक्षा आदि ) दोषोसे रहित होकर सवेग आदि गुणोसे वृद्धिको प्राप्त हुआ वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) निरन्तर ससारका नाशक, कुमति, कुश्रुत एव विभग इन तीन मिथ्याज्ञानोकी शुद्धि (समीचीनता) का कारण; तथा जीवाजीवादि सात अथवा इनके साथ पुण्य और पापको लेकर नौ तत्त्वोका निश्चय करानेवाला है। वह सम्यग्दर्शन स्थिर मोक्षरूप भवनके ऊपर चढनेवाले बुद्धिमान् शिष्योके लिये प्रथम सीढीके समान है। इसीलिये इसे चार आराधनाओमे प्रथम आराधनास्वरूप कहा जाता है ॥ विशेषार्थ— यहा सम्यग्दर्शनके जो भेद निर्दिष्ट किये गये है वे है निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन। इनमे जो तत्त्वार्थश्रद्धान साक्षात् बाह्य उपदेश आदिकी अपेक्षा न करके स्वभावसे ही उत्पन्न होता है

निश्चिन्वन् नव सप्ततत्त्वमचलप्रासादमारोहतां
सोपानं प्रथमं विनेयविदुषामाद्येयमाराधना ॥ १० ॥

---

पुरुषा अथवा असर्वज्ञ-असर्वज्ञायतन-असर्वज्ञज्ञान-असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषाऽसर्वज्ञानुष्ठानाऽसर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुषलक्षणानि । अष्टौ शङ्कादय शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिरनुपगूहनमस्थितीकरणमवात्सल्यप्रभावना इति । सवेगादिविवर्धित सवेग ससारभीरुता धर्मे धर्मफलदर्शने च हर्षो वा । आदिशब्दाद्वैराग्य-निन्दागर्हादयो गृह्यन्ते । ते विशेषण वर्धिता वृद्धि नीता येन तैर्वा विवर्धित निर्मलरूपतया प्रकर्षनीतम् । भवहर ससारविनाशकम् । त्र्यज्ञानशुद्धिप्रद त्रीणि अज्ञानानि कुमति-श्रुतावधय तेषा शुद्धिप्रद समीचीनतारकम् । निश्चिन्वन् निश्चित विषयता नयन् । जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वमिति सप्त-तत्त्वानि पुण्यपापपदार्थाभ्या सहितानि नव पदार्था उच्यन्ते । अचलप्रासाद न चलन्ति प्राणिनो यस्मादसौ अचल स चासौ प्रासादश्च मोक्षस्तम् आरोहता चटताम् । विनेयविदुषा शिष्यपण्डितानाम् ॥ १० ॥ इदानी दशविधसम्यक्त्वसूचनाय

---

उसे निसर्गज तथा जो बाह्य उपदेशकी अपेक्षासे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है । प्रत्येक कार्य अन्तरङ्ग और बाह्य इन दो कारणोसे उत्पन्न होता है । तदनुसार यहा सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्ग कारण जो दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है वह तो इन दोनो ही सम्यग्दर्शनोमे समान है । विशेषता उन दोनोंमे इतनी ही है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन साक्षात् बाह्य उपदेशकी अपेक्षा न करके जिनमहिमा आदिके देखनेसे प्रगट हो जाता है, परन्तु अधिगमज सम्यग्दर्शन बाह्य उपदेशके विना नही प्रगट होता है । इसके आगे जो उसके तीन भेद निर्दिष्ट किये है वे अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षासे है । यथा— जो सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे औपशमिक तथा जो इन्ही सात प्रकृतियोके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इनके उदयाभावी क्षय व सदवस्थारूप उपशमसे तथा देशघाती स्पर्धकस्वरूप सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक कहा जाता है । आगे जो

---

यहा उस सम्यग्दर्शनके दस भेदोंका निर्देश किया है उनका वर्णन ग्रन्थकार स्वय ही आगे करेगे, अतएव उनके सम्बन्धमे यहां कुछ नही कहा जा रहा है। जिन दोषोके कारण यह सम्यग्दर्शन मलिनताको प्राप्त होता है वे पच्चीस दोष निम्न प्रकार हैं– ३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शका आदि। मूढताका अर्थ अज्ञानता है। वह मूढता तीन प्रकारकी है। (१) लोकमूढता– कल्याणकारी समझकर गंगा आदि नदियो अथवा समुद्रमे स्नान करना, वालु या पत्थरोंका स्तूप बनाना, पर्वतसे गिरना तथा अग्निमे जलकर सती होना आदि। (२) देवमूढता– अभीष्ट फल प्राप्त करनेकी इच्छासे इसी भवमे आशायुक्त होकर राग-द्वेषसे दूषित देवताओंकी आराधना करना। (३) गुरुमूढता– जो परिग्रह, आरम्भ एव हिंसासे सहित तथा संसार-परिभ्रमणके कारणीभूत विवाहादि कार्योमे रत है ऐसे मिथ्यादृष्टि साधुओकी प्रशसा आदि करना। कही कही इस गुरुमूढताके स्थानमें समयमूढता पायी जाती है जिसका अभिप्राय है समीचीन और मिथ्या-शास्त्रोकी परीक्षा न कर कुमार्गमे प्रवृत्त करनेवाले शास्त्रोका अभ्यास करना। ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल (पितृवंश), जाति (मातृवश) शारीरिक वल, धन-सम्पत्ति, अनशनादिस्वरूप तप और शरीरसौन्दर्य इन आठके विषयमे अभिमान प्रगट करनेसे आठ मद होते है। अनायतनका अर्थ है धर्मका अस्थान। वे अनायतन छह है– कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुभक्त, कुदेवभक्त और कुधर्मभक्त। निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव राजा आदिके भयसे, आशासे, स्नेहसे तथा लोभसे भी कभी इनकी प्रशंसा आदि नही करता है। ८ शका आदि– (१) शका– सर्वज्ञ देवके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वके विषयमे ऐसी आशका रखना कि जिस प्रकार यहा अमुक तत्त्वका स्वरूप वतलाया गया है क्या वह वास्तवमें ऐसा ही है अथवा अन्य प्रकार है। (२) काक्षा– पाप एवं दुखके कारणीभूत कर्माधीन सासारिक सुखको स्थिर समझकर उसकी अभिलाषा रखना। (३) विचिकित्सा– मुनि आदिके मलिन शरीरको देखकर उससे घृणा करना। यद्यपि यह मनुष्यशरीर स्वभावत. अपवित्र है

फिर भी चूकि सम्यग्दर्शन आदिरूप रत्नत्रयका लाभ एक मात्र इसी मनुष्यशरीरसे हो सकता है अतएव वह घृणाके योग्य नही है। यदि वह घृणाके योग्य है तो केवल विषयभोगकी दृष्टिसे ही है, न कि आत्मस्वरूपलाभकी दृष्टिसे। (४) मूढदृष्टि– कुमार्ग अथवा कुमार्गगामी जीवोकी मन, वचन अथवा कायसे प्रशसा करना। (५) अनुपगूहन– अज्ञानी अथवा अशक्त (व्रतादिके परिपालनमे असमर्थ) जनोके कारण पवित्र मोक्षमार्गके विषयमे यदि किसी प्रकारकी निन्दा होती हो तो उसके निराकरणका प्रयत्न न करके उसमें सहायक होना। (६) अस्थितीकरण– मोक्षमार्गसे डिगते हुए भव्य जीवोको देख करके भी उन्हे उसमे दृढ करनेका प्रयत्न न करना। (७) अवात्सल्य– धर्मात्मा जीवोका अनुरागपूर्वक आदरसत्कार आदि न करना अथवा उसे कपटभावसे करना। (८) अप्रभावना– जैनधर्मके विषयमे यदि किन्हीको अज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान है तो उसे दूर करके उसकी महिमाको प्रकाशित करनेका उद्योग न करना। इस प्रकार ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष है जो उसे मलिन करते हैं। इतना यहा विशेष समझना चाहिये कि इन दोषोकी सम्भावना केवल क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनके विषयमे ही हो सकती है, कारण कि वहा सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहता है। औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनके विषयमे उक्त दोषोकी सम्भावना नही है। श्लोकमे जिन सवेग आदि गुणोसे इस सम्यग्दर्शनको वृद्धिगत वतलाया है वे ये है– (१) संवेग अर्थात् ससारके दुखोसे निरन्तर भयभीत रहना, अथवा धर्ममे अनुराग रखना। (२) निर्वेद– ससार, शरीर एव भोगोसे विरक्ति। (३) निन्दा– अपने दोषोके विषयमे पश्चात्ताप करना। (४) गर्हा– किये गये दोषोको गुरुके आगे प्रगट करके निन्दा करना। (५) उपशम– क्रोधादि विकारोको शान्त करना। (६) भक्ति– सम्यग्दर्शन आदिके विषयमे अनुराग रखना। (७) वात्सल्य– धर्मात्मा जनसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करना। (८) अनुकम्पा– प्राणियोके विषयमें दयाभाव रखना। इस प्रकार इन गुणोसे सहित और उपर्युक्त पच्चीस दोषोसे रहित वह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी प्रासादकी प्रथम सीढीके

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसक्षेपात्
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥ ११ ॥
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः ।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १२ ॥

---

'आज्ञेत्यादि' सग्रहश्लोकमाह ॥ ११ ॥ अस्यैव विवरणार्थमाज्ञासम्यक्त्वमित्याद्याह- यदुत उत अहो यत् विरुचित श्रद्धानम् । वीतरागाज्ञयैव शास्त्रपठनमन्तरेण सर्वज्ञवचनोपदेशमात्रेणैव वीतरागाज्ञयेति । वा इव (?) गाढसम्यग्दर्शनपर्यन्त सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । कथ विरुचितम् । त्यक्तग्रन्थप्रपञ्च ग्रन्थश्रवण विना । तथा मार्गश्रद्धामाहु विरुचितम् । किं कुर्वत् । श्रद्दधत् प्रतीतिं कुर्वत् । कम् अमृतपथ मोक्षपथम् । किं विशिष्टम् शिवम् अनन्तसुखहेतुम् अबाध्यमानतया वा प्रशस्तम् । तथा त्यक्तग्रन्थप्रपञ्च निर्ग्रंथतालक्षणम् । कुत श्रद्दधत् प्रतीति कुर्वन् । मोहशान्ते दर्शनमोहोपशमादे । एतच्च प्रागुत्तरत्र च सबन्धनीयम् । पुरुषेत्यादि । पुरुषवरा त्रिषष्टिशलाकापुरुषा तेषा पुराणानि तदुपदेशाज्जाता प्रथमानुयोगपरिज्ञानात् उत्पन्नेत्यर्थ । सज्ञानेत्यादि । समीचीन ज्ञान यस्यासौ सज्ञान. स चासौ आगमश्च स एव अब्धि तत्र प्रसृतिभि प्रवीणैः गणधरदेवादिभि- स्तस्य वा प्रसृति प्रसरण येभ्यस्तीर्थंकरेभ्यस्तैः । उपदेशादिदृष्टि उपदेशशब्दः आदौ यस्य दृष्टेः उपदेशदृष्टि इत्यर्थ । आदेशि उपदिष्टा ॥ १२ ॥ आकर्ण्येत्यादि ।

---

समान है । इसीलिये उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनाओमे प्रथम स्थान प्राप्त है ॥ १० ॥ वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, सक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ और परमावगाढ, इस प्रकारसे दस प्रकारका है ॥ ११ ॥ दर्शनमोहके उपशान्त होनेसे ग्रन्थश्रवणके विना केवल वीतराग भगवान्की आज्ञासे ही जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहा गया है। दर्शनमोहका उपशम होनेसे ग्रन्थश्रवणके बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्गका श्रद्धान होता है उसे मार्गसम्यग्दर्शन कहते है। त्रेसठ शलाकापुरुषोके पुराण (वृत्तान्त) के उपदेशसे जो सम्यग्दर्शन (तत्त्व-

**आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः**
**सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।**
**कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्**
**संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ १३ ॥**

---

मुनिचरणविधेः मुनेना चरण चारित्र तस्य विधे प्रकारस्य करणस्य वा। सूचन प्रतिपादकम्। श्रद्दधान श्रद्धान परिणत। प्रतिपत्तिर्वाभेदवृत्त्या शक्त्या (सूक्तासौ) शोभना सा सूत्रदृष्टि उक्ता। दुरधिगमेत्यादि। जातोपलब्धे पञ्चसग्रहादिकरणानुयोगपरिज्ञानवतो भव्यस्य। कैः कृत्वा जातोपलब्धे। बीजैः बीजपदैः कैश्चिद्विवक्षितैः। कस्य बीजपदैः। अथसार्थस्य जीवाद्यर्थसघातस्य। कथभूतस्य। दुरधिगमगते अति सूक्ष्मादिरूपतया दुरधिगमा महता कष्टेन प्राप्या सवेद्या वा गति प्रतिपत्तिर्यस्य। असमशमवशात् अद्वितीयदर्शनमोहोपशमवात्। सा बीजदृष्टि। पदार्थानित्यादि। तत्त्वार्थसिद्धान्तसूत्रलक्षणद्रव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् जीवादीन् सक्षेपेणैव बुद्ध्वा तेषु रुचिम् उपगतवान् आत्मैव अभेदवृत्त्या साधु समीचाना[1] सक्षेपदृष्टि उच्यते ॥ १३ ॥ य श्रुत्वेत्यादि। द्वादशाङ्गाना

---

श्रद्धान) उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले आगमरूप समुद्रमे प्रवीण गणधर देवादिने उपदेशसम्यग्दर्शन कहा है ॥ १२ ॥ मुनिके चरित्र (सकलचरित्र) के अनुष्ठानकी सूचित करनेवाले आचार-सूत्रको सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे उत्तम सूत्रसम्यग्दर्शन कहा गया है। जिन जीवादि पदार्थोके समूहका अथवा गणितादि विषयोका ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्ही बीजपदोके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले भव्य जीवके जो दर्शनमोहनीयके असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते है। जो भव्य जीव पदार्थोके स्वरूपको सक्षेपसे ही जान करके तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शनको सक्षेपसम्यग्दर्शन कहा जाता है ॥ १३ ॥ जो भव्य जीव बारह अंगोको सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है उसे विस्तारसम्यग्दर्शनसे युक्त जानो, अर्थात् द्वादशागके सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यग्दर्शन कहते है। अंगबाह्य आगमोके पढनेके विना भी उनमे प्रतिपादित किसी पदार्थके निमित्तसे जो अर्थश्रद्धान होता है अर्थसम्यग्दर्शन कहलाता है। अगोके साथ अगबाह्य श्रुतका अवगाहन

---

१. स समीचीन।

यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं[1] विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः[2]।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ १४ ॥

---

समाहारो द्वादशाङ्गी ता श्रुत्वा । तत्प्रतिपादितेषु अर्थेषु य. कृतरुचि. । अथ अहो । तमात्मानम् अभेदवृत्त्या विद्धि जानीहि विस्तारदृष्टिम् । सजातेत्यादि । अर्थात् कुतश्चित् अङ्गबाह्यप्रवचनप्रतिपादितात् । प्रवचन वचनान्यन्तरेण अङ्गबाह्यप्रवचनश्रवण विना द्वादशाङ्गविद विशिष्टक्षयोपशमवशात् सजाता अर्थदृष्टिरुच्यते । साङ्गेत्यादि । सह अङ्गैर्वर्तते इति साङ्गं तच्च तत् अङ्गबाह्य (प्र) वचन च । तदवगाह्य ज्ञात्वा । उत्थिता उत्पन्ना ॥ १४ ॥ ननु चतुर्विधाराधनासु मध्ये सम्यक्त्वाराधना प्रथमत कस्माद्विधीयते इत्याह—

---

करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अवगाढसम्यग्दर्शन कहते हैं। केवलज्ञानके द्वारा देखे गये पदार्थोंके विषयमें रुचि होती है वह यहां परमावगाढसम्यग्दर्शन इस नामसे प्रसिद्ध है ॥ विशेषार्थ— श्लोक १२, १३ और १४ मे सम्यग्दर्शनके जिन दस भेदोका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वे प्राय· उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त हुए है। यथा— प्रथम आज्ञा सम्यक्त्वमे जीव शास्त्राभ्यासके विना केवल सर्वज्ञ वीतरागदेवकी आज्ञापर ही विश्वास करता है। उसे यह निश्चल श्रद्धान होता है कि जिनेन्द्र देव, चूंकि सर्वज्ञ और वीतराग (राग-द्वेषरहित) है अतएव वे अन्यथा उपदेश नही दे सकते हैं, उन्होने जो तत्त्वका स्वरूप बतलाया है वह सर्वथा ठीक है। दूसरे मार्गसम्यग्दर्शनमे भी जीवके आगमका अभ्यास नही होता। वह केवल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गको कल्याणकारी समझकर उसपर श्रद्धान करता है। तीसरे उपदेशसम्यग्दर्शनमें प्राणी प्रथमानुयोगमें वर्णित तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एव बलभद्र आदि महापुरुषोके चारित्रको सुनकर और उससे पुण्य-पापके फलको विचारकर तत्त्वश्रद्धान करता है। चौथे सूत्रसम्यग्दर्शनमे जीव चरणानुयोगमें वर्णित मुनियोके चारित्रको सुनकर तत्त्वरूचिको उत्पन्न करता है। पाचवे बीजसम्यग्दर्शनमे करणानुयोगसे

---

१. स ता। २ (नि सा) प्रतिपाठोऽयम्, ज स-र ना।

**शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।**
**पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ॥ १५ ॥**

---

शमबोधवृत्तेत्यादि । गौरव महत्त्वम् । पाषाणस्येव यथा पाषाणस्य गौरव विशिष्टफलाप्रसाधकमबहु मूल्यत्वात् तथा शमादीनामपि । तदेव पूज्य विशिष्टफल-साधकं भवति सम्यक्त्वसयुक्तमनर्घ्यत्वात् । महामणेरिव ॥१५॥ एवविधसम्य

---

सम्बद्ध गणित आदिकी प्रधानतासे वर्णित जिन दुर्गम तत्त्वोंका ज्ञान सर्वसाधारणके लिये दुर्लभ होता है उसे जीव किन्ही बीजपदोके निमित्तसे प्राप्त करके तत्त्वश्रद्धान करता है। छठे सक्षेपसम्यग्दर्शनमे द्रव्यानुयोगमे तर्ककी प्रधानतासे वर्णित जीवा-जीवादि पदार्थोको संक्षेपसे जानकर प्राणी तत्त्वरुचिको प्राप्त होता है। सातवे विस्तारसम्यग्दर्शनमे जीव द्वादशागश्रुतको सुनकर तत्त्वश्रद्धानी बनता है। आठवें अर्थसम्यग्दर्शनमे विशिष्ट क्षयोपशमसे सम्पन्न जीव श्रुतके सुननेके विना ही उसमे प्ररूपित किसी अर्थविशेषसे तत्त्वश्रद्धानी होता है। नौवे - अवगाढसम्यग्दर्शनमे अगप्रविष्ट और अगबाह्य दोनो ही प्रकारके श्रुतको ज्ञात करके जीव दृढश्रद्धानी बनता है। यह सम्यग्दर्शन श्रुतकेवलीके होता है। अन्तिम परमावगाढसम्यग्दर्शन सचराचर विश्वको प्रत्यक्ष देखनेवाले केवली भगवान्‌के होता है ॥१४॥ पुरुषके सम्यक्त्वसे रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्व पत्थरके भारीपनके समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्व यदि सम्यक्त्वसे सहित है तो वह मूल्यवान् मणिके महत्वके समान पूजनिय है ॥ विशेषार्थ—साधारण पाषाण और मणिरूप पाषाण ये दोनों यद्यपि पाषाणस्वरूपसे समान है, फिर भी गुणकी अपेक्षा उन दोनोमें महान् अन्तर है। कारण कि यदि किसी मनुष्यके पास विशाल भी साधारण पाषाण हो तो उससे उसका कोई भी अभीष्ट सिद्ध होनेवाला नही है, बल्कि वह उसके लिये भारभूत (कष्टप्रद) ही बना रहता है। किन्तु जिसके पास वह मणिरूप पाषाण है वह उससे अपने अभीष्ट प्रयोजनको अवश्य सिद्ध कर लेता है। कारण कि उसका मूल्य बहुत अधिक है। इससे उसकी जनसमुदायमे प्रतिष्ठा भी अधिक होती है। ठीक इसी प्रकारसे जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित है वह भले ही

**मिथ्यात्वातङ्कवतो हिताहितप्राप्त्यनाप्तिमुग्धस्य ।**
**बालस्येव तवेयं सुकुमारैव क्रिया क्रियते ॥ १६ ॥**

---

क्त्वाराधने प्रवृत्तस्य आराधयितु स्वरूप निरूप्य मयमुत्सारयन्नाह मिथ्यात्वेत्यादि। सद्य प्राणहरो व्याधिरातङ्क । मिथ्यात्वमेव आतङ्क तेन युक्तस्य। हित सुखम् अहित दु ख तयो॰ प्राप्तिश्च अनाप्तिश्च प्राप्त्यनाप्ती तत्र मुग्धस्य उपायानभिज्ञस्य। इय सम्यक्त्वाराधनारूपा अस्मामि तव प्रथमा क्रिया क्रियते सस्कारो विधीयते। किं विशिष्टा। सुकुमारा अक्लेशेन अनुष्ठातु शक्या ॥१६॥ अथेदानी चारित्राराधना-

---

शान्ति, ज्ञान, चारित्र एवं तपका भी आचरण क्यो न करे, किन्तु इससे वह कल्याणके मार्गमे नही प्रवृत्त हो पाता है। कारण कि सम्यग्दर्शनके विना उक्त शान्ति आदिका कोई मूल्य नही होता । किन्तु मणिके समान बहुमूल्य सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेनेपर उन सब शान्ति आदिका महत्त्व बढ जाता है। उस समय वे प्राणीको मोक्षमार्गमे प्रवृत्त करके शाश्वतिक सुखकी प्राप्तिमे सहायक हो जाते हैं। अतएव उक्त शान्ति आदिकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन ही विशेष पूज्य है ॥१५॥ मिथ्यात्वरूप रोगसे सहित होकर हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारको न समझ सकनेवाले बालकके समान तेरे लिये यह सम्यक्त्वआराधनारूप सरल चिकित्सा की जाती है ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार कठिन रोगसे ग्रस्त हुआ बालक अपने हित–अहितको न समझ सकनेके कारण जब उस रोगको नष्ट करनेवाली किसी तीक्ष्ण औषधिको नही लेना चाहता है तब चतुर वैद्य बताशा आदिमें औषधिको रखकर अथवा वस्त्र आदिमें उसका प्रयोग करके सरलतासे उसकी चिकित्सा करता है। उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप रोगसे ग्रस्त हुआ प्राणी जब अपने हित–अहितका विवेक न होनेसे दुर्धर तपश्चरण आदिमें असमर्थ होता है तब उसके हितको चाहनेवाला गुरु सर्व प्रथम उसके लिये इस सम्यक्त्व आराधनाका उपदेश करता है। कारण कि इसका वह सरलतासे आराधना कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह (सम्यक्त्व) आगेकी क्रियाओ (सयम व तप आदि) का मूल कारण भी है ॥ १६ ॥ विषयरूप विषम भोजनसे उत्पन्न हुए

विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ।
निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥ १७ ॥

---

प्रदर्शनोपक्रम कुर्वाणस्तदाराधयितुर्योग्यामेवाणुव्रतरूपा ताम् उपदर्शयन्नाह– विषयेत्यादि । प्रकृतिविरुद्धम् अधिकभोजन वा विषमाशनम् । नो चेत्कालातिक्रमहीन वा विषया एव विषमाशनम् । मोह. अप्रत्याख्यानावरणोदयलक्षण चारित्रमोह. स एव ज्वरो मोहज्वरः । तृष्णा तृषा भोगाभिलाषश्च । पेयाद्युक्रम.–यथा ज्वरक्षीणशक्ते आतुरस्य प्रथमत पेयारूक्षाहाराद्युपक्रम श्रेयान् तथा मोहज्वरक्षीण-शक्तेः मुमुक्षो अणुव्रतादे पेयादिसदृशस्य प्रथमत प्रायो बाहुल्येन उपक्रम प्रारम्भ श्रेयान् ॥१७॥ कस्यासौ तत्प्रारम्भ, कर्तुमुचित इत्याह–सुखितस्येत्यादि । सुखितस्य

---

मोहरूप ज्वरके निमित्तसे जो तीव्र तृष्णा (विषयाकांक्षा और प्यास) से सहित है तथा जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है ऐसे तेरे लिये प्राय पेय (पीनेके योग्य सुपाच्य फलोंका रस आदि तथा अणुव्रत आदि) आदिकी चिकित्सा अधिक श्रेष्ठ होगी ॥ विशेषार्थ– यदि कोई मनुष्य प्रकृतिके विरुद्ध अथवा मात्रासे अधिक भोजन करनेके कारण ज्वर आदिसे पीडित होकर तीव्र प्याससे व्याकुल होता है तो ऐसी अवस्थामे चतुर वैद्य उसकी शारीरिक शक्तिको क्षीण होती हुई देखकर समुचित औषधिके साथ उसके लिये पीनेके योग्य फलोके रस या दूध आदिरूप सुपाच्य भोजनकी व्यवस्था करता है। कारण कि स्निग्ध व गरिष्ठ भोजनसे उसका उक्त रोग कम न होकर और भी अधिक बढ सकता है। इस विधिसे उसका रोग सरलतासे दूर हो जाता है। ठीक इसी प्रकारसे जो प्राणी इन्द्रियविषयोमे मुग्ध होकर उस विषयतृष्णासे अतिशय व्याकुल हो रहा है तथा इसीलिये जिसकी स्वाभाविक आत्मशक्ति क्षीणताको प्राप्त हो रही है उसके लिये सद्गुरु प्रथमतः अणुव्रत आदिके परिपालनका जिनका परिपालन वह सरलतासे कर सकता है– उपदेश करता है। कारण कि वैसी अवस्थामे यदि उसे महाव्रतोके धारण करनेका उपदेश दिया गया और तदनुसार उसने उन्हें ग्रहण भी कर लिया, परन्तु आत्मशक्तिके न रहनेसे यदि वह उनका परिपालन न कर सका तो इससे उसका और भी अधिक अहित हो सकता है। अतएव उस समय उसके लिये अणुव्रतोका उपदेश ही अधिक कल्याणकारी होता है ॥ १७ ॥ हे जीव ! तू चाहे सुखका अनुभव कर

**सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः ।**
**सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥ १८ ॥**
**धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि ।**
**संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥ १९ ॥**

---

सुखम् अनुभवत । दु खितस्य दु'खमनुभवतश्च । धर्मश्चारित्रम्. उत्तमक्षमादिर्वा । स एव ससारे तव कार्यः । सुखितस्य तदभिवृद्धयै सुखाभिवृद्धिनिमित्तम् । दुःखभुज. दु खितस्य । तदुपघाताय दु.खविनाशनिमित्तम् ॥१८॥ विषयसुख हि धर्मफलम् । अतो धर्म रक्षता तद्भोक्तव्यमेतदेवाह– धर्मारामेत्यादि । तान् धर्मारामतरून् । ततस्तेभ्यः । तानि फलानि । उच्चिनु गृहाण । यैः कैश्चित् तै प्रसिद्धै. स्रग्वनितादिभिः उपायैः इन्द्रियसुखहेतुभिः । तान् वा सरक्ष्य । तै. उपायै उत्तमक्षमामार्दवादिभि ॥ १९ ॥ विषयसुखप्राप्तौ धर्ममनुतिष्ठतस्तदभाव स्यात्

---

रहा हो और चाहे दुखका, किन्तु ससारमे इन दोनों ही अवस्थामे तेरा एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये । कारण यह है कि वह धर्म यदि तू सुखका अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुखकी वृद्धिका कारण होगा, और यदि तू दुखका अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुखके विनाशका कारण होगा ॥ **विशेषार्थ–** जो प्राणियोंके दुखको दूर करके उन्हे उत्तम सुखमे धारण करता है वही धर्म कहलाता है । इससे धर्मके दो प्रयोजन सिद्ध होते है– दुखको दूर करना और सुखको प्राप्त करना । इसीलिये यहा यह उपदेश दिया गया है कि प्राणियोको चाहे तो वे सुखी हो और चाहे दुखी, दोनों ही अवस्थामे उन्हे धर्मका आचरण करना चाहिये । कारण कि यदि वे सुखी है तो इससे उनका वह सुख और भी वृद्धिगत होगा, और यदि वे दुखी हैं तो इससे उनके उस दुखका विनाश होगा ॥ १८ ॥ इन्द्रियविषयोंके सेवनसे उत्पन्न होनेवाले सब सुख इस धर्मरूप उद्यानमें स्थिर वृक्षों ( क्षमा–मार्दवादि ) के ही फल हैं । इसलिये हे भव्य जीव ! तू जिन किन्ही उपायोसे उन धर्मरूप उद्यानके वृक्षोंकी भले प्रकार रक्षा करके उनसे उपर्युक्त इन्द्रियविषयजन्य सुखोरूप फलोंका संचय कर ॥ **विशेषार्थ–** ऊपर श्लोक १८ मे जो धर्मको सुखका कारण और दुखका विनाशक बतलाया गया है उसमें यह आशंका हो सकती थी कि जब धर्म प्रत्यक्षमें सुखका विघातक है, तब

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य ।
तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूर्धर्मस्य[1] विमुखस्त्वम् ॥ २० ॥

इत्याशङ्कया धर्मात्पराङ्मुखो माभूस्त्वम् । यत.– धर्म. सुखहेतुरित्यादि । न विराधक. न विनाशक. कथा। भङ्गभिया विनाशभयेन। विमुख (पराङ्मुख)॥२०॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह-धर्मादवाप्तविभव इत्यादि । विभवः

उसे यहाँ सुखका कारण किस प्रकार कहा ? कारण कि धर्माचरणमे विषयभोगोके अनुभवसे प्राप्त होनेवाले सुखको छोडकर अनशनादिजनित दुखको ही सहना पडता है। इस आशंकाके निराकरणार्थ यहाँ यह बतलाया है कि जिस प्रकार अगूर, सेब एवं आम आदि उत्तम फलोकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रथमत: कुछ कष्ट सहकर भी उन फलोकी उत्पन्न करनेवाले वृक्षोका जलसिंचनादिक द्वारा परिवर्तन एव सरक्षण करता है, तत्पश्चात् वह समयानुसार उनसे अभीष्ट फलोको प्राप्त करके अतिशय आनन्दका उपभोग करता है। यदि वह पहले जलसिंचनादिके कष्टसे डरकर उन वृक्षोका परिवर्धन और संरक्षण न करता तो उसे उन अभीष्ट फलोका प्राप्त होना असभव ही था। ठीक इसी प्रकारसे वर्तमानमे जो इन्द्रियविषयभोगजनित सुख प्राप्त हो रहा है वह पूर्वकृत धर्मका ही परिणाम है। अतएव आगे भी यदि उक्त सुखको स्थिर रखना है तो उसके कारणभूत धर्मका आचरण अवश्य ही करना चाहिये। इससे वह धर्म फलीभूत होकर भविष्यमे भी उक्त इन्द्रियविषयजनित सुखरूप फलोको स्थिर रखेगा, अन्यथा भविष्यमें उससे रहित होकर दुखका अनुभव करना अनिवार्य होगा॥ १९॥ धर्म सुखका कारण है और कारण कुछ अपने कार्यका विरोधी होता नही है। इसलिये तू सुखनाशके भयसे धर्मसे विमुख न हो ॥ विशेषार्थ– धर्मके आचरणमें विषयसुखका विनाश होता है, इसी आशकाका निराकरण करते हुए और भी यहा यह बतलाया है कि जब धर्म सुखका कारण है तब वह उस सुखका विघातक नही हो सकता है। यदि कारण ही अपने कार्यका विरोधी बन जाय तो फिर कार्यकारणभावकी नियमव्यवस्था भी कैसे बन सकेगी ? नही बन सकेगी। इस प्रकारसे तो समस्त लोकव्यवहारका ही विरोध हो जावेगा। इसलिये धर्मसे सुखका विनाश होता है, यह कल्पना भ्रमपूर्ण है॥२०॥ जिस प्रकार किसान बीजसे

[1] स धर्म।

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमिव ॥ २१ ॥
संकल्प्यं[1] कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥ २२ ॥

---

इन्द्रियसौख्यसपत्ति. । प्रतिपाल्य रक्षित्वा । कृषीवलः कुटुम्बिक । तस्य धानस्य ॥२१॥ कीदृश फल धर्मात्प्राप्यत इत्याह– सकल्प (ल्प्य) मित्यादि सकल्प (ल्प्य) वचनेन याचितम् । चिन्त्य मनसा सप्रधारितम् ॥२२॥ एवविधो धर्म कुतः उपार्जित

---

उत्पन्न धान्य ( गेहू और चावल आदि ) को प्राप्त करता हुआ उसमेंसे भविष्यके लिये कुछ बीजके निमित्त सुरक्षित रखकर ही उसका उपभोग करता है उसी प्रकार यह भव्य जीव है ! तूने जो यह सुख-सम्पति प्राप्त की है वह धर्मके ही निमित्तसे प्राप्त की है, इसलिये तू भी उक्त सुखसम्पत्तिके बीजभूत उस धर्मका रक्षण करके ही उसका उपभोग कर ॥ २१ ॥ कल्पवृक्षका फल सकल्प (प्रार्थना) के अनुसार प्राप्त होता है तथा चिन्तामणिका भी फल चिन्ता (मनकृत विचार) के अनुसार प्राप्त होता है, परन्तु धर्मसे जो फल प्राप्त होता है वह अप्रार्थित एव अचिन्त्य ही प्राप्त होता है ॥ विशेषार्थ– लोकमे कल्पवृक्ष और चिन्तामणि अभीष्ट फलके देनेवाले माने जाते हैं । परन्तु कल्पवृक्ष जहा वचन द्वारा की गई प्रार्थनाके अनुसार अभीष्ट फल देता है वहां चिन्तामणि मनकी कल्पनाके अनुसार वह फल देता है । किन्तु धर्म एक ऐसा अपूर्व पदार्थ है कि जिससे अभीष्ट फल प्राप्तिके लिये न किसी प्रकारकी याचना करनी पडती है और न मनमे कल्पना भी । तात्पर्य यह कि धर्मका आचरण करनेसे प्राणीको स्वयमेव ही अभीष्ट सुख प्राप्त होता है । जैसे यदि मनुष्य सघन वृक्षके नीचे पहुचता है तो उसे उसकी छाया स्वयमेव प्राप्त होती है, उसके लिये वृक्षसे कुछ याचना आदि नही करनी पडती ॥ २२ ॥ विद्वान् मनुष्य निश्चयसे आत्मपरिणामको ही पुण्य और

---

१. मुद्रितप्रतिपाठोऽयम् ज स सकल्प ।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ २३ ॥
कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात् ।
आच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृण्हन्ति ते पापाः ॥ २४ ॥

---

इत्याह– परिणाममेवेत्यादि । खलु स्फुटम् । तस्मात् परिणामात्, अथवा यत' एव तस्मात् । पापापचय. पापस्य अपचय' अनपार्जन निर्जरा च । पुण्योपचय. पुण्योपार्जन पुण्याभिवृद्धिश्च । सुविधेय' सुखेन विधातु शक्य सुष्ठ वा कर्तव्य. ॥२३॥ ये तु धर्मोपचयम् अकुर्वन्त विषयसुखान्यनुभवन्ति तेषा निन्दा दर्शयन्नाह– कृत्वा धर्मविघातमित्यादि ॥२४॥ ननु तिरस्कारमात्रमेवेद तत्सुखानुभवने धर्मोपार्जनस्य

---

पापका कारण वतलाते हैं । इसलिये अपने निर्मल परिणामके द्वारा पूर्वसचित पापकी निर्जरा, नवीन पापका निरोध और पुण्यका उपार्जन करना चाहिये ॥ विशेषार्थ–'शुभ' पुण्यस्याशुभ. पापस्य' (तत्त्वा. ६-३) इस सूत्रमें आचार्यप्रवर श्री उमास्वामीने यह वतलाया है कि शुभ योग पुण्य तथा अशुभ योग पापके आस्रवका कारण है । यहा शुभ परिणामसे उत्पन्न मन, वचन एव कायकी प्रवृत्तिको शुभ योग तथा अशुभ परिणामसे उत्पन्न मन, वचन एव कायकी प्रवृत्तिको अशुभ योग समझना चाहिये । इस प्रकार जव पुण्यका कारण अपना हि शुभ परिणाम तथा पापका कारण भी अपना ही अशुभ परिणाम ठहरता है तव आत्महितकी अभिलाषा करनेवाले भव्य जीवोको अपने परिणाम सदा निर्मल रखने चाहिये, जिससे कि उनके पुण्यका संचय और पूर्वसचित पापका विनाश होता रहे ॥ २३ ॥ जो प्राणी अज्ञानतासे धर्मको नष्ट करके विषयसुखोका अनुभव करते है वे पापी वृक्षोको जडसे उखाडकर फलोको ग्रहण करना चाहते है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार उत्तम फलोको चाहनेवाला मनुष्य उन फलोको उत्पन्न करनेवाले वृक्षोको जड-मूलसे उखाडकर कभी उन अभीष्ट फलोको नही प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार विषयसुखकी अभिलाषा करनेवाले प्राणी भी उस सुखके कारणभूत धर्मको नष्ट करके कभी उक्त विषयसुखको नही प्राप्त कर सकते है । इसलिये यदि विषयसुखकी अभिलाषा है तो उसके कारणभूत धर्मका रक्षण अवश्य करना चाहिये ॥ २४ ॥ जो धर्म मनसे स्मरण, शरीरके

कर्तृत्वहेतुकर्तृत्वानुमतैः स्मरणचरणवचनेषु ।
यः सर्वथाभिगम्यः स कथं धर्मो न संग्राह्यः ॥ २५ ॥
धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स ताव-
द्धन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽथ तस्मिन् ।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां
रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव ॥ २६ ॥

---

कर्तुं सर्वथाप्यशक्यत्वादित्याशङ्क्याह– कर्तृत्वेत्यादि । धर्मविषये हि यत्स्मरण तथा चरणम् अनुष्ठान प्रतिपादन तद्विषयाणि यस्य यानि (?) प्रत्येक कर्तृत्वहेतु-कर्तृत्वानुमतानि तै. । सर्वथा योऽभिगम्य. प्राप्य मनाक् अगम्यो न भवति ॥२५॥ एव विधे धर्मे प्राणिना चित्ते वर्तमानेऽवर्तमाने च फलमुपदर्शयन्नाह– धर्मो वसेदित्यादि । जनकात्मजाना पितृपुत्राणाम् ॥२६॥ ननु विषयसुखमनुभवता प्राणिना

---

द्वारा आचरण तथा वचनकृत उपदेशको विषय करनेवाले कर्तृत्व (कृत), हेतुकर्तृत्व (प्रेरणा-कारित) और अनुमोदनके द्वारा सब प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है उस धर्मका सग्रह कैसे नही करना चाहिये ? अर्थात् सब प्रकारसे उसका सग्रह अवश्य करना चाहिये ॥ **विशेषार्थ–** जो भी शुभ अथवा अशुभ कार्य स्वय किया जाता है वह कृत, जो दूसरोके द्वारा प्रेरणापूर्वक कराया जाता है वह कारित, तथा दूसरोके द्वारा किये जानेपर जिसकी स्वय प्रशसा की जाती है वह अनुमत कहा जाता है । ये तीनो ही मन, वचन और कायसे सम्बन्ध रखते है । यथा मनकृत, मनकारित, मनानुमत, वचनकृत वचनकारित, वचनानुमत, कायकृत, कायकारित और कायानुमत । इस तरह चूकि इन नौ प्रकारोसे सुखप्रद धर्मका संग्रह भले प्रकार किया जा सकता है अतएव सुखाभिलाषी प्राणियोको उक्त प्रकारसे उस धर्मका सग्रह करना चाहिये, यही उपदेश यहां दिया गया है ॥ २५ ॥ देखो, जब तक वह धर्म मनमे अतिशय निवास करता है तब तक प्राणी अपने मारनेवालेका भी घात नही करता है । और जब वह धर्म मनमेसे निकल जाता है तब पिता और पुत्रका भी परस्परमे घात देखा जाता है । इसलिए इस विश्वकी रक्षा उस धर्मके रहनेपर ही हो सकती है ॥ **विशेषार्थ–** धर्मका स्वरूप दया है । वह धर्म जिसके हृदयमें स्थित रहता है, वह दूसरोकी तो बात

न सुखानुभवात् पापं पापं तद्धेतुघातकारम्भात् ।
नाजीर्णं मिष्टान्नान्नु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥ २७ ॥

---

पापोपार्जनसमवात्कथ धर्मं स्यात् इत्याशङ्कय आह– न सुखानुभवादित्यादि । तद्धेतुघातकारम्भात् तस्य धर्मस्य हेतवोऽहिंसादयस्तेषा घातकस्य विनाशकस्य जीववधादेरारम्भात् हिंसाद्यावेशकरणात् । तन्मात्राद्यतिक्रमणात् तस्य भोजनस्य मात्राद्यतिक्रमोऽतिमात्रस्य वेलातिक्रमयुक्तस्य प्रकृत्यवस्थाविरुद्धस्य चाहारस्य ग्रहण तस्मात् । नो चेन्नित्यभोजनमात्रादधिकात् ॥२७॥ ननु हिंसादिकर्मण पापर्द्धिक्रीडादे-

---

ही क्या है, किन्तु अपने घातकका भी अनिष्ट नही करता है । जैसे-यदि कोई दुष्ट जन किसी अहिंसा महाव्रतके धारक साधुके लिये गाली देता है या प्राणहरण भी करता है तो भी वह अपने उस घातकका प्रतिकार नही करता, प्रस्तुत इसके विपरीत वह उसके हितका ही चिन्तन करता है । वह सोचता है कि यह विचारा अज्ञानी प्राणी अज्ञानवश कुमार्गमे प्रवृत्त हो रहा है, वह कब कुमार्गको छोडकर सन्मार्गमे प्रवृत्त होगा, आदि । इसके विपरीत जिसके हृदयमे वह दयामय धर्म नही रहता है वह औरकी तो बात क्या, किन्तु अपने पिता और पुत्रका भी घात कर डालता है । ऐसे उदाहरण देखने व सुननेमे जब तब आते ही रहते है । इससे यही सिद्ध होता है कि विश्वका कल्याण करनेवाला यदि कोई है तो वह एक धर्म ही हो सकता है ॥ २६ ॥ पाप सुखके अनुभवसे नही होता है, किन्तु वह उपर्युक्त धर्मके हेतूभूत अहिंसा आदिको नष्ट करनेवाले प्राणिवधादिके आरम्भसे होता है । ठीक ही है– अजीर्ण कुछ मिष्टान्नके खानेसे नही होता है, किन्तु वह निश्चयसे उसके प्रमाणके अतिक्रमणसे ही होता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार स्वादके निमित्त परिमित मिष्टान्न आदिके खानेसे कभी अजीर्ण नही होता, किन्तु वह जिव्हालम्पट होकर उसे अधिक प्रमाणमे खानेपर ही होता है, उसी प्रकार विषयसुखके अनुभव मात्रसे कुछ पाप नही होता, किन्तु वह उस सुखकी प्राप्तीके निमित्त अन्याय्य आचरण करनेसे– जैसे प्राणिहत्या, असत्य भाषण, चोरी, परस्त्री या वेश्याका सेवन अथवा अत्यासक्तिसे स्वस्त्रीका भी सेवन और तृष्णाकी अधिकता आदिसे– होता है । यदि प्राणी पूर्वकृत धर्मके प्रभावसे प्राप्त हुई सामग्रीमे ही सन्तोष रखकर

**अप्येतन्मृगयादिकं यदि तव प्रत्यक्षदुःखास्पदं**
**पापैराचरितं पुरातिभयदं सौख्याय संकल्पतः ।**

धर्मवत्सुखहेतुत्वप्रसिद्धे कथ तद्धेतुघातकारम्भात्पाप स्यात्, पापहेतो सुखहेतुत्वाविरोधात् इत्याशङ्का निराकुर्वन्नाह– अप्येतदित्यादि । अपि शब्द· प्रत्येकमभिसबन्धनीय । एतत्परिदृश्यमान मृगयादिकमपि । मृगया पापर्द्धि । आदिशब्दादनृतचौर्यादिग्रहणम् । किं विशिष्ट तत् । प्रत्यक्षदु खास्पदमपि प्रत्यक्षत प्रतीयमानाना तन्निमित्तदु खानाम् आस्पद स्थानम् । तथा पापैराचरितमपि पापिष्ठैः पुरुषै अनुष्ठितम् । पुरा अतिभयदमपि भवान्तरे प्रचुरदु खदायित्वात अतिभयदम् । इत्थभूत मृगयादिकमपि

---

धर्मका घात न करता हुआ अनासक्तिपूर्वक उस विषयसुखका अनुभव करता है तो इससे वह पापसे विशेष लिप्त नही होता है । इसके लिये असाधारण वैभवका उपभोग करनेवाले भरत चक्रवर्ती आदिके उदाहरण भी पुराणोमे देखे ही जाते है । यही तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके आचरणमे भेद है । कारण कि चरित्रमोहके उदयसे इन्द्रियजन्य सुखके भोगनेमे वे दोनो ही समानरूपसे प्रवृत्त होते है, फिर भी विशेपता उनमे यही है कि एक ( सम्यग्दृष्टि ) तो हेय–उपादेयके विवेकपूर्वक उसमे अनासक्तिसे प्रवृत्त है जब कि दूसरा उक्त विवेकको छोडकर अत्यासक्तिके साथ ही उसमे प्रवृत्त होता है । इसलिए यह नही समझना चाहिये कि विषयसुखका अनुभव करते हुए प्राणीके केवल पाप ही होता है और धर्म नही होता ॥ २७ ॥ हे भव्य जीव ! जो शिकार आदि व्यसन प्रत्यक्षमे ही दु खके स्थानभूत है, जिनमे पापी जीव ही प्रवृत्त होते है, तथा जो परभवमे दु खदायक होनेसे अतिशय भयानक है, वे भी यदि सकल्प मात्रसे तेरे सुखके लिये हो सकते है तो फिर विवेकी जन इन्द्रियसुखको न छोडकर जिस धर्मयुक्त आचरणको करते है तथा जो दोनो ही लोकोमे कल्याणकारक है उस धर्ममय आचरणमें तू उक्त संकल्पको क्यो नही करता है ? अर्थात् उसमे ही तुझे सुखकी कल्पना करनी चाहिये ॥

**विशेषार्थ–** सुख और दु ख वास्तवमें अपने मनकी कल्पनाके ऊपर निर्भर हैं । इस कल्पनाके अनुसार प्राणी जिन पदार्थोको इष्ट समझता है उनकी प्राप्तीमे वह सुख तथा उनकी अप्राप्तिमे दु खका अनुभव करता है । उसी

संकल्पं तमनुज्झितेन्द्रियसुखैरासेविते धीधनैः
धर्म्ये कर्मणि किं करोति न भवाँल्लोकद्वयश्रेयसि ॥ २८ ॥

---

यदि तव सौख्याय सौख्यनिमित्त भवति । कस्मात् । सकल्पत चित्तोल्लासात् । तदा धर्म्ये कर्मणि धर्मादनपेते कर्मणि हिंसादिविरतिदानदेवपूजादिलक्षणे । त प्रसिद्ध सौख्यहेतुभूत सकल्प किं करोति न भवान् ( किं न करोति भवान् ) । कथंभूते तस्मिन् धर्म्ये कर्मणि । आसेविते अनुष्ठिते । कै । धीधनै विवेकिभि । किं विशिष्टै । अनुज्झितेन्द्रियसुखै· विषयसुखमनुभवद्भि गृहस्थै अपि अनुष्ठीयमाने पुनरपि कथमूते । लोकद्वयश्रेयसि इहलोके परलोके च उपकारकत्वेन प्रशस्ते ॥ २८ ॥

---

प्रकार जिन पदार्थोको उसने अनिष्ट समझ रक्खा है उनके सयोगमे वह दुःखी तथा वियोगमे सुखी होता है। परन्तु यथार्थमे यदि विचार किया जाय तो कोई भी वस्तु न तो सर्वथा इष्ट है और न सर्वथा अनिष्ट भी। उदाहरणके रूपमे एक ही समयमे जहाँ किसी एकके घरपर इष्ट सम्बधीका मरण होता है वही दूसरेके घरपर पुत्रविवाहादिका उत्सव भी संपन्न होता है। अब जिसके यहा इष्टवियोग हुआ है वह उस एक ही मुहूर्तको अनिष्ट कहकर रुदन करता है और दूसरा उसे ही शुभ घडी मानकर अतिशय आनन्दका अनुभव करता है। इससे निश्चित प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वह घडी (मुहूर्त) वास्तवमे इष्ट और अनिष्ट नही है उसी प्रकार कोई भी बाह्य पदार्थ स्वरूपसे इष्ट और अनिष्ट नही हो सकता है। उन्हे केवल कल्पनासे ही प्राणी इष्ट व अनिष्ट समझने लगते हैं। प्रकृतमे जिन शिकार आदि दुष्कृत्योमें प्रत्यक्षमे ही प्राणिवियोगादिजन्य दु ख देखा जाता है उनके सम्पन्न होनेपर शिकारी जन सुखकी कल्पना करते हैं। पर भला विचार तो कीजिये कि दूसरे दीन प्राणियोको कष्ट पहुचानेवाले वे कार्य क्या यथार्थमे सुखकारक हो सकते है ? नही हो सकते। इसीलिये यहा यह उपदेश दिया गया है कि जब सुख और दु.ख कल्पनाके ऊपर ही निर्भर है तब विवेकी जनको उभय लोकोंमे कष्ट देनेवाले उन प्राणिवधादिरूप दुष्कार्योंमें सुखकी कल्पना न करके जो अहिंसा एव सत्य सभाषणादि उत्तम कार्य उभय लोकोमे सुखदायक है तथा जिनकी सबके द्वारा प्रशंसा की जाती है उनमे ही सुखकी कल्पना करके प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २८ ॥ जिन हिरणियोका

**भीतमूर्तीर्गतत्राणा निर्दोषा देहवित्तकाः ।**
**दन्तलग्नतृणा घ्नन्ति मृगीरन्येषु का कथा ॥ २९ ॥**

---

पापर्द्धिक्रीडारताना अतिनि करुणत्व[1] दर्शयन्नाह– भीतेत्यादि । भीतमूर्ती. भयकम्पितगात्रा । गतत्राणा' रक्षणरहिता. । निर्दोषा दोपरहिता' । देहवित्तका देह एव वित्त धन यासाम् । घ्नन्ति मारयन्ति ॥ २९ ॥ हिंसाविरतिव्रते दाढर्य विधाय

---

शरीर सदा भयसे कापता रहता है, जिनका वनमें कोई रक्षक नही है, जो किसीका अपराध (अनिष्ट) नही करती हैं, जिनके एक मात्र अपने शरीरको छोडकर दूसरा कोई धन नही है, तथा जो दातोके बीचमे अटके हुए तृणोको धारण करती हैं, ऐसी हिरणियोका भी घात करनेसे जब शिकारी जन नही चूकते है तब भला दूसरे (सापराध) प्राणियोके विपयमे क्या कहा जा सकता है ? अर्थात् उनका घात तो वे करेगें ही ॥ *विशेषार्थ*– *यह प्राय: लोकमें प्रसिद्ध ही है कि सच्चे शूर-वीर युद्धनीतिके* अनुसार ऐसे किसी भी प्राणीके ऊपर शस्त्रका प्रहार नही करते है जो कि कायरताको प्रगट कर रहा हो, अरक्षित हो, निरपराध हो सैन्य व शस्त्रादिसे रहित हो, अथवा दातोंमे तृणोंको धारण करके अपने पराजयको प्रकट कर रहा हो । इसके अतिरिक्त वे स्त्रियो और बालकोका घात तो किसी भी अवस्थामे नही करते है । परतु खेद है कि शिकारी जनका वह कार्य इससे सर्वथा विपरीत होता है– जहा वीर पुरुष उपर्युक्त अवस्थाओमेसे किसी एक ही अवस्थाके होनेपर प्राणीका घात नही करते है वहा शिकारी जन हिरणियोमे उन सभी अवस्थाओं (कायरता, अरक्षितता, निरपराधता, शस्त्रादिहीनता, दन्तस्थतृणता और स्त्रीत्व) के रहनेपर उनका निर्दयतासे घात करते हैं । ऐसी अवस्थामे वे अन्य सापराध प्राणियोका घात किये विना भला कैसे रह सकते है ? अतएव उनका कार्य सर्वथा निन्दनीय तो है ही, साथमे वह उभय लोकोमे उन्हे दु:ख देनेवाला भी है ॥ २९ ॥ हे भव्य जीव ! तू परनिन्दा

---

१. ज नि:करुणात्व ।

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयशःसुखायार्थम् ॥ ३० ॥
पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।
संतापयञ्जगदशेषमशीतरश्मिः
पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥
नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः ।

---

अनृतस्तेयविरतिव्रते तद्विधातुमाह– पैशुन्येत्यादि । पैशुन्य परपरिवाद । दैन्य क्लीवता । दाम्भो वञ्चना । स्तेय चौर्यम् । अनृतम् ऋत सत्य न ऋतम् अनृतम् असत्यम् । तेभ्य पातकानि तान्येव पातकानि (वा) । आदिशब्दात् स्तेनप्रयोगतदाहृतादानादयो गृह्यन्ते तेषा परिहारात् अनृतविरतिव्रते पैशुन्यदैन्यपरिहारयोरन्तर्भाव स्तेयविरतिव्रते दम्भपरिहारस्यान्तर्भाव । लोकद्वयहितम् इहलोके परलोके हितकारकम् । अर्जय उपार्जय ॥ ३० ॥ ननु व्रतिनामप्युपसर्गे समायाते आत्मरक्षार्थं हिंसानृतादि' क्वचित्स्यादित्यत्राह– पुण्यमित्यादि । कृतपुण्य पुण्यवन्त प्राणिनम् । अनीदृशोऽपि अद्वितीयोऽपि । उपद्रवो नाभिभवति न अभिभय कुर्यात् । स प्रभवेच्च सपद्यते च । भूत्यै विभूतिनिमित्तम् । ननूपसर्गस्यापकारकत्वात्कथ विभूतिहेतुत्वम् न हि विष जीवितहेतुर्भवतीत्याशङ्क्याह सतापयन्नित्यादि । अयमर्थ –यथा अशीतरश्मेरादित्यस्य सतापो जगत्यपकार कुर्वन्नपि पद्मेषूपकारहेतुर्भवति तथा अपुण्यवति उपद्रवोऽपकाराय प्रवृत्तोऽपि पुण्यवति उपकारनिमित्त भवतीति ॥ ३१ ॥ अथोच्यते पौरुषादेव

---

दीनता, छल–कपट, चोरी और असत्य भाषण आदि पापोको छोडकर प्रतिपक्षभूत सत्यसभाषण एव अचौर्य व्रतोको– जो दोनो ही लोकमे हितकारक हैं– धारण कर । कारण कि ये सबके लिये धर्म, धन, कीर्ति और सुखके कारणभूत है ॥ ३० ॥ हे भव्य जीव ! तू पुण्य कार्यको कर, क्योकि पुण्यवान् प्राणीके ऊपर असाधारण भी उपद्रव कुछ प्रभाव नही डाल सकता है । इतना ही नही बल्कि वह उपद्रव भी उसके लिये सम्पत्तिका साधन बन जाता है । देखो, समस्त ससारको सतप्त करनेवाला भी सूर्य कमलोमे विकासरूप लक्ष्मीको ही करता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार सूर्य दूसरोको संतापकारक भले ही हो, किन्तु वह कमलोको तो प्रफुल्लित ही करता है, उसी प्रकार जो उपद्रव अन्य

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः सङ्गरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ३२ ॥

---

शत्रूनभिभूय उपसर्गस्य निवारयितुं शक्यत्वात् अलं पुण्येन इत्याशङ्क्याह–नेता यत्रेत्यादि । नेता मन्त्री । सैनिकाः भृत्याः सेनायां समवेताः सैनिकाः सेनायां वा, जैनेन्द्रम्, ३।३।१६६ इति इकण् । अनुग्रहः सहायत्वं वरो वा । हरेर्विष्णोः । वारणः हस्ती । इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि एवं विध सातिशयबलयुक्तोऽपि । बलभिदिन्द्रः। भग्नः पराजितः परैः । कैः । रावणादिशत्रुभिः । सङ्गरे सङ्ग्रामे । तद् व्यक्तं सर्वप्रसिद्धमेतत् । अथवा ततस्मात् व्यक्तं स्फुटम् । ननु अहो पौरुषवादिन । तथापि

---

पापी प्राणियोंके लिये कष्टदायक होता है वही पुण्यात्मा जीवोके लिये सुखका साधन बन जाता है। देखो, अग्नि प्राणघातक है यह सब ही अनुभव करते हैं, परन्तु वह प्रज्वलित भयानक अग्नि भी सीता महासतीके लिये जलरूप परिणत हो गई थी। यह सब उस पुण्यका ही प्रभाव है। इसीलिये सुखकी अभिलाषा करनेवाले भव्य जीवोके लिये पाप कार्योंको छोडकर सदा पुण्य कार्योंमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ३१ ॥
जिसका मन्त्री बृहस्पति था, शस्त्र वज्र था, सैनिक देव थे, दुर्ग (किला) स्वर्ग था, हाथी ऐरावण था, तथा जिसके ऊपर विष्णुका अनुग्रह (सहायता) था, इसप्रकार अद्भुत बलसे संयुक्त भी वह इन्द्र युद्धमे दैत्यो (अथवा रावण आदि) द्वारा पराजित हुआ हैं। इसीलिये यह स्पष्ट है कि निश्चयसे दैव (भाग्य) ही प्राणीका रक्षक है। पुरुषार्थ व्यर्थ है, उसके लिये वारवार धिक्कार हो ॥ विशेषार्थ– इससे पूर्वके श्लोकमे पुण्यको प्रधान बतलाकर उसको उपार्जित करनेकी प्रेरणा की गई है। इसपर शंका उपस्थित हो सकती थी कि शत्रु आदिके द्वारा जो उपद्रव आरम्भ किया जाता है उसे पुरुषार्थके बलपर ही नष्ट किया जा सकता है, न कि दैवके ऊपर निर्भर रहते हुए अकर्मण्य बनकर। इसलिये अनुभवसिद्ध पुरुषार्थको छोडकर अदृष्ट दैवके ऊपर निर्भर रहना बुद्धिमानी नही कही जा सकती है। इस आशंकाको ध्यानमे रखकर यहा
... है कि देखो, जो इन्द्र बृहस्पति

दैवमेव शरणम् । धिक् धिक् अतिशयेन निन्द्य पौरुषम् । अतो दैवरहित वृथा विफल पौरुषम् ॥३२॥ ननु हिंसादिविरतिप्रभवस्य अदृष्टस्य इदानीम् अनष्ठातारो

---

आदिरूप असाधारण साधन सामग्रीसे सम्पन्न था वह भी मनुष्य कहे जानेवाले रावण आदिके द्वारा पराजित किया गया है (प. च पर्व १२)। यदि पुरुषार्थ ही कार्यसिद्धीका कारण होता तो वह देवोका अधीश्वर कहा जानेवाला इन्द्र रावण आदि पुरुषोके द्वारा कभी पराजित नही हो सकता था, क्योकि, उसका पुरुषार्थं असाधारण था। परन्तु वह पराजित अवश्य हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि दैवके आगे पुरुषार्थ कुछ कार्यकारी नही है। यह उन लोगोको लक्ष्य करके कथन किया गया है जो सर्वथा दैवकी उपेक्षा करके केवल पुरुषार्थके बलपर ही कार्यसिद्धि करना चाहते है। वास्तवमे यदि विचार किया जाय तो सर्वथा पुरुषार्थके द्वारा कार्यकी सम्भावना नही दिखती। कारण कि हम देखते है कि समानरूपसे पुरुषार्थ करनेवाले अनेक व्यक्तियोमे कुछ यदि सफलताको प्राप्त करते हैं तो कुछ विफलताको भी। एक ही कक्षामे अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोमे कुछ तो गुरुके द्वारा उपदिष्ट तत्वको शीघ्रतासे ही ग्रहण करते है, कुछ उसे धीरे धीरे समझनेमें समर्थ होते है, और कुछ प्रयत्न करते हुए भी उसे ग्रहण करनेमे असमर्थ ही रहते है। इसी प्रकार उनके परिक्षामे बैठनेपर जिनके प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेकी आशा की जाती थी वे अनुत्तीर्ण होते हुए देखे जाते है तथा जिनके उत्तीर्ण होनेकी सम्भवना नही थी वे उत्तम श्रेणीमे उत्तीर्ण होते हुए देखे जाते है। इससे निश्चित होता है कि अकेला पुरुषार्थ ही कार्यकारी नही है, अन्यथा किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल ही नही होना चाहिये था। इसी तरह जिस प्रकार केवल पुरुषार्थसे कार्य की सिद्धि नही हो

सकती है उसी प्रकार केवल दैवसे भी कार्यकी सिद्धि सम्भव नही है। कारण यह कि यदि सर्वथा दैवको ही कार्यसाधक स्वीकार किया जाय तो यह शका होती है कि वह दैव भी उत्पन्न कैसे हुआ ? यदि वह दैव पूर्व पुरुषार्थके द्वारा निष्पन्न हुआ है तब तो सर्वथा दैवकी प्रधानता नही रहती है, और यदि वह भी अन्य पूर्व दैवके निमित्तसे आविर्भूत हुआ है तो फिर वैसी अवस्थामें दैवकी परम्पराके चलते रहनेसे कभी मोक्षकी भी सिद्धि नही हो सकेगी। इसलिये मोक्षके निमित्त किया जानेवाला प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होगा। अतएव जब उन दोनोंमें अन्यकी उपेक्षा करके किसी एक (दैव या पुरुषार्थ) के द्वारा कार्यकी सिद्धि नही हो सकती है तब यहा ऐसा निश्चय करना चाहिये कि प्रत्येक कार्यकी सिद्धिमे वे दोनो ही कारण होते है। हा, यह अवश्य है कि उनमेंसे यदि कही दैवकी प्रधानता और पुरुषार्थकी गौणता भी होती है तो कही पुरुषार्थकी प्रधानता और दैवकी गौणता भी होती है। जैसे कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा भी है– अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात्॥ आ. मी. ९१. अभिप्राय इसका यह है कि पूर्वमे वैसा कुछ विचार न करनेपर भी जब कभी अकस्मात् ही इष्ट अथवा अनिष्ट घटना घटती है, तब उसमें दैवको प्रधान और पुरुषार्थको गौण समझना चाहिये। जैसे– अकस्मात् भूमिके खोदने आदिमें धनकी प्राप्ति अथवा यात्रा करते हुए किसी दुर्घटनामें मरणकी प्राप्ति। उसी प्रकार पूर्वापर विचार करनेके पश्चात् वैसा प्रयत्न करते हुए जो इष्ट अथवा अनिष्ट फल प्राप्त होता है उसमें पुरुषार्थकी प्रधानता और दैवकी गौणता समझनी चाहिये। जैसे व्यापार आदि कार्य करके धनका प्राप्त करना अथवा विषभक्षण आदिके द्वारा मरणका प्राप्त करना ॥ ३२ ॥ जो स्वय मोहको छोडकर कुलपर्वतोंके

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ।
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यमी ॥ ३३ ॥

---

असमाख्या, पूर्वमेव तेषा वार्तामात्रेण श्रूयमाणत्वात् इति वदन्त प्रत्याह—भर्तार इत्यादि । भर्तारो अभ्युद्धर्तार पोषका वा । कस्या भुव पृथिव्या । कुलपर्वता इव । इवशब्दो यथार्थं । यथा कुलपर्वता षट् हिमवदादय. । किं कृत्वा । मोह विहाय निर्मोहा. सन्त । रत्नाना निधय पयोधय इव—यथा पयोधय. समुद्राः मुक्ताफलादिरत्नाना निधय आश्रया तथैव ते । सम्यग्दर्शनादिरत्नानाम् । कथभूता. सन्तस्ते निधयः । व्यावृत्तवित्तस्पृहा व्यावृत्ता विनिष्टा वित्तस्य द्रव्यस्य स्पृहा वाञ्छा येषाम् । तथा स्पृष्टाः कैरपि नो—स्पृष्टा लिप्ता सश्लिष्टा । कैरपि रागादिमलै. । नो नैव । नभ इव । इव-शब्दोऽत्र द्रष्टव्य । यथा नभो निर्मल तथा तेऽपि निर्मला इत्यर्थं तथा विभुतया परममहत्त्वेन । नभ इव विश्वस्य जगतो विश्रान्तये क्लेशापनोदाय अवस्थानाय च । एवविधगुणोपेताश्चिरन्तनाना महामुनीना अन्तिकचरा. शिष्या सन्त सन्मार्गानुष्ठायिन । अद्यापि इदानी तेन (इदानीतनेन) कालेन । कियन्तोऽपि प्रतिनियता[1] । अमी अपि दृश्यमाना ॥ ३३ ॥ एतैरनुष्ठीयमान -मार्गबाह्यः

---

समान पृथिवीका उद्धार करनेवाले है, जो समुद्रके समान स्वय धनकी इच्छासे रहित होकर रत्नोके स्वामी है, तथा जो आकाशके समान व्यापक होनेसे किन्हीके द्वारा स्पृष्ट न होकर विश्वकी विश्रान्तिके कारण है, ऐसे अपूर्व गुणोके धारक पुरातन मुनियोके निकटमे रहनेवाले वे कितने ही साधु आज भी विद्यमान है ॥ विशेषार्थ—यहां यह आशका हो सकती थी कि दैवके ऊपर विश्वास रखकर व्रतोका आचरण करनेवाले मनुष्य इस समय सम्भव नही है, उनकी केवल पुराणोमे ही बात सुनी जाती है । इस आशकाका परिहार करते हुए यहा यह बतलाया है कि वैसे साधु पुरुष कुछ थोडेसे आज भी यहां विद्यमान है, उनका सर्वथा अभाव अभी भी नही है । जिस प्रकार हिमालय आदि कुलपर्वत मोहसे रहित होकर पृथिवीको धारण करते है उसी प्रकार वे साधु जन भी निर्मोह होकर पृथिवीके प्राणियोंका उद्धार करते है, जिस प्रकार समुद्र

---

१. स तथैते ।

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसंधाय बहुधा
विमोहादीहेते सुखलवमवाप्तुं नृपपदम् ।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तरगतो
न पश्यत्यश्रान्तं तनुमपहरन्तं यममम् ॥ ३४ ॥
अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥ ३५ ॥

---

ससारस्थितिमपश्यन्नय लोक. किं करोतीत्याह– पिता पुत्रमित्यादि । अभिसधाय वञ्चित्वा । ईहेते अभिलषतः । सुखलव सुखस्य लवो लेशो यत्र । अश्रान्तम् अनवरतम् । तनुमपहरन्त शरीर विनाशयन्तम् । अमु लोकप्रसिद्ध यमम् ॥ ३४ ॥ विषयव्यामुग्धस्य पुत्रवधाद्यकृत्य प्रवृत्तो कारणमाह–अन्धादित्यादि । विषयान्धीकृते-क्षण अनन्धानि अन्धानि कृतानि अन्धीकृतानि, विषयैं अन्धीकृतानि ईक्षणानि इन्द्रियाणि यस्य ॥३५॥ किंचित् ( किं च ) विषयवाञ्छया कृते प्रवृत्ति , तद्वाञ्छा

---

मोती आदि बहुमूल्य रत्नोंका आश्रय (रत्नाकर) होकर भी स्वयं उनकी इच्छा नही करता है उसी प्रकार वे साधु पुरुष भी सम्यग्दर्शन आदिरूप गुणरत्नोंके आश्रय होकर धनकी इच्छासे रहित होते हैं, तथा जिस प्रकार आकाश किन्ही पदार्थोंसे लिप्त न होकर अपने व्यापकत्व गुणसे समस्त पदार्थोको आश्रय देता है; उसी प्रकार वे साधु जन भी रागादि दोषोसे लिप्त न होकर अपने महात्म्यसे समस्त प्राणियोके सक्लेशको दूर करके उनको आश्रय देते हैं ॥ ३३ ॥ पिता पुत्रको तथा पुत्र पिताको धोखा देकर प्राय. वे दोनो ही मोहके वश होकर अल्प सुखवाले राजाके पद (सम्पत्ति) को प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते हैं । परन्तु आश्चर्य है कि मरण और जन्मरूप दाढोंके बीचमें प्राप्त हुआ यह मूर्ख प्राणी निरन्तर शरीरको नष्ट करनेवाले उस उद्यत यमको नही देखता है ॥ ३४ ॥ जिसके नेत्र इन्द्रियविषयोके द्वारा अन्धे कर दिये गये हैं अर्थात् विषयोंमें मुग्ध रहनेसे जिसकी विवेकबुद्धि नष्ट हो चुकी है ऐसा यह प्राणी उस लोकप्रसिद्ध अन्धेसे भी अधिक अन्धा है, क्योकि अन्धा प्राणी तो केवल चक्षुके ही द्वारा नही जान पाता है, परन्तु वह विषयान्ध मनुष्य इन्द्रियो और मन आदिमेंसे किसीके द्वारा भी वस्तुस्वरूपको नही जान पाता है ॥ ३५ ॥ आशारूप वह गड्ढा प्रत्येक प्राणीके भीतर

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥
आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं
स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि ।

---

च प्रतिप्राणि विद्यते, अत कस्य वाञ्छितसिद्धि स्यात् इत्याह–आशेत्यादि । आशा एव गर्त आशागर्त । यस्मिन् आशागर्ते विश्व जगत् अणूपम परमाणुतुल्यम् । कस्येत्यादि । कस्य आशावत । किं जगत् । कियत् कियत्परिमाणम् । विभागेन वद्य ( वट्य ) मानम् । आयाति । अत वृथा । व युष्माकम् । विषयैषिता विषयाभिलाषित्वम् ॥ ३६ ॥ अत एव विषयसुख विहाय विशिष्टपुण्योपार्जनार्थं एव मुनय प्रवर्तन्ते, शरीरादे तस्मिन् सति एव सभवात् इति दर्शयन् आह–आयु'-श्रीरित्यादि । न भवेत् पुण्य न तत् च आयुरादिकम् अपि भवेत् । आयासिते अपि क्लेशिते अपि आत्मनि । इति एवम् । सुविचार्य । के ते आर्या गुणी गुणवद्भि वा

---

स्थित है जिसमें कि विश्व परमाणुके बराबर प्रतीत होता है। फिर उसमे किसके लिये क्या और कितना आ सकता है ? अर्थात् प्रायः नहीके समान ही कुछ आ सकते है। अतएव हे भव्यजीवो ! तुम्हारी उन विषयोंकी अभिलाषा व्यर्थ है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय इसका यह है कि प्रत्येक प्राणीकी तृष्णा इतनी अधिक बढी हुई है कि समस्त विश्वकी सम्पत्ति भी यदि उसे प्राप्त हो जाय तो भी उसकी वह तृष्णा कभी शान्त नही हो सकती है। फिर भला जरा विचार तो कीजिये कि प्राणी तो अनन्त है और उनमेसे प्रत्येककी विष तृष्णा उसी प्रकारसे वृद्धिगत है। ऐसी अवस्थामे यदि विश्वकी समस्त सम्पत्तिको भी उनमे विभाजित किया जाय तो उनमेसे प्रत्येक प्राणीके लिये जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह नगण्य ही होगा। अतएव यहां यह उपदेश दिया गया है कि जब प्राणीकी विषयतृष्णा कभी पूर्ण नही हो सकती, बल्कि वह उत्तरोत्तर बढती ही जाती है, तब उन विषयोकी इच्छा करना ही व्यर्थ है ॥ ३६ ॥ यदि पूर्वमें प्राप्त किया हुआ पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और

इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥ ३७ ॥
कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना
यानन्वेष्टुमिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम् ।
आज्ञातं करणैर्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत्
कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः ॥ ३८ ॥

---

अर्यन्ते इति आर्या । कार्ये अत्र ऐहिके आयुरादिकार्ये । मन्दोद्यमाः आदररहिता । द्राक् शीघ्रम् । आगामिभवार्थं परलोकसिद्ध्यर्थम् । सततम् अनवरतम् । कया । प्रीत्या प्रसत्त्या यतन्ते तराम् उद्यम कुर्वन्ति अत्यर्थम् ॥३७॥ ननु ऐहिकसुखसाधकेषु दैववशात्प्राप्तेषु विषयेषु कस्मान्मन्दोद्यमो विधीयते इत्याह--कः स्वाद इत्यादि । कटुविषप्रख्येषु कटुविषसदृशेषु तथा कटुविषम् आस्वादित दाह-सताप-मूर्च्छामरणादिक करोति तथा विषया अपि । दु.खिना सता । यान् विषयान् । अन्वेष्टु वाञ्छितुम् । अलम् अशुचि कृतम् । येन आस्वादेन कृत्वा कारणेन वा । अभिमानामृतम् अभिमान एव अमृतम् । आ ज्ञात निश्चित मया व्यत्यासितास्वादनः विपरीतकृतास्वादनः त्वम् । सुधीः अपि सन् इति कष्ट निन्द्यमेतत् । किंवत् । पित्तज्वराविष्टवत् पित्तज्वरागृहीतवत् । कैः व्यत्यासितास्वादन । करणै । कि विशिष्टै. । मन प्रणिधिभि मन. प्रणिधिः दूतो येषा मनसो वा प्रणिधय । तथा रागरसैः विश्वविषयेषु रागरसो येषाम् ॥ ३८ ॥ विषयासक्तस्य भवत. क्वचिदपि

---

शरीर आदि भी यथेच्छित प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि वह पुण्य नही है तो फिर अपनेको क्लेशित करनेपर भी वह सब ( इष्ट आयु आदि ) बिल्कुल भी नही प्राप्त हो सकता है। इसीलिये योग्यायोग्य कार्यका विचार करनेवाले श्रेष्ठ जन भले प्रकार विचारके इस लोक सम्बन्धी कार्यके विषयमे विशेष प्रयत्न नही करते हैं, किन्तु आगामी भवोंको सुन्दर बनानेके लिये ही वे निरन्तर प्रीतिपूर्वक अतिशय प्रयत्न करते है ॥ ३७ ॥ कडुए विषके सदृश संताप उत्पन्न करनेवाले उन विषयोमें वह कौनसा स्वाद ( आनन्द ) है कि जिसके निमित्तसे उक्त विषयोंको खोजनेके लिये दु खी होकर तूने अपने स्वाभिमान (आत्मगौरव) रूप अमृतको मलिन कर डाला है ? अरे, मुझे निश्चय हो चुका है कि तू विद्वान् होकर भी पित्तज्वरसे पीडित मनुष्यकी तरह मनकी दूतीके समान होकर विषयोमें आनन्द माननेवाली इन्द्रियोंके द्वारा

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत् ।
तत्तस्याशक्तितो भोक्तुं वितनोर्भानुसोमवत् ॥ ३९ ॥

---

अनिवृत्तचेतसः भक्षितुमसामर्थ्यादेव किंचिदुद्ध्रियते इति आह–अनिवृत्तेरित्यादि । अनिवृत्ते क्वचिदपि विषये हिंसादिनिवृत्तिरहितस्य तव । अवशिनष्टि उद्ध्रियते । तस्य अनिवृत्तिपरिणतस्य तव । वितनो. राहो. ॥ ३९ ॥ दैवात् सकरुणचेतसा

---

विपरीत स्वादवाला कर दिया गया है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार विषके भक्षणसे प्राणीको सताप आदि उत्पन्न होता है उसी प्रकार उन विषयोके उपभोगसे भी प्राणीको सताप आदि उत्पन्न होता है । अतएव वे विषय विषके ही समान है । फिर भी प्राणी उन्हे सुखके कारणभूत एव स्थायी मानकर उनको प्राप्त करनेके लिये जो अयोग्य आचरण करता हुआ आत्मप्रतिष्ठाको भी नष्ट कर डालता है उसका कारण यह है कि जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त पुरुषकी जीभका स्वाद विपरीत हो जाता है, जिससे कि उसे मधुर दूध भी कडुआ प्रतिभासित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार मनसे प्रेरित होकर विषयोमे अनुरक्त हुई इन्द्रियोके दास बने हुए इस ससारी प्राणीको भी मोहवश विषतुल्य उन विषयोके भोगनेमे आनन्दका अनुभव होता है तथा विषयनिवृत्तिरूप जो निराकुल सुख है वह उसे कडुआ प्रतीत होता है ॥ ३८ ॥ तृष्णाकी निवृत्तिसे रहित अर्थात् अधिक तृष्णासे युक्त होकर भी तेरे मुखसे जो सब जगत् अवशिष्ट बचा है वह तेरी भोगनेकी शक्ति न रहनेसे ही शेष रहा है । जैसे– राहुके मुखसे शेष रहे सूर्य और चद्र ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार यद्यपि राहु सूर्य और चद्रको पूर्णग्रास ही करना चाहता है, फिर भी जो उनका भाग शेष बचा रहता है वह उसकी अशक्तिके कारण ही बचा रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीकी तृष्णा तो इतनी अधिक होती है कि वह समस्त जगत्को ही स्वाधीन करना चाहता है, फिर भी जो समस्त जगत् उसके स्वाधीन नही हो पाता है उसमे उसकी अशक्ति कारण है, न कि विषय–तृष्णाकी न्यूनता ॥ ३९ ॥ जिस किसी प्रकारसे ससारके

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात्संसारसारं पुनः
तत्त्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरवराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम् ।
त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते
मा भूत्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥ ४० ॥

मोक्षलक्ष्मीप्रार्थितया हिंसानिवृत्तिमिच्छता भवता मूलतोऽपि परिग्रह. (ह) त्याग कर्तव्य. इति दर्शयन्नाह–साम्राज्यमित्यादि । साम्राज्य चक्रवर्तित्वम् । कथमपि महता कष्टेन । सुचिरात् बहुतरकालेन । ससारसार ससारे सारम् उत्कृष्टम् । शाश्वती श्रिय मोक्षलक्ष्मीम् । प्रागेव मूलतोऽपि अगृहीत्वैव । ते त्वया त्याज्यानपि इति सबन्ध त्याज्यस्य ( व्यस्य ) वा कर्तरि ( जैनेन्द्रम्. १।४।७५ ) इति षष्ठी । इत्थभूतानपि परिग्रहान् गृहीत्वा । त्व मा भू हास्यास्पदम् । मा भूदिति पाठे ते तव हास्यास्पद माभूदिति सम्बन्ध. । कि कृत्वा । सपाद्य सयोज्य आत्मन । कि तत् । भौतिक-मोदकव्यतिकर परिव्राजकमोदकप्रघट्टकम् यथैवेह केनचित्परिव्राजकेन भिक्षाया मोदको लब्ध, स च गच्छतो गूथोपरि पतितोऽपि तेन गृहीतोऽन्येन च केनचित् परिव्राजको भणित चिद्रूपकोऽय मोदक परित्यज्यतामिति । तेन चोक्त[1] प्रक्षाल्य त्यक्ष्यामीति ॥ ४० ॥ शाश्वतश्रियो निर्ग्रन्थावस्थैव साधिका न गृहस्थावस्थेति

---

सारभूत साम्राज्य ( सार्वभौम राज्य ) को चिरकालमें प्राप्त करके भी यदि चक्रवर्ती उसे छोडनेके पश्चात् ही अविनश्वर मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं तो फिर तुम त्यागनेके योग्य उन परिग्रहो (विषयो) को ग्रहण करनेके पहिले ही छोड दो । इससे तुम परिव्राजकके लड्डूके समान विषयोका सम्पादन करके हसीके पात्र न बन सकोगे ।

विशेषार्थ– संसारमें सबसे श्रेष्ठ चक्रवर्तीका साम्राज्य समझा जाता है, परन्तु उसको कष्टपूर्वक प्राप्त करके भी अन्तमें मोक्षसुखकी इच्छासे उन्हे भी वह छोडना ही पडा है । और तो क्या कहा जाय, किन्तु तीर्थंकर भी प्राप्त राज्य-लक्ष्मीको छोड देनेके पश्चात् ही जगत्का कल्याण करनेवाली आर्हन्त्य-लक्ष्मी और अन्तमे मोक्ष-लक्ष्मीको प्राप्त करते है । इस प्रकार जब समस्त विषयोका छोडना अनिवार्य है तब सबसे उत्तम तो यही है कि ममत्व बुद्धिको छोडकर उन्हे ग्रहण ही न किया जाय, अन्यथा यदि उन्हे ग्रहण करनेके पश्चात् छोडा तो फिर

---

१. ज चोक्ता ।

सर्वं धर्ममयं क्वचित्क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं
क्वाप्येतद्द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ।
तस्मादेष तदन्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा
मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ ४१ ॥

---

दर्शयन्नाह सर्वमित्यादि । गेहाश्रम कर्ता । चरित कर्म करोति । कथभूत चरितम् । सर्वं धर्ममय क्वचित् सामायिकाद्यवस्थाया सर्वं चरित धर्म प्रकृतो यत्र । क्वचिदपि क्वापि कृष्यादौ । प्रायेण बाहुल्येन । पापात्मक पापरूपम् । क्वापि प्रासादादिकरणे एतत् चरित द्वयवत् पुण्यपापात्मकम् । प्रज्ञाधनानामपि विवेकिनामपि । तत् ( यत् ) एव तस्मात् एव गृहाश्रम. पाप । तत्प्रसिद्धम् अन्धरज्जुवलनम्– यथा अन्धो रज्जुवलन विदधानो न विशिष्ट निरुपद्रव च विदधाति तथा गेहाश्रम कर्मेति । स्नान गजस्याथवा– यथा गज स्नान कृत्वा पुलरुध्दूलन करोति तथा गेहाश्रम पापशुद्धि कृत्वा पुन पापोपार्जन करोति । अथवा मत्तोन्मत्तविचेष्टितम्– मत्तो मद्याभिभूत उन्मत्तो धत्तूर– कोद्रवादिजनितमदो मदरहितो वा तयोश्चेष्टितम् अनुष्ठान येषा सुन्दरमसुन्दरं च भवति । तथा गेहाश्रमकर्मापि । यत एव तत न हिं हित.– हि स्फुट न हित शाश्वतलक्ष्मी– साधकत्वेनोपकारक गेहाश्रमो गृहस्थावस्था ॥४१॥ तथा गेहाश्रमे कृष्यादिव्यापाराणा

---

उस साधुके समान हसीका पात्र बनना पडेगा जो भिक्षामे प्राप्त हुए लड्डूके विष्ठामें गिर जानेपर उसे धोनेके पश्चात् छोडता है । अभिप्राय यह है कि जो प्राणी तदनुकूल धर्मके आचरणके विना ही मोहवश विषयोको प्राप्त करनेके लिये निष्फल प्रयत्न करते है वे लोगोकी हसीके पात्र बनते है । अतएव वास्तविक सुखका साधन जो धर्म है उसका ही परिपालन करना योग्य है । इससे ऐहिक एव परलौकिक सुखकी प्राप्ति स्वयमेव होगी ॥ ४० ॥ गृहस्थाश्रम विद्वज्जनोंके भी चारित्रको प्राय किसी सामायिक आदि शुभ कार्यमें पूर्णतया धर्मरूप, किसी विषयभोगादिरूप कार्यमें पूर्णतया पापरूप तथा किसी जिनगृहादिके निर्मापणादिरूप कार्यमें उभय ( पुण्य-पाप ) रूप करता है । इसलिये यह गृहस्थाश्रम अन्धेके रस्सी भाजनेके समान अथवा हाथीके स्नानके समान अथवा शराबी या पागलकी प्रवृत्तिके समान सर्वथा हितकारक नही है ॥ विशेषार्थ– अन्धा मनुष्य आगे आगे रस्सीको भाजता है, परन्तु वह पीछेसे उकलती जाती है, अतएव जिस प्रकार उसका वह

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेव्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ
किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः ।
तैलं त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं
नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत्त्वया ॥ ४२ ॥

---

सुखस्य असाधकत्व दर्शयन्नाह– कृष्ट्वेत्यादि । कृष्ट्वा भूमि विलिख्य । उप्त्वा बीजं प्रक्षिप्य कृषि कृत्वेत्यर्थः । नृपतीन् निषेव्य राजसेवा कृत्वा । बहुशो अनेकधा । अम्भोनिधौ समुद्रे । किम् अज्ञानतः क्लिश्नासि क्लेश व्रजसि । अत्र ससारे । हा विषादे कष्टमेतत् । त्वम् अयम् अज्ञानत तैल सिकतासु वालुकासु मृगयसे अन्वेषयसे । ननु 'अहो । आशाग्रहनिग्रहात् आशैव ग्रहः प्राणिना पारतन्त्र्यहेतुत्वात् । तस्य निग्रहात् ॥ ४२ ॥ उपदिष्टेऽपि सुखोपाये तदनिग्रह कुर्वाणा प्राणिनः एतत्कुर्वन्ति

---

रस्सी भाजना व्यर्थ है; अथवा हाथी पहिले स्नान करता है और तत्पश्चात् वह पुन अगपर धूलि डाल लेता है, इसलिये जिस प्रकार उक्त हाथीका स्नान करना व्यर्थ है; अथवा शराबी या पागल मनुष्य कभी उत्तम और कभी निकृष्ट चेष्टा करता है, परन्तु वह विवेकशून्य होनेसे जिस प्रकार हितकारक नही है; उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी हितकारक नही है । कारण यह कि उक्त गृहस्थाश्रममे रहता हुआ मनुष्य जहा जिनपूजा, स्वाध्याय एवं दानादिरूप शुभ कार्योंको करता है वहा वह अर्थोपार्जनके लिये हिंसाजनक आरम्भ एव विषयसेवनादिरूप पापाचरण भी करता ही है । अतएव अन्धेके रस्सी भांजने आदिके समान वह गृहस्थाश्रम कभी कल्याणकारी नही हो सकता है । जीवका सच्चा कल्याण उक्त गृहस्थाश्रमको छोड करके निर्ग्रंथ अवस्थाकी प्राप्तिमे ही सम्भव है ॥ ४१ ॥ तुम यहां सुखको प्राप्त करनेकी आशासे भूमिको जोतकर और बीज बो करके अर्थात् खेती करके, राजाओकी सेवा करके अर्थात् दासकर्म करके, तथा बहुत बार वनमें और समुद्रमे परिभ्रमण करके अर्थात् व्यापार करके बहुत कालसे क्यों कष्ट सह रहे हो ? खेद है कि तुम अज्ञानतासे यह जो कष्ट सह रहे हो उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि तुम वालुमें तेल की खोज कर रहे हो अथवा विषभक्षणसे जीनेकी इच्छा कर रहे हो । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार वालुमे तेलकी प्राप्ति असम्भव है अथवा विषके भक्षणसे

आशाहुताशनग्रस्तवस्तूच्चैर्वंशजां जनाः ।
हा किलैत्य सुखछायां दुःखघर्मापनोदिनः ॥ ४३ ॥

---

इत्याह- आशेत्यादि । आशैव हुताशनोऽग्निः प्राणिना सतापकारित्वात् । तेन ग्रस्तानि च तानि वस्तूनि च तान्येव उच्चैर्वंशा तेभ्यो जाता सुखच्छाया सुखाय छाया सुखस्य वा छाया लेश । छाया हि प्रकाशावरण लेशश्चोच्यते । किलैत्य आश्रये अरुचौ लोकोक्तौ वा । एतत्प्राप्य दु.खघर्मापनोदिन दु खमेव घर्मो दाहसतापजनकत्वात् तस्य अपनोदिन स्फोटका. भवन्ति ॥ ४३ ॥ सुखलवमात्रमपि

---

जीवित रहना असम्भव है उसी प्रकार उक्त कृषि आदिके द्वारा यथार्थ सुखका प्राप्त होना भी असम्भव है। हे भव्य ! क्या तुझे यह ज्ञात नही है कि तेरा वह अभीष्ट सुख निश्चयत. आशा ( विषयाभिलाषा ) रूप पिशाचीके नष्ट करनेसे ही प्राप्त हो सकता है ? ॥ ४२ ॥ खेद है कि अज्ञानी प्राणी आशारूप अग्निसे व्याप्त भोगोपभोग वस्तुओंरूप ऊंचे वांसोसे उत्पन्न हुई सुखकी छाया ( सुखाभास = दु ख ) को प्राप्त करके दु खरूप सन्तापको दूर करना चाहते है ॥ विशेषार्थ- जो अज्ञानी प्राणी विषयतृष्णाके वश होते हुए अभीष्ट भोगोपभोग वस्तुओको प्राप्त करके यथार्थ सुख प्राप्त करना चाहते है उनका यह प्रयत्न इस प्रकारका है जिस प्रकार कि सूर्यके तापसे पीडित होकर कोई मनुष्य उस संतापको दूर करनेके लिए अग्निसे जलते हुए ऊचे वासोकी छायाको प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। अभिप्राय यह है कि प्रथम तो ऊंचे वासोकी कुछ उपयुक्त छाया ही नही पडती है, दूसरे वे अग्निसे जल भी रहे है, अतएव ऐसे वासोकी छायाका आश्रय लेनेवाले प्राणीका वह सताप जिस प्रकार नष्ट न होकर और अधिक बढता ही है उसी प्रकार विषयतृष्णाको शान्त करनेकी अभिलाषासे जो प्राणी इष्ट सामग्रीके सचयमें प्रवृत्त होता है इससे उसकी वह तृष्णा भी उत्तरोत्तर बढती ही है, परन्तु कम नही होती। जैसा कि समन्तभद्र स्वामीने भी कहा है- तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवै· परिवृद्धिरेव। स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥ बृ. स्व ८२. अर्थात् विषयतृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें प्राणीको सब ओरसे जलाती है। इनकी शान्ति इन्द्रियविषयोकी वृद्धिसे नही होती, बल्कि

**खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा**
**भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृच्छ्रात्सुतुच्छं किल।**
**क्षारं वार्युदगात्तदप्युपहतं पूतिक्रमिश्रेणिभिः**
**शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥४४॥**

---

दैवात् कथमपि प्राप्त स्थिर न भवति इति दृष्टान्तद्वारेण समर्थयते– खाते इत्यादि। खाते खनने। कया। अभ्यासजलाशया निकटे जलप्राप्तीच्छया। अजनि सजाता। कासौ। शिला। प्रारब्धनिर्वाहिणा खननम् अपरित्यज्य (ज) ता। भूयोऽभेदि पुन' स्फोटिता शिला। रसातलावधि पातालपर्यन्तम्। तत रसातलावधिशिलाभेदनात्। कृच्छ्रात् महता कष्टेन। सुतुच्छ स्वल्पम्। उदगात् निर्गतम्। किं तत्। वारि। तदपि क्षारमपि वारि। उपहतम् उपहृतम्। कामि। पूतिक्रमिश्रेणिभि पूति पूतिगन्धा क्रमिश्रेणय क्रमिपङ्क्तय ताभि। पिपासि (स) त' पातुमिच्छत। सहसा झटिति। कष्टमिति विषादं। तच्च वारि शुष्कम्। विधेश्चेष्टित कर्मणो विलसितम्॥ ४४॥

---

उससे तो वे और भी अधिक बढती है। यह उस तृष्णाका स्वभाव ही है। प्राप्त हुए इष्ट इन्द्रियविषय कुछ थोडेसे समयके लिए केवल शरीरके सतापको दूर कर सकते है। इस प्रकार विचार करके हे जितेन्द्रिय कुन्थु जिनेन्द्र! आप चक्रवर्तीकी भी विभूतिको छोडकर उस विषयजन्य सुखसे पराङमुख हुए है ॥ ४३॥ निकटमे जलप्राप्तिकी इच्छासे भूमिको खोदनेपर चट्टान प्राप्त हुई। तब प्रारम्भ किये हुए इस कार्यका निर्वाह करते हुए उसने पाताल पर्यन्त खोदकर उस चट्टानको तोड दिया। तत्पश्चात् वहां बडे कष्टसे कुछ थोडासा जो खारा जल प्रगट हुआ वह भी दुर्गन्धयुक्त और क्षुद्र कीडोके समूहसे व्याप्त था। इसको भी जब वह पीने लगा तब वह भी शीघ्र सूख गया। खेद है कि दैवकी लीला विचित्र है॥ **विशेषार्थ–** यहा एक उदाहरण द्वारा पुरुषार्थको गौण करके दैवकी प्रधानता निर्दिष्ट की गई है। कल्पना किजिये कि कोई एक मनुष्य प्याससे अतिशय पीडित था। इसलिये जल प्राप्त करनेके लिये वह भूमिको खोदने लगता है। किन्तु कुछ थोडासा खोदनेपर वहा एक विशाल कठोर चट्टान आ जाती है। इतनेपर भी वह अपने प्रारब्ध कार्यको चालू रखते हुए उस चट्टानको तोड कर उसे बहुत अधिक गहरा खोद डालता है। तब कही उसे वहा कुछ थोडासा

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥ ४५ ॥

---

ननु निरवद्यवृत्या अर्थोपार्जनं कृत्वा सपदा वृद्धि विधाय सुखानुभवन करिष्यामीति वदन्त प्रत्याह–शुद्धैरित्यादि । शुद्धै निरवद्यै । स्वच्छाम्बुभि' निर्मलजलैः सिन्धव' नद्य. ॥४५॥ अस्तु नाम यथाकथचित्तासा वृद्धिस्तथापि धर्मसुखज्ञानसुगतिसाधनत्व-

---

जल दिखायी देता है, सो भी खारा, दुर्गन्धयुक्त और कीडोंसे परिपूर्ण । फिर भी जब वह उसे भी पीना प्रारम्भ करता है तो वह भी देखते ही देखते सूख जाता है । इसको ही दैवकी प्रतिकूलता समझनी चाहिये । तात्पर्य यह कि यदि पापका उदय है तो प्राणी इष्ट विषयसामग्रीको प्राप्त करनेके लिये कितना भी अधिक प्रयत्न क्यो न करे, परतु वह उसे प्रप्त नही हो सकती है । यदि किसी प्रकार कुछ थोडी-भी प्राप्त भी हुई तो इससे उसकी तृष्णा अग्निमे डाले हुए घीके समान और भी अधिक बढती जाती है जिससे कि उसे शाति मिलनेके बजाय अशाति ही अधिक प्राप्त होती है । अतएव सुखी रहनेका सरल उपाय यही है कि पूर्व पुण्यसे प्राप्त हुई सामग्रीमे सतोष रखकर भविष्यके लिये पवित्र आचरण करे । कारण यह कि सुखका हेतु एक धर्माचरण ही है, न कि केवल (दैवनिरपेक्ष) पुरुषार्थ ॥ ४४ ॥ शुद्ध धनके द्वारा सज्जनोकी भी सम्पत्तिया विशेष नही बढती है । ठीक है–नदियां शुद्ध जलसे कभी भी परिपूर्ण नही होती है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार नदिया कभी आकाशसे बरसते हुए शुद्ध जलसे परिपूर्ण नही होती है, किन्तु वे इधर उधरकी गदी नालियो आदिके बहते हुए जलसे ही परिपूर्ण होती है, उसी प्रकार सम्पत्तियां भी कभी किसीके न्यायोपार्जित धनके द्वारा नही बढती हैं, किन्तु वे असत्य भाषण, मायाचार एव चोरी आदिके द्वारा अन्य प्राणियोको पीडित करनेपर ही वृद्धिको प्राप्त होती हुई देखी जाती है । इससे यहा यह सूचित किया गया है कि जो सज्जन मनुष्य यह सोचते है कि न्यायमार्गसे धन-सम्पत्तिको बढाकर उससे सुखका अनुभव करेगे उनका वह विचार योग्य नही है ॥ ४५ ॥ धर्म वह है जिसके होनेपर अधर्म न

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ ४६ ॥

---

मस्तीति मन्यमान प्राह-स धर्म इत्यादि । यत्र यस्मिन् सति । अनेन यथाख्यात-चारित्रस्यैव धर्मत्वम् अनन्तसुखस्यैवा ( व ) सुखत्व केवलज्ञानस्यव ज्ञानत्व मोक्षगतेरेव गतित्वमुक्त भवति ॥ ४६ ॥ इत्यमूत सुखादिक कष्टसाध्यम् अर्थोपार्जन

---

हो, सुख वह है जिसके होनेपर दुःख न हो, ज्ञान वह है जिसके होनेपर अज्ञान न रहे, तथा गति वह है जिसके होनेपर आगमन न हो ॥ **विशेषार्थ-** जो प्राणी यह विचार करते है कि भले ही सम्पत्ति न्याय अथवा अन्याय्य मार्गसे क्यों न प्राप्त होवे, फिर भी उससे धर्म, सुख, ज्ञान और शुभ गतिकी तो सिद्धि होती ही है, अतएव उसको उपार्जित करना योग्य ही है । ऐसा विचार करने वालोको लक्ष्यमे रखकर यहा यह बतलाया गया है कि वैसी सम्पत्ति धर्म, सुख, ज्ञान और सुगति इनमेंसे किसीको भी सिद्ध नही कर सकती है । कारण यह कि धर्मका स्वरूप यह है कि जो दुःखको दूर करे । वह धर्म समस्त धन-धान्यादि परिग्रह एवं राग-द्वेषादिको छोडकर यथाख्यात चारित्रके प्राप्त होनेपर ही हो सकता है, अत' उसकी सिद्धि पापोत्पादक सम्पत्तिके द्वारा कभी भी नही हो सकती है । इसी प्रकार सुख भी वास्तविक वही हो सकता है जिसमे दुःखका लेश न हो । ऐसा सुख उस सम्पत्तिसे सम्भव नही है । सम्पत्तिके द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख आकुलताको उत्पन्न करनेवाला है तथा वह स्थायी भी नही है । अतएव वह सम्पत्ति सुखकी भी साधक नही है । तथा जिसके प्रगट होनेपर समस्त विश्व हाथकी रेखाओके समान स्पष्ट दिखने लगता है वही ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहलानेके योग्य है । वह ज्ञान ( केवलज्ञान ) भी उक्त सपत्तिसे सिद्ध नही हो सकता । जिस गतिसे पुन. ससारमें आगमन नहीं होता है वह पंचमगति (मोक्ष) ही सुगती है । वह सम्यग्दर्शन आदिरूप अपूर्व रत्नत्रयके द्वारा सिद्ध होती है, न कि धन -धान्य आदिके द्वारा । अतएव वैसा विचार करना अविवेकतासे परिपूर्ण है ॥ ४६ ॥ हे विषयलम्पट ! तू यहां विषयोंमे

वार्तादिभिर्विषयलोल विचारशून्यं[1]
क्लिश्नासि यन्मुहुरिहार्थं परिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टितं यदि सकृत्परलोकबुद्ध्या
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥ ४७ ॥
संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्म्यको
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ।
अन्तःशान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुर-
ज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥ ४८ ॥

---

तु सुखसाध्यमतस्तत्रैव प्रवृत्तिरित्याशङ्कयाह- वार्तेत्यादि । कृषि ( ) प (पा) शुपाल्य वाणिज्या च वार्ता सा आदिर्यासा दण्डनीत्यादीना ताभि । विषयलोल. विषयलम्पट । विचारशून्यम् इत्यम् अर्थोपार्जन कृत किं मम परिणामपथ्य न वेति विचारमकृत्वा । यत् क्लिश्नासि आत्मानम् आयासयसि । मुहु पुन पुन । इह ससारे अर्थपरिग्रहार्थम् अर्थोपार्जनार्थम् । तच्चेष्टितम् आत्मन. क्लेशकारि दुर्धरानुष्ठानम् । यदि सकृत् कदाचित् परलोकबुद्ध्या क्रियते ॥४७॥ परलोकचेष्टिते दार्ढ्योत्पादनार्थं[2] रतिद्वेषौ निराकुर्वन्नाह- संकल्प्येत्यादि । अज्ञातयाथात्म्यकं. यथावत्पदार्थपरिज्ञानरहित. । आसज्य आसक्तो भूत्वा सवध्य (?) वा । काल गमयसि नयसि । अन्त शान्ति रागादिपरिहारम[3] । उपैहि गच्छ । यावन्न भस्मीभवेद्भवान् । क्वेत्याह अदयत्यादि । अदयो निर्दय स चासौ प्राप्तश्चासौ अन्तकश्च मृत्युस्तस्य प्रस्फुरन् ज्वालाभीषणश्चासौ जाठरानलश्च तस्य मुखे ॥ ४८ ॥ अन्त शान्ते (न्ति)

---

मुग्ध होकर विवेकसे रहित होता हुआ जो खेती, पशुपालन एव व्यापार आदिके द्वारा धन कमानेके लिये बार बार कष्ट सहता है वैसी कष्टमय प्रवृत्ति ( तपश्चरणादि ) परलोककी बुद्धिसे अर्थात् आगामी भवको सुखमय बनानेके लिय यदि एक बार भी करता तो फिर निश्चयसे बार बार जन्म-मरण आदिके दु खको न प्राप्त करता ॥ ४७ ॥ हे भव्य ! तू पदार्थके यथार्थ स्वरूपको न जानकर 'यह इष्ट है और यह अनिष्ट है' इस प्रकार मानता हुआ बाह्य वस्तुओ ( स्त्री, पुत्र एव धन आदि ) मे आसक्त होकर व्यर्थमे ही क्यो बार बार समयको बिताता है ? जब तक तू प्राप्त हुए निर्दय काल (मरण) की प्रगट ज्वालाओसे भयानक औदार्य

---

१ मु. (नि) शून्य । २ ज दाढर्योपादनार्थम् ३ ज रामादि ।

**आयातोऽस्यतिदूरमङ्ग परवानाशासरित्प्रेरितः**
**किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः।**
**स्वातन्त्र्यं व्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-**
**ग्राहव्यात्तगभीरवक्त्रविषमे मध्ये भवाब्धेर्भवेः ॥ ४९ ॥**

---

रेव च काशानद्या नीत्वा भवसमुद्रे पात्यमानस्य भवतस्तरणोपाय इति दर्शयन्नाह– आयातोऽसीत्यादि। अङ्ग अहो। परवान् कर्माधीन। एनाम् आशासरितम्। क्षम समर्थ। स्वातन्त्र्यम् औदासीन्य निर्मोहताम्। दुरन्तेत्यादि। दुष्ट अन्त सामीप्य यस्य दु खेन वा अन्तो अवसानो यस्य स चासौ अन्तकश्च यम स एव ग्राहो जलचर तेन व्यात्त प्रसारित गम्भीर महत् तच्च तद्वक्त्र च तेन विषमे रौद्रे ॥ ४९ ॥

---

अग्निके मुखमे पडकर भस्मसात् नही होता है तबतक राग–द्वेषादिके परिहारस्वरूप आन्तरिक शान्तिको प्राप्त कर ले ॥ **विशेषार्थ–** किसका कब मरण होगा, इसे कोई भी प्राणी नही जानता है। इसलिये यहा परलोकको सुखमय बनानेके लिये यह उपदेश दिया गया है कि हे जीव! तू अविवेकी होकर बाह्य परपदार्थोमे राग और द्वेष करता हुआ अपने समयको यो ही न बिता। कारण कि ऐसा करते हुए तुझे कभी निराकुलता प्राप्त न हो सकेगी। पहिली बात तो यह है कि ये बाह्य पदार्थ अपनी इच्छाके अनुसार प्राय प्राप्त ही नही होते है, फिर यदि पुण्यके उदयसे कुछ प्राप्त भी हुए तो वे चिरस्थायी नही है– किसी न किसी प्रकार उनका वियोग अवश्य होनेवाला है। अतएव हे भव्यजीव! उन अस्थिर बाह्य पदार्थोमे राग–द्वेष न करके तू अहिंसा आदि सद्व्रतोका आचरण करता हुआ स्थिर व निराबाध आत्मीक सुखको प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। यदि तूने ऐसा न किया और इस बीच मृत्युका ग्रास बन गया तो फिर यह जो आत्महितकी साधन सामग्री ( मनुष्यभव आदि ) तुझे सौभाग्यसे प्राप्त हो गई है वह दुर्लभ हो जावेगी ॥ ४८ ॥ हे भव्य! तू पराधीन बनकर तृष्णारूपी नदीसे प्रेरित होता हुआ बहुत दूर आ गया है। क्या तू यह नही जानता है कि निश्चयसे इस तृष्णारूप नदीको पार करनेके लिये तू ही अतिशय समर्थ है? अतएव तू स्वतन्त्रताका अनुभव कर जिससे कि शीघ्र ही उस तृष्णा नदीके किनारे जा पहुचे। यदि तू ऐसा नही करता है तो फिर उस विषयतृष्णारूप नदीके प्रवाहमे बहकर

**आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-**
**स्तद्भूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्वं यथा ।**

---

विषयाकाक्षया अभिभूतश्च भवान् (न) भोग्यमपि भुङ्क्ते इत्याह–आस्वाद्येत्यादि । आस्वाद्य भुक्त्वा । यत् स्त्र्यादि । उज्झित त्यक्तम् । विषयिभि । कथभूतै । व्यावृत्तकौतुहलै विनष्टस्त्र्यादिरागरसै । हे जन्तो । अद्य इदानीम् । तत् स्त्र्यादिक पुनरपि अभिलषसि भोक्तु वाञ्छसि । कथम् । अप्राप्तपूर्वं यथा भवत्येव न प्राप्त

---

दुर्दम यमरूप मगरके खुले हुए गम्भीर मुखसे भयानक ऐसे ससाररूप समुद्रके मध्यमे जा पहुचेगा ।। विशेषार्थ– जिस प्रकार कोई मनुष्य यदि नदीके प्रवाहमे पड जाता है तो वह दूर तक बहता हुआ चला जाता है। ऐसी अवस्थामे यदि वह अपने तैरनेके सामर्थ्यका अनुभव करके उसे पार करनेका प्रयत्न करे तो वह निश्चित ही उससे पार हो सकता है। परन्तु यदि वह व्याकुल होकर अपनी तैरनेकी कलाका स्मरण नही करता है तो फिर वह उसके साथ बहता हुआ उस भयानक अपार समुद्रके बीचमे जा पहुचेगा जहा उसे खानेके लिये मुखको फाडकर हिंस्र जलजन्तु ( मगर व घडयाल आदि ) तत्पर रहेगे । ठीक इसी प्रकारसे अज्ञानी प्राणी नदीके समान भयावह विषयोकी तृष्णामे फसकर उसके कारण मोक्षमार्गसे बहुत दूर हो जाते है। वह यदि यह विचार करे कि मैं स्वय ही इस विषयतृष्णामें फसा हू, अत इससे छुटकारा पानेमे भी मैं पूर्णतया स्वतन्त्र हू, मुझे दूसरा कोई परतन्त्र करनेवाला नही है, तो वह उक्त विषयतृष्णाको छोडकर मोक्षमार्गमे प्रवृत्त हो सकता है। परन्तु यदि वह अपनी ही अज्ञानतासे ऐसा नही करता है तो यह निश्चित है कि इससे वह समुद्रके समान अथाह और अपरिमित उस ससार (निगोदादि पर्याय) के मध्यमे जा पहुचेगा कि जहासे उसका निकलना अशक्य होगा और जहा उसे अनन्त वार जन्ममरणके दु खको सहना पडेगा ।। ४९ ।। जिन स्त्री आदि भोगोको विषयी जनोने भोग करके अनुरागके

जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद् दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥ ५० ॥
भङ्क्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ।

---

पूर्वं कदाचिद्यत्तत् अप्राप्तपूर्वम् । किं कुर्वन् । अविकुत्सयन् धिक् विषयिणाम् उत्सृष्टमिदम् इत्येव निन्दयन् । शान्ति' रागाद्युपशम. परमसुख निर्वाण वा । दुराशा दुष्टाम् आशाम् । इमा स्त्र्यादिविषयाम् । कथभूतामित्याह– अह इत्यादि । अहासि पापानि तेषा सहति' सघात सैव वीरवैरिपृतना सुभटशत्रुसेना तस्या श्रीवैजयन्तीं पताकाम् । हरेत् स्फेटयेत् ॥५०॥ तामहरन् भवान् अपरमपि किं कर्तुमिच्छतीत्याह- भङ्क्त्वेत्यादि भाविभवाश्च स्वर्गादिपरलोकानपि । च शब्दोऽपर्थे । कथभूतान् । भोगिविषमान् भोगिना व्यसनिना विषमान् अगोचरान् । भङ्क्त्वा विनाश्य । भोगान् बुभुक्षुर्भृश भोगान् भोक्तुमिच्छु. । भृशम् अत्यर्थम् । किंविशिष्टान् भोगान् । भोगिविषमान् सर्पवद्रौद्रान् सतापमूर्च्छामरणविधायकत्वात् । मृत्वापि स्वय मृत्वापि

---

छूट जानेसे छोड दिया है उनको ( उच्छिष्टको ) तू घृणासे रहित होकर फिरसे भी इस प्रकारसे भोगनेकी इच्छा करता है जैसे कि मानों वे कभी पूर्वमें प्राप्त ही न हुए हो । हे क्षुद्र प्राणी ! जबतक तू पापसमूहरूप वीर शत्रूकी सेनाकी फहराती हुई ध्वजाके समान इस दुष्ट विषयतृष्णाको नष्ट नही कर देता है तबतक क्या तुझे शान्ति प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती है ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार युद्धभूमिमें जब तक शत्रुसेनाकी ध्वजा फहराती रहती है तबतक शूर–वीरोको शान्ति नही मिलती है- तबतक वे उस ध्वजाको गिरानेके लिए भीषण रणमे ही उद्युक्त रहते हैं । इस प्रकार जब वे उस शत्रुकी ध्वजाको छिन्नभिन्न कर डालते है तब ही उन्हे अभूतपूर्व आनन्दका अनुभव होता है । ठीक उसी प्रकारसे यह प्राणी भी जबतक शत्रुसेनाकी ध्वजाके समान उस दुष्ट विषयवासनाको नष्ट नही कर देता है तबतक शान्ति (संतोष) को प्राप्त नही होता– वह उन विषयोको प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारके कष्टोंको ही सहता है । किन्तु जैसे हि वह विवेकको प्राप्त होकर उक्त विषयतृष्णाको नष्ट कर देता है वैसे ही उसे अनुपम शान्तिका अनुभव होने लगता है । इससे यह निश्चित है कि सुखका कारण अभीष्ट विषयोकी प्राप्ति नही है, किन्तु उनका परित्याग ही है ॥ ५० ॥ जो

यद्यत्साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥ ५१ ॥

---

मरणम् अङ्गीकृत्वापि स्वयम् । अस्तभीति परित्यक्तभयः सन् भोगान् बुभुक्षु । तथा स्वयम् अस्तकरुण सर्वान् पितृपुत्रकलत्रादीन् जिघासु हन्तुमिच्छु । अथवा मृत्वापि विषयासक्तिवशात् दु कर्म उपार्जयित्वा जन्मनो वैफल्य कृत्वापि । तथा मुधा एवमेव । सर्वान् जिघासु सर्वान् प्राणिनो विषयासक्ति विधाय अनेन दु कर्म उत्पादयित्वा तज्जन्मनो वैफल्य विधाय दुर्गतिप्रापकत्वेन हन्तुमिच्छु । यद्यदित्यादि । यद्यत् कर्म परलोकनाशक स्वपरवधादिलक्षण साधुविगर्हित मुनिभिर्निन्दितम् तस्यैव कर्मण । कामुको विषयाभिलाषीति धिक् निन्द्यमेतत् । अत्रैव अर्थान्तरन्यासमाह– कामेत्यादि । कामक्रोधावेव महाग्रहौ स्थापितौ तौ आहितौ मनसि येन, ताभ्या वाहितम् अध्यासित मनो यस्य, स किं किं न कुर्यात् । इह परत्र वा विरुद्ध सर्वमपि कुर्यादित्यर्थं ॥५१॥ भोगे बुभुक्षा च जगत स्थितिमपश्यतो जनस्य स्यादित्याह—

---

स्वर्गादिरूप आगामी भव भोगी जनोंके लिये विषम है, अर्थात् जो विषयी जनोंको कभी नही प्राप्त हो सकते हैं, उनको कष्ट करके जो अज्ञानी प्राणी सर्पके समान भयकर उन भोगोके भोगनेकी अतिशय इच्छा करता है वह भय और दयासे रहित होकर स्वय मर करके भी व्यर्थमे दूसरोको मारनेकी इच्छा करता है । जिस जिस निकृष्ट कार्यकी साधु जनोंने निन्दा की है, धिक्कार है कि वह दुर्बुद्धि उसी कार्यको चाहता है । ठीक है– जिनका मन, काम और क्रोध आदिरूप महाग्रहोसे पीडित है वे प्राणी कौन कौनसा निन्द्य कार्य नही करते है ? अर्थात् सब ही निन्द्य कार्यको वे करते हैं ॥ **विशेषार्थ**– ये इन्द्रियविषय सर्पके समान भयंकर है– जिस प्रकार सर्पके काटनेसे प्राणीको सताप एव मरण आदिका दु.ख प्राप्त होता है उसी प्रकार उन विषयभोगोके कारण विषयी जनोंको भी सताप एवं मरण आदिका दुख सहना पडता है । फिर भी जो अज्ञानी उन विषयोके भोगनेकी इच्छा करते हैं उन्हे न तो अपने मरणका भय रहता है और न दूसरे प्राणियोंका घात करनेमे दया भी उत्पन्न होती है । वे उन विषयोंको प्राप्त करनेके लिये स्वय मर करके भी दूसरोके मारनेमें उद्यत होते हैं । अथवा वे उन विषयोमे पडकर स्वयं तो मरते ही है,

श्वो यस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते
स्थैर्यं नाम न कस्यचिज्जगदिदं कालानिलोन्मूलितम् ।
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्ष्णोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्बहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥ ५२ ॥
संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारिण्यलं
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ।

---

श्व इत्यादि । यस्य वस्तुनः श्वो भावी दिवसोऽजनि अभूत् स एव दिवसो ह्यः अतीत. तस्य वस्तुन सपद्यते. । यत. एवम् अत । स्थैर्यमित्यादि । कालानिलोन्मूलित काल एव अनिलो वायु तेन उन्मूलित स्थिते प्रच्यावित किं न पश्यसि । भ्रान्तिम् अपास्य निराकृत्य सर्वथा नित्यत्वाभिनिवेश परित्यज्य । प्रत्यक्षम् अक्ष्णोर्यथा-भवत्येवम् । येन अदर्शनेन कारणेन वा । अत्रैव जगति बद्धस्पृह कृताभिलाष. ॥५२॥ एवविध जगत्स्वरूपम् अपरिभावयता चतुर्गतिससारे दु खान्यनेकधानुभूतानीत्याह-ससार इत्यादि । ससारे नरकादिषु गतिषु । यानि दु खानि प्रतिसेवितानि अनुभूतानि तान्येवमेवासताम् एवम् एव तिष्ठन्तु । कथंभूते ससारे । स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारिणि, न

---

अपना सर्वनाश करते ही हैं– साथ ही दूसरोंको भी उन विषयोंमें प्रवृत्त करके उनका भी घात करते है– सर्वनाश करते हैं । कामी जनकी बुद्धि ऐंसी भ्रष्ट हो जाती है कि जिससे वे उस असदाचरणमें प्रवृत्त होते हैं जिसकी कि साधु जन सदा निन्दा किया करते हैं । ये काम और क्रोध आदि दुष्ट पिशाचके समान है । उनसे पीडित होकर प्राणी हेयादेयका विचार न करके जिस किसी भी कार्यको करता है ॥ ५१ ॥ जो दिन जिस वस्तुके लिये कल ( अगामी दिन ) था वह उसके लिये कल (बिता हुआ दिन) हो जाता है । यहां कोई भी वस्तु स्थिर नही है, यह सब ससार कालरूप वायुसे परिवर्तित किया जानेवाला है । हे भ्रात ! क्या तुम भ्रमको छोडकर आखोंसे प्रत्यक्ष नही देखते हो, जिससे कि इन नश्वर बाह्य वस्तुओके विषयमें ही बार बार इच्छा करके बहुत कालसे परिभ्रमण करते हो ? ॥ ५२ ॥ जो ससार स्मरण मात्रसे भी अतिशय संतापको उत्पन्न करनेवाला है उसके भीतर नरकादि दुर्गतियोमें पडकर तूने जिन दु खोंको सहन किया है वे तो यों ही रहें, अर्थात् उन परोक्ष दु खोकी चर्चा करना व्यर्थ है । किन्तु हे भव्य ! धनसे रहित तूने कामके

तत्तावत्स्मर सस्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥ ५३ ॥
उत्पन्नोऽस्यसि दोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान्
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वञ्चकः ।

---

केवलम् अनुभूयमाने किं तु स्मृतिपथे स्मृतिविषयमात्रे अपि उद्वेगकारिणि अरतिसतापत्रासजनके । दु खानि वा कथमूतानि । उद्वेगकारीणि । अलम् अत्यर्थेन । तद् दु ख स्मर यत् प्राप्तवान् निर्धन सन् । कै कृत्वेत्याह सस्मरेत्यादि । सस्मरस्मित सकामहसित सह तेन वर्तन्ते ये ते च ते शितापाङ्गाश्च कटाक्षा तै । कथमूतै । अनङ्गायुधैः कामबाणै । वामाना स्त्रीणाम् । किंवत् । हिमदग्धमुग्धतरुवत् हिमेन दग्धश्चासौ मुग्धतरुश्च कोमलतरुस्तद्वत् ॥ ५३ ॥ ससारे परिभ्रमन्नेवविध धर्मम् आत्मन पश्यन् किमिति वैराग्य भवान्न व्रजतीत्याह- उत्पन्नोऽसीत्यादि । दोषा वातपित्तश्लेष्माण । धातव रसरुधिरमासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि । मला मूत्रपुरीषादय । आधिर्मन पीडा । सह आधिव्याधिभ्या वर्तते इति साधिव्याधि. ।

---

शस्त्रों (बाणों) के समान स्त्रियोंके कामोत्पादक मन्द हास्ययुक्त तीक्ष्ण कटाक्षोंसे विद्ध होकर बर्फसे जले हुए कोमल वृक्षके समान जो दु ख प्राप्त किया है उसका तो भला स्मरण कर ॥ **विशेषार्थ**- अभिप्राय इसका यह है कि जो प्राणी सदा विषयभोगोंमे ही लिप्त रहते है उन्हे दोनो ही लोकोमे दु ख भोगना पडता है । इस लोकमे तो उन्हे इसलिये दु ख भोगना पडता है कि जिन सुन्दर स्त्रियोंके मन्द हास्य एव कटाक्षपात आदिके द्वारा वे कामसे पीडित होनेपर उन्हे प्राप्त करके अपनी वासनाको पूर्ण करना चाहते है वे उपयुक्त धन आदिके न रहनेसे उन्हे प्राप्त होती नही हैं । फिर भी वे यों ही सतप्त होकर उसके लिये कष्टकारक निष्फल प्रयत्न करते रहते है । इसके अतिरिक्त उस विषय-तृष्णासे जो पापका बन्ध होता है उसका उदय होनेपर नरकादि दुर्गतियोमे जाकर परलोकमे भी वे दु सह दु खोको सहते हैं ॥ ५३ ॥ हे बार बार जन्मको धारण करनेवाले प्राणी ! तू उत्पन्न हुआ है, वात-पित्तादि दोषो, रस-रुधिरादि सात धातुओ एव मल-मूत्रादिसे सहित शरीरका धारक है, क्रोधादि कषायोसे सहित हैं, आधि (मानसिक पीडा) और व्याधि (शारीरिक पीडा) से पीडित है, दुश्चरित्र है, अपने आपको

मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्योऽसि जन्मिन् वृथा
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥५४॥

---

असि भवसि । मृत्युव्यात्तमुखान्तर· मृत्युना व्यात्त प्रसारितं तच्च तन्मुख च तस्य आन्तरं मध्य तदस्ति इति 'अन्तस आदेर' इति । जरसा ग्रास्यो वृद्धत्वेन कवलीकर्तव्य । बद्धस्पृहः कृतानुबन्ध ॥५४॥ अहिते कृतानुबन्धोऽपिभवान् अभिलषित-विषयप्राप्तौ केवल क्लेशमेव अनुभवतीत्याह– उग्रेत्याद्याह । उग्रग्रीष्मो जेष्ठाषाढी-योष्णकाल । तत्र कठोरस्तीव्र. स चासौ घर्मंकिरणश्चादित्य. तस्य स्फूर्जन्तो दीप्ताः

---

धोका देनेवाला है, मृत्युके द्वारा फैलाये गये मुखके मध्यमें स्थित अर्थात् मरणोन्मुख है; तथा जरा ( बुढापा ) का ग्रास बननेवाला है। फिर ये अज्ञानी प्राणी ! यह समझमे नही आता कि तू उन्मत्त होकर अपने ही हितका शत्रु (घातक) होता हुआ उन अहितकारक विषयोंकी अभिलाषा क्यों करता है ? ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार पागल या शराबी मनुष्य हिताहितके विवेकसे रहित होकर स्वच्छद प्रवृत्ति करता है तथा उसको अपने मरणका भी भय नही रहता है उसी प्रकार यह विषयोन्मत्त प्राणी भी अपने भले बुरेका ध्यान न रखकर जो हिंसादि कार्य आत्माका अहित करनेवाले हैं उनमें तो प्रवृत्त होता है तथा जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसतोष (या पूर्णतया ब्रह्मचर्य) एवं अपरिग्रह आदि कार्य आत्मका हित करनेवाले है उनसे विमुख रहता है। ऐसा करते हुए उसे यह भी ध्यान नही रहता कि अब मैं बूढा हो गया हू, मुझे किसी भी समय मृत्यु अपना ग्रास बना सकती है, उसके पहिले क्यो न मैं कुछ आत्महित कर लू। यही कारण है जो वह उस विषयतृष्णाके साथ मरणको प्राप्त होकर पुनः उस शरीरको धारण करता है जो स्वभावतः अपवित्र, रोगादिसे ग्रसित एवं राग–द्वेषादिका कारण है। इस प्रकारसे वह दूसरोंके साथ स्वयं अपने आपको भी धोका देकर इस दुःखमय ससारमे बार बार परिभ्रमण करता रहता है ॥ ५४ ॥ तीक्ष्ण ग्रीष्म कालके कठोर सूर्यकी दैदीप्यमान किरणोंकी प्रभाके समान सतापको उत्पन्न करनेवाली समस्त इन्द्रियोंसे संतप्त होकर यह प्राणी वृद्धिगत विषयतृष्णासे युक्त होता हुआ विवेकको नष्ट कर देता है और फिर इसीलिये अभीष्ट विषयोंको प्राप्त

उग्रग्रीष्मकठोरघर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो[1] जनः।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥ ५५ ॥

---

ते च ते गभस्तयश्च किरणा तेषा प्रभा सादृश्य सतापकारित्वलक्षण येषा ते। पापप्रयासाकुल. अशुभव्यापारव्यग्र। तोयोपान्तेत्यादि। तोयोपान्ते जलसमीपे दुरन्तोऽगाध स चासौ कर्दमश्च तत्र गत पतित स चासौ क्षीणो दुबल: उक्षा च बलीवर्द स एव (इव) तर्हि अभिमतविषयप्राप्तौ तृष्णाग्नेरुपशमात् क्लेशोपशमो भविष्यतीति वदन्त प्रत्याह लब्धेन्धन इत्यादि। निर (रि) न्धन इन्धनरहित। उभयथापि वाञ्छितार्थेधन (न्धन) प्राप्य प्राप्तेर्द्विप्रकारोत्कट. (?)

---

करनेके लिये वह पापाचारमे प्रवृत्त होकर व्याकुल होता है। परंतु जब उसे वे अभीष्ट विषय नही प्राप्त होते है तब वह इस प्रकारसे क्लेशको प्राप्त होता है जिस प्रकार कि प्याससे पीडित होकर पानीके निकट अगाध कीचडमे फसा हुआ निर्बल बैल क्लेशको प्राप्त होता है ॥
**विशेषार्थ**– 'जिस' प्रकार कोई दुर्बल बैल ग्रीष्म कालीन सूर्यके सतापसे पीडित होकर तृष्णा (प्यास) से युक्त होता हुआ किसी जलाशयके पास जाता हैं और वहा पानीके समीपमे स्थित भारी कीचडमे फसकर दु सह दु:खको सहता है उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी भी ग्रीष्मकालीन सूयके समान सतापजनक इन्द्रियोसे पीडित होकर तृष्णा (विषयवांछा) से युक्त होता हुआ उन विषयोको प्राप्त करनेके लिये कठोर परिश्रम करता है और इसके लिये वह धर्म–अधर्मका भी विचार नही करता। परतु वैसा पुण्य शेष न रहनेसे जब वे विषयभोग उसे नही प्राप्त होते हैं तब उसकी गति भी उक्त बैलके ही समान होती है– वह इच्छित भोगोको न पाकर उस बढी हुई तृष्णासे निरतर सक्लिष्ट रहता है ॥५५॥ अग्नि इन्धनको पाकर जलती है और उससे रहित होकर बझ [illegible] है। परतु आश्चर्य है कि तीव्र मोहरूपी अग्नि दोनों भी [illegible]) जलती

---

१ मु (जै, नि)

लब्धेन्धनो ज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरिन्धनः ।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥ ५६ ॥
किं मर्माण्यभिनन्न भीकरतरो दुःकर्मगर्मुद्गणः
किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्नालेढि देहश्चिरम् ।

---

इतराग्नेरतिशयवान् ॥ ५६ ॥ विषयसुखसाधकार्येषु प्रवृत्तिश्च प्राणिना मोहजनिताधिक (मा) हात्म्यात्तच्च व्याजेन निराकुर्वन्नाह–किं मर्माणीत्यादि। किं न अभिनत् विदारितवान् । भीकरतर. अतिशयेन भयकरः दुःकर्मगर्मुद्गण दुकर्माणि एव गर्मुता मधुमक्षिकाणा गण । दु खेत्यादि । दु खान्येव ज्वलनावली अग्निपङ्क्तिः तस्या विलसितै. दाघसतापकारित्वादिचेष्टितैः । न आलेढि न ग्रस्त । यमतूर्यैरवरव

---

है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार अग्नि प्राणीको सतप्त करती है उसी प्रकार मोह भी राग–द्वेष उत्पन्न करके प्राणीको संतप्त करता है। इसीलिये मोहको अग्निकी उपमा दि जाती है। परतु विचार करनेपर वह मोहरूप अग्नि उस स्वाभाविक अग्निकी अपेक्षा भी अतिशय भयानक सिद्ध होती है। कारण यह है कि अग्नि तो जबतक इन्धन मिलता है तभी तक प्रदीप्त होकर प्राणीको सतप्त करती है– इन्धनके न रहनेपर वह स्वयमेव शान्त हो जाती है, किन्तु वह मोहरूप अग्नि इन्धन ( विषयभोग ) के रहनेपर भी सतप्त करती है और उसके न रहनेपर भी संतप्त करती है। अभिप्राय यह है कि जैसे जैसे अभीष्ट विषय प्राप्त होते जाते है वैसे ही कामी जनोको वह विषयतृष्णा उत्तरोत्तर और भी बढती जाती है जिससे कि उन्हे कभी आनन्दजनक संतोष नही प्राप्त हो पाता। इसके विपरीत इच्छित विपयसामग्रीके न मिलनेपर भी वह दुःखदायक तृष्णा शान्त नही होती। इस प्रकार यह विपय तृष्णा उक्त दोनो ही अवस्थाओंमे प्राणीको सतप्त किया करती है ॥ ५६ ॥ हे भव्यजीव! क्या अत्यन्त भयानक पापकर्मरूपी मधुमक्खियोके समूहने इस प्राणीके मर्मको नही विदीर्ण किया है? अवश्य किया है। क्या दु खरूप अग्निको ज्वालाओंसे इसका शरीर चिर कालसे नही व्याप्त किया गया है? अवश्य किया गया है। क्या इसने गरजते हुए यम (मृत्यु) के वाजोंके भयानक शब्दोको नही सुना है? अवश्य सुना है। फिर क्या कारण है जो यह प्राणी निश्चयसे

किं गर्जद्यमतूरभैरवरवान्नाकर्णयन्निर्णयं
येनायं न जहाति मोहविहितां निद्रामभद्रां जनः ॥ ५७ ॥
तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुःकर्मणो
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वय बन्धनम् ।

---

मृतकतूरभयानकशब्दम् । गर्जन् (त्) वाद्यमान नाकर्णयन् (त्) । निर्णय निश्चय यथा भवति । न जहाति न त्यजति । निद्राम् अज्ञानताम् । अभद्रा निन्द्याम् ॥ ५७ ॥ मोहजनितनिद्रावशाच्चैवंविधस्वरूपसंपादके ससारे जनस्य रतिरित्याह— तादात्म्यमित्यादि । हे जन्मिन् । जन्मनि ससारे । तव तादात्म्यम् अभेद । तनुभिः शरीरै· सह । पाकस्य दु कर्मण फलस्य व्यापार दु कर्मणो निमित्तो मनोवाक्काय-परिस्पन्द । समय प्रति प्रतिसमयम् । तथा समय प्रति प्रकृतिभि. ज्ञानावरणादिभि. ।

---

दु.खोत्पादक उस मोहनिर्मित निद्रा ( अज्ञान ) को नही छोड रहा है ॥ विशेषार्थ– लोकमे देखा जाता है कि प्राणी प्रगाढ निद्रामे भी यदि सो रहा है तो भि वह मधुमक्खियोंके काट लेनेसे, निकटवर्ती अग्निकी ज्वालाओसे, अथवा मृतकके आगे बजनेवाले गम्भीर बाजोंके शब्दोंसे अवश्य जाग उठता है। परन्तु खेद है कि यह अज्ञानी प्राणी उन मधुमक्खियोके समान कष्टदायक पाप कर्मोंसे ग्रसित, अग्निके समान सन्ताप देनेवाले अनेक प्रकारके दु खोंसे व्याप्त, तथा बाजोके साथ ले जाते हुए मृतकको देखकर शरीरकी अनित्यताको जानता हुआ भी दु खदायक अज्ञानरूप निद्राको नही छोडता है। इससे यह निश्चित प्रतीत होता है कि वह मोहनिद्रा उस प्राकृत निद्रासे भी प्रबल है। यही कारण है जो स्वाभाविक निद्रा तो प्राणीकी थकावटको दूर करके उसे कुछ शान्ती ही प्रदान करती है, परन्तु वह मोहनिद्रा उसे विषयतृष्णावश उत्तरोत्तर किये जानेवाले परिश्रमसे पीडित ही करती है ॥५७॥ हे जन्म लेनेवाले प्राणी! इस जन्म–मरणरूप ससारमे तेरा शरीरके साथ तादात्म्य है अर्थात् तू उत्तरोत्तर धारण किये जानेवाले शरीरोके भीतर स्थित होकर सदा उनके अधीन रहता है, तू निरन्तर पाप कर्मके फलस्वरूप दु.खका अनुभव करता है, प्रत्येक समयमे जो तेरा ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंसे स्वय बन्धन ( सम्बन्ध ) होता है वही तेरा

निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं
जन्मिन् जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत् ॥ ५८ ॥

---

गाढ निव (चि) टम् अत्यर्थं च । स्वयम् आत्मना बन्धन सबन्धः । निद्रा विश्रमण व्यापारप्रभवदोषस्य निद्रा विश्रामहेतु । मृतेः प्रतिभय मृतेः मरणात् प्रतिभय आशङ्का । शश्वत् सर्वदा । मृतिश्च ध्रुव मृति. पुन अवश्यभावेन । तत्रैव जन्मनि ॥ ५८ ॥ येन च शरीरेण सह तादात्म्य तव सपन्न तत्कीदृशमित्याहअस्थीत्यादि ।

---

व्यापार है, निद्रा जो है वही तेरा विश्राम है, तथा मरणसे तुझे सदा भय रहता है, परन्तु वह निश्चयसे आता अवश्य है। फिर आश्चर्य यही है कि ऐसी दु:खमय अवस्थाके होनेपर भी तू उसी ससारके भीतर रमण करता है ॥ विशेषार्थ– यह ससारी प्राणी बाह्य पर पदार्थोमे राग–द्वेष करता हुआ मरणको प्राप्त होकर निरन्तर नवीन नवीन शरीरको धारण करता रहता है। इस प्रकारसे वह निरन्तर जन्म–मरणके दु खको सहता है। इसके अतिरिक्त पूर्वोपार्जित कर्मके अनुसार और भी अनेक कष्टोका वह अनुभव किया करता है। उसका कार्य निरन्तर अपने राग–द्वेषादि परिणामोके अनुसार कर्मप्रकृतियोके बांधनेका रहता है। जब उसे कुछ निद्रा आती है तभी विश्राम मिलता है। वह मृत्युसे यद्यपि सदा भयभीत रहता है, परन्तु उससे उसे छुटकारा नही मिलता। इस विषयमे स्वामी समन्तभद्राचार्यने यह बिलकुल ठीक कहा है– बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्य शिवं वाञ्छति नास्य लाभः। तथापि बालो भय–कामवश्यो वृथा स्वय तप्यत इत्यवादीः ॥ अर्थात् हे सुपार्श्व जिन! यह प्राणी मृत्युसे निरन्तर डरता है, पर उससे उसे छुटकारा नही मिलता। वह सदा कल्याणकी इच्छा करता है, परन्तु उसका उसे लाभ नही होता। फिर भी वह अज्ञानी प्राणी मृत्युके भय और काम (सुखकी इच्छा) के वशीभूत होकर स्वय ही व्यर्थमे सतप्त हो रहा है ॥ बृ. स्व. ३४. इस प्रकारसे वह प्राणी शरीरको धारण करके उसके सम्बन्धसे ससारमे उपर्युक्त दु खोको सहता है, तो भी वह उसी ससारमें रमण करता है, यह महान् आश्चर्यकी बात है ॥ ५८ ॥ हे नष्टबुद्धि प्राणी! हड्डियोरूप स्थूल लकडीयोंके समूहसे रचित, सिराओ और नसोसे सम्बद्ध, चमडासे ढका हुआ, रुधिर एव सघन माससे लिप्त, दुष्ट कर्मोरूप

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुद्घनिगलालग्नं शरीरालयं
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ॥ ५९ ॥

---

अस्थीनि एव स्थूलतुला तासां कलाप संघात तेन घटितम् । नद्धं बद्धम् । सिरास्नायुभि. सिरा. प्रसिद्धा, स्नायु नहारु । चर्माच्छादितं चर्मणा आच्छादितं झपितम् । अस्रसान्द्रपिशितै. अस्रेण रक्तेन सान्द्राणि तानि च तानि पिशितानि च मासानि तै. लिप्तम् । सुगुप्तं सुष्ठु रक्षितम् । आयुरुद्घनिगलालग्नं आयुरेव उद्घो महान् निगलः आलग्नो यत्र । इत्थंभूतं शरीरालय शरीरगृहम् । कारागारं ते बन्दिगृहं तव ॥५९॥

---

शत्रुओंसे रक्षित, तथा आयुरूप भारी साकलसे सलग्न, ऐसे इस शरीररूप गृहको तू अपना कारागार ( बन्दीगृह ) समझकर उसके विषयमे व्यर्थ अनुराग मत कर ॥ विशेषार्थ– यहा शरीरमें गृहका आरोप करते हुए उसे बन्दीगृहके समान बतला कर उसमे अनुराग न रखनेकी प्रेरणा की गई है । बन्दीगृहसे समानता बतलानेका कारण यह है कि जिस प्रकार बन्दीगृह लकडीके खम्मो आदिसे निर्मित होता है उसी प्रकार यह शरीर भी हड्डियोसे निर्मित है, बन्दीगृह यदि रस्सियोसे बधा होता है तो यह शरीर भी नसोसे सम्बद्ध है, बन्दीगृह जहा छत अथवा कबेलू आदिसे आच्छादित होता है वहा यह शरीर चमडेसे आच्छादित है, बन्दीगृह जिस प्रकार गोबर एवं मिट्टी आदिसे लिप्त (लीपा गया) होता है उसी प्रकार यह शरीर रुधिर और माससे लिप्त है, बन्दीगृहकी रक्षा यदि दुष्ट पहरेदार करते है तो शरीरकी रक्षा दुष्ट कर्मरूप शत्रु करते है, तथा बन्दीगृह जहा बडी बडी साकलोंसे संयुक्त होता है वहां यह शरीर आयुरूप साकलसे सयुक्त है, इसीलिये जैसे साकलोके लगे रहनेसे उसमेसे बन्दी ( कैदी ) बाहिर नही निकल सकते है उसी प्रकार विवक्षित (मनुष्यादि) आयु कर्मका उदय रहनेतक प्राणी भी उस शरीरसे नही निकल सकता है । इस प्रकार जब बन्दीगृह और शरीरमे कुछ भेद नही है तब यहा यह उपदेश दिया गया है कि जिस प्रकार कोई भी विचारशील मनुष्य दुःखदायक बन्दीगृहमे नही रहना चाहता है उसी प्रकार हे भव्यजीव ! यदि तू भी उस बन्दीगृहके समान कष्टदायक इस शरीरमे नही रहना चाहता है तो उससे अनुराग न कर ॥ ५९ ॥ हे भव्यजीवो !

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥ ६० ॥
तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणं.
संबन्धेन किमङ्ग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः ।

---

शरीराद्व्यतिरिक्तमन्यदपि वस्तु कीदृशं तदित्याह– शरणमित्यादि । शरणं गृहं राजादिर्वा । अशरणम् अरक्षणम् । प्रतिकूलकर्मणोदय (?) प्राप्तेरा (र) क्षण स्वकार्यकरणात्[1] । द्वारं प्रवेशस्थानम् । विपरिमृशत पर्यालोचयत । सर्वमेतद् गृहबन्धुपुत्रकलत्रादिकं त्यजत, धर्मं भजत अनुतिष्ठत । निर्मलं निरतिचारम् ॥६०॥ यद्यपि गृहादयोऽस्माकं नोपकारकास्तथाप्यर्थोऽप्युपकारको भविष्यतीत्याशङ्क्य आह– तत्कृत्यमित्यादि । तत्प्रसिद्धं सुखादुपकारलक्षणं कृत्यं कार्यं किम् । न किमपि । कैः । धनैः किंविशिष्टैः । आशाग्निसंधुक्षणं आशैव अग्निः तस्य संधुक्षणैः उद्दीपकैः । तथा सत्य (?) संबन्धेन पितृपुत्रभार्यादिना । अङ्ग अहो । किं कृत्यम् । कैः सह

---

जिसे तुम शरण (गृह) है वह तुम्हारा शरण (रक्षक) नही है, जो बन्धुजन हैं वे राग-द्वेषके निमित्त होनेसे बन्धके कारण है, दीर्घ कालसे परिचयमें आई हुई स्त्री आपत्तियोरूप गृहोके द्वारके समान है, तथा जो पुत्र हैं वे अतिशय राग द्वेपके कारण होनेसे शत्रुके समान हैं; ऐसा विचार कर यदि आप लोगोको सुखकी अभिलापा है तो इन सबको छोडकर निर्मल धर्मकी आराधना करे ॥ ६० ॥ हे शरीरधारी प्राणी ! इन्धनके समान तृष्णारूप अग्निको प्रज्वलीत करनेवाले धनसे यहा तुझे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नही । पापके कारणभूत सम्बधियो ( नातेदारो ) एवं अन्य वधुओं (भ्राता आदि) के साथ सबध रखनेसे तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नही । मोहरूप सर्पके दीर्घ बिल (बावी) के समान शरीर अथवा गृहसे भी तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नही । ऐसा विचार कर हे भव्य जीव ! तू सुखके निमित्त उस तृष्णाकी शातिको प्राप्त हो, इसमें व्यर्थ प्रमाद न कर ॥ विशेषार्थ– सुख वास्तवमे वही हो सकता है जिसमे

---

१ स कारणात् ।

किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा
देहिन् याहि सुखाय ते समममुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

---

सबन्धेन। सबन्धिभि वैवाहिकादिभि बन्धुभि । कथभूतै । शश्वदशुभैः दुर्गतिहेतुतया सदाऽप्रशस्तै । मोहाहित्यादि । मोह एव अहि सर्प तस्य महाबिलेन देहेन । कथभूतेन। सदृशा गेहेन गृहसमानेन । एतत् सर्वम् इत्थभूत ज्ञात्वा । हे देहिन् शम याहि । अमुम् अर्थाभिलाषोपशमलक्षणम् । किमर्थम् । सुखाय सुखनिमित्तम् ते शब्द. प्रत्येकमभिसबध्यते । तकृत्य ते किमत्यादि । मा गा. प्रमादम् अतात्पर्यं मा कार्षी ॥ ६१ ॥ अस्यैवोपशमस्य दार्ढ्यविधानार्थमादावेवेत्याह– आदावेव प्रथमत एव ।

---

आकुलता न हो। वह सुख धनके द्वारा नही प्राप्त हो सकता है। कारण यह कि जितना जितना धन बढता है उतनी ही अधिक उत्तरोत्तर तृष्णा भी बढती जाती है, जैसे कि घीके डालनेसे उत्तरोत्तर अग्नि अधिक बढती है। इस प्रकार जहा तृष्णा है – आकुलता है वहां भला सुख कहासे मिल सकता है? इसके अतिरिक्त जितना कष्ट धनके उपार्जनमे होता है उससे भी अधिक कष्ट उसकी रक्षामें होता है। यदि रक्षण करते हुए भी वह दुर्भाग्यसे कदाचित् नष्ट हो गया तो फिर प्राणीके दुःखका पारावार भी नही रहता है। इसीलिये तो उसे भी प्राण कहा जाता है। इतना ही नही, बहुत–से धनान्ध मनुष्य तो उस धनरूप प्राणकी रक्षा करनेमे वास्तविक प्राण भी दे देते हैं! इससे निश्चित होता है कि धन वास्तवमे सुखका कारण नही है। इसी प्रकारसे माता, पिता, पुत्र एव अन्य सम्बन्धी जनोंका सयोग भी उस सुखका कारण नही हो सकता है। इसका कारण यह है कि उनका संयोग होनेपर यदि उनकी प्रवृत्ति अनुकूल हुई तब तो उनमे अनुरागबुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे कि उनके भरण–पोषण एव रक्षण आदिकी चिंता उदित होती है। और यदि उनकी प्रवृत्ति प्रतिकूल हुई तो इससे उद्वेग उत्पन्न होता है। ये दोनो (राग–द्वेष) ही कर्मबन्धके कारण हैं। उक्त बन्धुवर्गमे भी मुख्यता स्त्रीको होती है। कारण कि उसके ही निमित्तसे कुटुम्बकी वृद्धि और तदर्थ धनार्जनकी चिन्ता होती है इसीलिये तो यह कहनेकी आवश्यकता हुई कि "स्त्रीत. चित्त निवृत्त चेन्ननु वित्त किमीहसे। मृतमण्डनकल्पो

**आदावेव महाबलैरविचलं पट्टेन बद्धा स्वयं**
**रक्षाध्यक्षभुजासिपञ्जरवृता सामन्तसंरक्षिता ।**

---

महाबलै. सातिशयसामर्थ्योपेतै मन्त्रिभि. महामण्डलीकादिभि. । अविचल यथा भवत्येवम् । स्वय पट्टेन बद्धा । पश्चात् । रक्षेत्यादि । रक्षाध्यक्षा अङ्गरक्षा. तेषा भुजेषु असिपञ्जर. खड्गसघात. तेन वृता । ततो बहिः सामन्तसरक्षिता । इत्यभूतापि

---

हि स्त्रीनिरीहे धनग्रह. ।। " अर्थात् हे मन ! यदि तू स्त्रीकी ओरसे हट गया है--तुझे स्त्रीकी चिंता नही रही है, तो फिर तू धनकी इच्छा क्यो करता है ? अर्थात् फिर धनकी इच्छा नही रहना चाहिये, क्योंकि, स्त्रीकी इच्छा न रहनेपर फिर धनका उपार्जन करना इस प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकारसे कि मृत शरीरका आभूषण आदिसे श्रृगार करना । सा. ध ६-३६ इसी प्रकार जिस शरीरको अपना समझकर अभीष्ट आहार आदिके द्वारा पुष्ट किया जाता है वह भी सुखका कारण न होकर दु.खका ही कारण होता है । कारण यह कि वह अनेक रोगोका स्थान है और उसके रोगाक्रान्त होनेपर जो वेदना उत्पन्न होती है उसके निवारणके लिये प्राणी विकल होकर प्रयत्न करता है । फिर भी कभी न कभी वह छूटता ही है । इसके अतिरिक्त उपर्युक्त स्त्री एव पुत्र आदि कौटुम्बिक सम्बन्ध भी इस शरीरके ही आश्रित है-- उनका सम्बन्ध कुछ अमूर्तिक आत्माके साथ नही है । इस प्रकार उपर्युक्त सब ही दुःखोंका मूल कारण वह शरीर ही ठहरता है । अब जब निरतर साथमें रहनेवाला वह शरीर भी दु'खका कारण नही है तब भला गृह आदि अन्य पदार्थ तो सुखके कारण हो ही कैसे सकते हैं ? इस प्रकार विचार करनेपर सुखका कारण उस तृष्णाका अभाव (सतोष) ही सिद्ध होता है । वह यदि प्राप्त है तो धनके अधिक न होनेपर भी प्राणी निराकुल रहकर सुखका अनुभव करता है, किन्तु उसके विना अटूट सम्पत्तिके होनेपर भी प्राणी निरतर विकल रहता है ।। ६१ ।। जो राजाओंकी लक्ष्मी सर्वप्रथम महाबलवान् मत्री और सेनापति आदिके द्वारा स्वयं पट्टवन्धके रूपमें निश्चलतासे बाधी जाती है, जो रक्षाधिकारी ( पहारेदार ) पुरुषोके हाथोमें स्थित खड्गसमूहसे वेष्टित की जाती है, तथा जो सैनिक पुरुषोंके द्वारा रक्षित रहती है, वह दीपककी लौके समान अस्थिर राजलक्ष्मी भी ढुराये

**लक्ष्मीर्दीपशिखोपमा क्षितिमतां हा पश्यतां नश्यति**
**प्रायः पातितचामरानिलहतेवान्यत्र काशा नृणाम् ॥ ६२ ॥**
**दीप्तोभयाग्रवातारिवारूदरगकीटवत् ।**
**जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥ ६३ ॥**

---

लक्ष्मी । क्षितिमता राज्ञाम् । हा कष्टम् पश्यता नश्यति । किंविशिष्टा । दीपशिखोपमा प्रदीपशिखातुल्या चञ्चलेत्यर्थः । कथमूतेवेत्याह प्राय इत्यादि । प्रायोऽनवरतं सपातितानि चामराणि च तेषाम् अनिलेन हतेव । अन्यत्र प्राणिमात्रलक्ष्मी: लक्ष्म्या पुत्रकलत्रादौ वा । काऽऽशा क. समाश्वास ॥ ६२ ॥ यत्र शरीरे लक्ष्म्या पट्टवन्धस्तव कृत तत्कीदृश किं च तत्र त्व रतिं करोपीत्याह- दीप्तेत्यादि । दीप्ते प्रज्वलिते उभयाग्रे यस्य तच्च तत् वातारिदारुच एरण्डकाष्ठ उदरगो मध्यगत स चासौ कीटश्च स इव तद्वत् । समाश्लिष्टे व्याप्ते । बत कष्टम् । सीदसि दु खमनुभवसि ॥ ६३ ॥ एवंविधशरीराश्रितानमिन्द्रियाणा वशो भूत्वा

---

जानेवाले चामरोंके पवनसे ताडित हुईके समान जब देखते ही देखते नष्ट हो जाती है, तब भला अन्य साधारण मनुष्योकी लक्ष्मीकी स्थिरताके विषयमे क्या आशा की जा सकती है? अर्थात् नही की जा सकती है ॥ **विशेषार्थ**- अभिप्राय यह है कि जिस राजलक्ष्मीकी रक्षा करनेमे अतिशय बलवान् सुभट एवं अन्य बुद्धिमान् मन्त्री आदि भी सदा उद्यत रहते है, वह भी जब पवनसे प्रेरित दीपककी शिखाके समान क्षणभरमे नष्ट हो जाती है तब साधारण मनुष्योकी अल्प सपत्ति, जिसका कि कोई रक्षण करनेवाला नही है, कैसे स्थिर रह सकती है ? अर्थात् नही रह सकती है । अतएव अविनश्वर सुखकी प्राप्तिके लिये विनश्वर धन-सपत्तिकी अभिलाषाको छोडकर सन्तोषका ही आश्रय लेना हितकर है ॥ ६२ ॥ हे भव्यजीव ! जिसके दोनो अग्रभाग अग्निसे जल रहे है ऐसी एरण्ड (अण्डा) की लकडीके भीतर स्थित कीडेके समान और मृत्युसे व्याप्त शरीरमे स्थित होकर तू दु ख पा रहा है; यह खेदकी बात है ॥ **विशेषार्थ**- जिस प्रकार दोनों ओरसे जलती हुई पोली लकडीके भीतर स्थित कीडेका मरण अवश्य होनेवाला है उसी प्रकार जन्म और मरणसे सयुक्त इस शरीरमे स्थित रहनेपर प्राणीका भी अहित अवश्य होनेवाला है । इसीलिये कल्याणके अभिलाषी भव्यजीव शरीरसे निर्ममत्व होकर रत्नत्रयकी प्राप्तिपूर्वक उसे छोडनेका ही प्रयत्न करते हैं ॥ ६३ ॥

**नेत्रादीश्वरचोदितः सकलुषो रूपादिविश्वाय किं**
**प्रेष्यः सीदसि कुत्सितव्यतिकरैरंहांस्यलं बृंहयन् ।**
**नीत्वा तानि भुजिष्यतामकलुषो विश्वं विसृज्यात्मवा-**
**नात्मानं धिनु सत्सुखी धुतरजाः सद्वृत्तिभिर्निर्वृतः ।। ६४ ।।**

---

किमित्यनेकधा क्लेशमनुभवसि इति शिक्षां प्रयच्छन्नाह– नेत्रादीत्यादि । नेत्रादीन्येव ईश्वरः प्रभुः तेषां वा ईश्वरः मनः तेन चोदितः स्वविषये प्रेरितः । सकलुषः आर्तरौद्रयुक्तः । प्रेष्यः नेत्रादिनामाधीनः कर्मकरः । किं सीदसि । किमर्थम् । रूपादिप्रपञ्चनिमित्तम् । रूपादिविश्वायेति पाठे रूपाद्यनुभवायेत्यर्थः । किं कुर्वन् सीदसि । अलं बृंहयन् अत्यर्थं वृद्धिं नयन् । कानि । अंहांसि पापानि । कैः । कुत्सितव्यतिकरैः । निकृष्टव्यापारैः । तानि नेत्रादीनि भुजिष्यतां प्रेष्यतां दासत्वं नीत्वा । अकलुषो रागादिरहितः । विश्वं परिग्रहप्रपञ्चम् । विसृज्य परित्यज्य । आत्मवान् जितेन्द्रियः । आत्मानं धिनु प्रीणय । सत्सुखी सुखियसि सन् (?) । धुतरजाः निराकृतकर्ममलः । निर्वृतः सुखीभूतः अथवा निर्वृतो मुक्तः । सत्सुखी सन् (तु) शोभनं सुखमस्यास्तीति ।।६४।। ननु यतीनां निर्धनत्वात् कथं सुखप्राप्तिरिति

---

भव्यप्राणी ! तू नेत्रादि इन्द्रियोंरूप स्वामीसे अथवा नेत्रादि इन्द्रियोंके स्वामीरूप मनसे प्रेरित दासके समान होकर सक्लेशयुक्त होता हुआ रूपादिरूप समस्त विषयोंको प्राप्त करनेके लिये हीनाचरणोंके द्वारा क्यों अतिशय पापोंको बढाता है और खेदखिन्न होता है ? तू उन इन्द्रियोंको ही अपना दास बनाकर सक्लेशसे रहित होता हुआ उन रूपादि समस्त विषयोंको छोड दे और जितेन्द्रिय होकर अपनी आत्माको प्रसन्न कर । इससे तू सदाचरणोंके द्वारा पापसे रहित होकर मुक्तिको प्राप्त करता हुआ समीचीन सुखका अनुभव कर सकता है । **विशेषार्थ**– यह प्राणी जबतक इन्द्रियोंका दास बनकर उनको सन्तुष्ट करनेके लिये अनेक प्रकारसे अयोग्य आचरण करता है तबतक उसके अशुभ कर्मोंका बन्ध होता रहता है जिससे कि उसे कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती । परन्तु जब वह जितेन्द्रिय होकर उन इन्द्रियोंको स्वयं दास बना लेता है तब उसकी वह दुराचारमय प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है बढती हुई विषयकांक्षा नष्ट हो जाती है । इससे वह शुभ ध्यान ( धर्म व शुक्ल ) में प्रवृत्त होकर रत्नत्रयको पूर्ण करता हुआ मोक्षको प्राप्त कर लेता है और वहां निरन्तर अव्याबाध सुखका अनुभव करता है ।।६४।।

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः ।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेकः सुखी सुखी[1] ॥ ६५ ॥
परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्त केवलं वरम् ।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः ॥ ६६ ॥

वदन्त प्रति मघननिर्धनाभ्या यते सुखातिशय दर्शयन्नाह- अर्थिन इत्यादि । किं च धनाढ्याथी (दी) ना सुख परायत्त तस्माच्च परायत्तात् सुखात् यत्स्वायत्त कायक्लेशादिदु ख तद्वरम् उत्तम सुखम् । कथभूतम् । केवलम् इन्द्रियसुखास्पृष्टम् । अन्यथा यदि तदुत्तम सुख न स्यात तदा कथम् आसन् सजाता । के ते । तपस्विन । किंविशिष्टा. सुखिनामान सुखीति नाम येषाम् ॥ ६५-६६ ॥ तेषामेव श्लोकद्वयेन

हे धनाभिलाषी निर्धन मनुष्य तो धनको न पाकर दुःखी होते हैं और धनवान् मनुष्य सन्तोपके न रहनेसे दु खी होते है । इस प्रकार खेद है कि सब ही (धनी और निर्धन भी) प्राणी दु खका अनुभव करते है । यदि कोई सुखी है तो केवल एक सन्तोषी (तृष्णासे रहित) मुनि ही सुखी है । धनवानोंका सुख पराधीन है । उस पराधीन सुखकी अपेक्षा तो आत्माधीन दु ख अर्थात् अपनी इच्छानुसार किये गये अनशन आदिके द्वारा होनेवाला दु ख ही अच्छा है । कारण कि यदि ऐसा न होता तो फिर तपश्चरण करनेवाले साधुजन 'सुखी' इस नामसे युक्त कैसे हो सकते थे? अर्थात् नही हो सकते थे ॥ विशेषार्थ- यदि विचार कर देखा जाय तो ससारमे कोई भी प्राणी सुखी नही है- प्राय सब ही दु खी है । उनमे निर्धन जन तो इसलिये दु खी है कि विना धनके वे अपनी आवश्यकताओको पूर्ण नही कर पाते है । इसलिये वे उनकी पूर्तिके योग्य धनको प्राप्त करनेके लिये निरन्तर चिन्तातुर रहते है, परन्तु वह उन्हे प्राप्त होता नही है । इसके अतिरिक्त वे जब अपने सामने धनवानोके टाट-वाट (रहन-सहन) को देखते हैं तो इससे उन्हे इर्ष्या होती है, इस कारण भी वे सदा सतप्त रहते हैं । इससे यदि कोई यह सोचे कि धनवान् मनुष्य सुखी रहते होगे, सो भी बात नही है- वे भी दुःखी ही रहते हैं । उनके दुःखका करण असन्तोष-उत्तरोत्तर बढनेवाली तृष्णा

[1] मु (नि) परमेको मुनि. सुखी ।

**यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं**
**सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकश्रमफलम् ।**

---

गुणप्रशंसा कुर्वन्नाह यदेतदित्यादि । एतत् प्रतीयमानम् । यत् स्वच्छन्दम् आत्मायत्तम् । विहरण प्रवृत्तिः । अकार्पण्य दीनत्वरहितम् । अशनम् आहार । आर्यैं ससारभीरुभि गुणवद्भिर्वा । सह सवास. सहावस्थानम् । श्रुत शास्त्रपरिज्ञानम् । उपशमैकश्रमफल

---

है । उन्हे इच्छानुसार कितनी भी अधिक धन-सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जावे फिर भी उन्हे उतनेसे सन्तोष नही प्राप्त होता- उससे भी अधिककी चाह उन्हे निरन्तर बनी रहती है । इससे ज्ञात होता है कि जिस प्रकार धन सुखका कारण नही है उसी प्रकार निर्धनता दुःखका भी कारण नही है । सुखका कारण वास्तवमे सतोष और दु.खका कारण असन्तोष (तृष्णा) है । यही कारण है जो साधु जन सब प्रकारके धनसे रहित होकर भी एक मात्र उसी सन्तोष-धनसे अतिशय सुखी, तथा चिन्ताकुल धनवान् मनुष्य भी अतिशय सुखी देखे जाते हैं । इसके अतिरिक्त वह जो विषयजनित सुख है वह पराधीन है- वह उसके योग्य पुण्य एव धन आदिकी अपेक्षा रखता है । जब ऐसे पुण्य आदिका संयोग होगा तब ही वह सुख प्राणीको प्राप्त हो सकता है । इसके अतिरिक्त पराधीन होनेसे वह चिरस्थायी भी नही है- थोडे ही समयतक रहनेवाला है । अतएव जहां पराधीनता नही है उसे ही वास्तविक सुख समझना चाहिये । उस पराधीन सुखकी अपेक्षा तो स्वतन्त्रतासे आचरित अनशनादि तपोसे उत्पन्न होनेवाला दु ख भी कही अच्छा है, क्योकि, उससे भविष्यमे स्वाधीन सुख प्राप्त होनेवाला है । परन्तु वह पराधीन क्षणिक सुख उत्तरोत्तर दुःखका कारण होनेसे वास्तवमे दु.ख ही है ॥ ६५-६६ ॥ साधु जनोंका जो यह स्वतन्त्रतापूर्वक विहार (गमनागमन प्रवृत्ति), दीनता (याचना) से रहित भोजन, गुणी जनोकी सगति, शास्त्रस्वाध्यायजनित परिश्रमके फलस्वरूप रागादिकी उपशान्ति, तथा बाह्य पर पदार्थोंमे मन्द प्रवृत्तिवाला मन है; वह सब कौन-से महान् तपका परिणाम है, इसे मैं बहुत कालसे अतिशय विचार करनेपर भी नही जानता हूं ॥ **विशेषार्थ-** यहा गृहस्थोकी अपेक्षा साधु

मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरायाति विमृशन्
न जाने कस्येयं परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ६७ ॥

---

उपशमो रागाद्यनुदय. स एव धनलाभपूजादि एकम् असहाय श्रमस्य प्रयासस्य फल यत्र। मनो बहिः बाह्यार्थे । मन्दस्पन्द मन्दप्रवृत्तिकम्। चिराय चिरकालम्। अतिविमृशन्नपि अतिपरिमावयन्नपि । न जाने । परिणति. विपाक.। उदारस्य महत. ॥ ६७ ॥ तथा– विरतिरित्यादि । विरतिर्विपयव्यावृत्ति । अतुला अनुपमा ।

---

जनोंको किस प्रकारका सुख प्राप्त होता है, इसका विचार करते हुए सबसे पहले यह बतलाया है कि उनका गमनागमन व्यवहार स्वतन्त्रतासे होता है– वे अज्ञानी प्राणियोंको सम्बोधित करनेके लिये जहा भी जाना चाहते हैं निर्भयतापूर्वक जाते है। परन्तु गृहस्थोका जाना–आना व्यापारादिकी परतन्त्रताके कारणसे ही होता है। इसलिये उन्हे उससे सुख नही प्राप्त होता। इसके अतिरिक्त उनके पास कुछ न कुछ परिग्रह भी रहता है, इसलिये वे उन निर्ग्रन्थ साधुओके समान यत्र तत्र स्वतन्त्रतासे जा–आ भी नही सकते हैं– उन्हे चोर एवं हिंस्र जन्तुओ आदिका भय भी पीडित करता है। इसके अलावा मुनियोंका भोजन जिस प्रकार याचनासे रहित होता है उस प्रकारका भोजन गृहस्थोका नही होता। कारण यह कि उन उन गृहस्थोमे जो दरिद्र है वे तो प्रत्यक्षमे याचना करके ही उदरपूर्ति करते हैं। किन्तु जो धनवान् है वे भी जिव्हालम्पटताके कारण घरमे तैयार किये गये अनेक प्रकारके पदार्थोंमे इच्छानुसार स्वादिष्ट पदार्थोकी याचना किया ही करते है। फिर भी उन्हे जिव्हा इन्द्रियपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले उन मुनियोके समान सुख नही प्राप्त होता जो कि केवल शरीरको स्थिर रखनेके लिये विधिपूर्वक अयाचक वृत्तिसे ही आहार ग्रहण करते है, न कि स्वादपरतासे। तथा जिस प्रकार मुनियोंका सहवास गुणवान् अन्य मुनिजनोके साथ और योग्य सद्गृहस्थोके साथ ही होता है उस प्रकार गृहस्थोका नही होता–वे स्वार्थवश योग्यायोग्यका विचार न करके जिस किसीके भी साथ सहवास करते हैं। मुनि जहा अपने समयको राग–द्वेषादिको दूर करनेवाले

विरतिरतुला शास्त्रे चिन्ता तथा करुणा परा
मतिरपि सदैकान्तध्वान्तप्रपञ्चविभेदिनी ।
अनशनतपश्चर्या चान्ते यथोक्तविधानतो
भवति महतां नाल्पस्येदं फलं तपसो विधेः ॥ ६८ ॥
उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोऽन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः ॥ ६९ ॥

---

एकान्तेत्यादि । एकान्तमेव ध्वान्त तमस्तस्य प्रपञ्चो विस्तारस्तस्य विभेदिनो विध्वसिका । अनशनस्तपश्चर्या[1] सन्यासानुष्टानम् यथोक्तविधानत आगमोक्त-विधिविधानेन । अनतिक्रमेण ॥ ६८ ॥ ननु तपोविधाने कायपीडा सा च अयुक्ता 'शरीर धर्मसयुक्त रक्षणीय प्रयत्नतः' इत्यभिधानादित्याशङ्क्याह-उपायेत्यादि । दूरक्षे रक्षितुमशक्ये । स्वत स्वयमेव । तत विवक्षितात् कार्यकरणात् । इतः

---

शास्त्रस्वाध्यायादि कार्योमे बिताते हैं वहां गृहस्थका सब समय प्रायः विषयोंके संग्रहमे ही बीतता है, जिससे कि वह सदा राग-द्वेषसे कलुषित और व्याकुल रहता है। मुनियोका मन जहा कदाचित् ही बाह्य पदार्थोकी ओर जाता है वहा गृहस्थोका मन प्राय निरन्तर बाह्य पदार्थोमे ही प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार वह साधुओकी प्रवृत्ति अवश्य ही किसी महान् तपके फलस्वरूप है जो कि सर्वसाधारणको दुर्लभ ही है। इससे निश्चित है कि जो सुख स्वतन्त्रतामे है वह पराधीनतामे कभी नही प्राप्त हो सकता है ॥ ६७ ॥ इसके अतिरिक्त विषयोंका अनुपम त्याग, श्रुतका अभ्यास, उत्कृष्ट दया, निरन्तर एकान्तरूप अन्धकारके विस्तारको नष्ट करनेवाली बुद्धि, तथा अन्तमे आगमोक्त विधिसे अनशन तपका आचरण अर्थात् आहारके परित्यागपूर्वक समाधिमरण, यह सब महात्माओंकी प्रवृत्ति किसी थोडे-से तपके अनुष्ठानका फल नही है, किन्तु महान् तपका ही वह फल है ॥ ६८ ॥ करोडों उपायोको करके भी जिस शरीरका रक्षण न स्वयं किया जा सकता है और अन्य किसीके द्वारा कराया जा सकता है, किन्तु जो सब प्रकारसे नष्ट ही होनेवाला है, उस

---

१ (अनशनतपश्चर्या)

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधायातमवैहि ते ॥ ७० ॥
गन्तुमुच्छ्वासनिःश्वासैरभ्यस्यत्येष संततम् ।
लोकः पृथग (गि) तो वाञ्छत्यात्मानमजरामरम् ॥ ७१ ॥

---

परिदृश्यमानाद्धेतो । अन्यतः यत. कुतश्चित् । एव सर्वतः पतनप्राये उक्तप्रकारेण सर्वस्माद्धेतो. पतन प्रायेण यस्य । आग्रह. आबन्ध ॥ ६९ ॥ तस्मात् आह- अवश्यमित्यादि । शाश्वत पद मोक्षस्थानम् ॥ ७० ॥ तत्र आयुषो नश्वरत्व दर्शयन् 'गन्तुमित्यादि' श्लोकद्वयमाह- सतत एष जीवोऽभ्यस्यति । किं कर्तुम् । गन्तु शरीर त्यक्तुम् । कैरभ्यस्यति । उच्छ्वासनिश्वासै । लोक पृथक् पृथक् लोकः अविवेकिजन । इत एभ्य· उच्छ्वासनिश्वासेभ्य· । आयुष अपकर्षोपायेभ्य. । आत्मानम् अजरामर मृत्योरगोचर वाञ्छति । अथवा पूरककुम्भकरेचकरूपेभ्य उच्छ्वासनिश्वासेभ्य आत्मानम् अजरामर वृद्धत्वमृत्युरहित वाञ्छति । पूरको हि उच्छवासो रेचको नि.श्वास इति ॥ ७१ ॥ गलतीत्यादि । गलति गच्छति- आयु ।

---

शरीरकी रक्षाके विषयमे तेरा कौन-सा आग्रह है ? अर्थात् जब किसी भी प्रकारसे उक्त शरीरकी रक्षा नहीं कि जा सकती है तब हठपूर्वक सब प्रकारसे उसकी रक्षाका प्रयत्न करना निरर्थक है ॥ ६९ ॥ इसलिये यदि अवश्य नष्ट होनेवाले इन आयु और शरीर आदिकोके द्वारा तुझे अविनश्वर पद ( मोक्ष ) प्राप्त होता है तो तू उसे अनायास ही आया समझ ॥ ७० ॥ यह जीव निरतर उच्छ्वास और नि.श्वासोके द्वारा जानेका अभ्यास करता है। परंतु अज्ञानी जन उन उच्छ्वास और नि श्वासोके द्वारा आत्माको अजर-अमर अर्थात् जरा और मरणसे रहित मानता है ॥ **विशेषार्थ**- अभिप्राय यह है कि जिस क्रमसे प्राणीके उच्छ्वास और निःश्वास निकलते हैं उसी क्रमसे उसकी पूर्वबद्ध आयु (जीवित) कम होती जाती है। फिर भी बहुतसे प्राणी अज्ञानतावश यह समझते हैं कि उन उच्छ्वास-नि श्वासोको जितना अधिक रोका जा सकेगा उतनीही अधिक आयु बढेगी तथा इस प्रकारसे प्राणी वृद्धत्वसे भी रहित होगा। यह उनका मानना अज्ञानतासे परिपूर्ण है, यही यहां सूचित किया गया है ॥ ७१ ॥ यह आयु प्रायः अरहटकी घटिकाओमें

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं
खलः कायोऽप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ।

---

प्रायः अत्यर्थम् । प्रकटितम् अनुकृत घटीयन्त्रसलिल येन । एष काय. खलः अपकारक । आयुर्गतिम् अस्थास्नुताम् । अनुपतति अनुकरोति । सततम् अनवरतम् । अस्य जीवस्य । अन्यै पुत्रकलत्रादिभि । अन्यैः भिन्नै । किम् । न किमपि कार्यम् । कुतो यतो जीवित द्वयमयं आयुर्देहाभ्यां निर्वृत्तम् । तच्च द्वय अस्थास्नु ।

---

स्थित जलके समान प्रतिसमय क्षीण हो रही है तथा यह दुष्ट शरीर भी निरतर उस आयुकी गति (नश्वरता) का अनुकरण कर रहा है । फिर भला इस प्राणीका अपनेसे भिन्न अन्य स्त्री एव पुत्र-मित्रादिसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? अर्थात् कुछ भी नही है । कारण यह कि यहा इन दोनो (आयु और शरीर) स्वरूप ही तो यह जीवित है । फिर भी अविवेकी प्राणी नावमें स्थित मनुष्यके समान भ्रमसे अपनेको स्थिरशील मानता है ॥ **विशेषार्थ**- जिस प्रकार अरहटकी घटिकाओंका जल प्रतिसमय नष्ट होता रहता है उसी प्रकार प्राणीकी आयु भी निरतर क्षीण होती रहती है । तथा जिस क्रमसे आयु क्षीण होती है उसी क्रमसे उसका शरीर भी कृश होता जाता है । जिस आयु और शरीर स्वरूप यह जीवन है उन दोनो ही की जब यह दशा है तब पुत्र और स्त्री आदी जो प्रगटमे भिन्न हैं, वे भला कैसे स्थिर हो सकते हैं तथा उनसे प्राणीका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? कुछ भी नही । फिर भी जिस प्रकार नावके ऊपर बैठा हुआ मनुष्य अपने आधारभूत उस नावके चलते रहनेपर भी भ्रांतिवश अपनेको स्थिर मानता है उसी प्रकार आयु के साथ प्रति क्षण क्षीर्ण होनेवाले शरीरके आश्रित होकर भी यह प्राणी अज्ञानतासे अपनेको स्थिर मानता है । यदि वह यह समझनेका प्रयत्न करे कि जिस प्रकार यह शरीर क्षीण होता जा रहा है उसी प्रकार आयु भी घटती जा रही है और मृत्यु निकट आ रही है, तो फिर

किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह
स्थितो भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः ॥ ७२ ॥
उच्छ्वासः खेदजन्यत्वाद् दुःखमेषोऽत्र जीवितम् ।
तद्विरामो[1] भवेन्मृत्युर्नृणां भण कुतः सुखम् ॥ ७३ ॥

---

अतोऽयात्मा अपधी अपगतविवेक. सन् । इह जीविते लोके वा । स्वम् आत्मानम् । स्थास्नु भ्रान्त्या मनुते । नावीव स्थित.॥७२॥ जीवितत्वेन प्रसिद्धस्य चोच्छ्वासस्य दु खरूपत्वात् क्व प्राणिना सुख स्यादित्याह उच्छ्वास इत्यादि । एष उच्छ्वास. । तद्विराम उच्छ्वासविनाश ॥ ७३ ॥ उत्पत्तिविनाशान्तराले वर्तमानाना च प्राणिना

---

वह उसको स्थिर रखनेका प्रयत्न न करके जिस शरीरके सयोगसे यह परिभ्रमण हो रहा है उसेही छोड देनेका प्रयत्न कर सकता है और तब ऐसा करनेसे उसे अविनश्वर सुख भी अवश्य प्राप्त हो सकता है ॥ ७२ ॥ उच्छ्वास कष्टसे उत्पन्न होनेके कारण दु खरूप है और यह उच्छ्वास ही यहां जीवन तथा उसका विनाश ही मरण है । फिर बतलाईये कि मनुष्योको सुख कहासे हो सकता है? नहीं हो सकता है ॥ **विशेषार्थ–** अभिप्राय यह है कि श्वासोच्छ्वासका चालू रहना, यही तो जीवन है । सो वह श्वासोच्छ्वास चूकि कष्टसे उत्पन्न होता है अतएव इससे समस्त जीवनही दु खमय हो जाता है और उस श्वासोच्छ्वासके नष्ट हो जानेपर जब मरण अनिवार्य है तब उसके पश्चात् सुख भोगनेवाला रहेगा कौन ? इस प्रकार ससारमें सर्वथा दु ख ही है ॥ ७३ ॥ जन्मरूप ताडके वृक्षसे नीचे गिरे हुए प्राणीरूप फल मृत्युरूप पृथिवीतलको न प्राप्त होकर अन्तरालमें कितने काल रह सकते है? **विशेषार्थ–** जिस प्रकार ऊचे भी ताडवृक्षसे नीचे गिरे हुए फल क्षण मात्र अन्तरालमे रहकर निश्चित ही पृथ्वीतलका आश्रय ले लेते हैं उसी प्रकार ताड़वृक्षके समान जन्मसे उत्पन्न होनेवाले प्राणी अल्प काल ही बीचमे रहकर निश्चयसे इस पृथ्वीतलके समान मृत्युको प्राप्त करते ही है । तात्पर्य

---

१ स मु (जै. नि.) तद्विरामे ।

जन्मतालद्रुमाज्जन्तुफलानि प्रच्युतान्यधः ।
अप्राप्य मृत्युभूभागमन्तरे स्युः कियच्चिरम् ॥ ७४ ॥
क्षितिजलधिभिः संख्यातीतैर्बहिः पवनैस्त्रिभिः
परिवृतमतः खेनाधस्तात्खलासुरनारकान् ।

---

जीविते कियत्काल समाश्वास. स्यात् इत्याह– जन्मेत्यादि । प्रच्युतानी पतितानि ॥ ७४ ॥ जन्तुरक्षार्थं च विधिनापि प्रयत्ने कृते तद्रक्षा कर्तुं न शक्येति दर्शयन्नाह– क्षितीत्यादि । परिवृत वेष्टित जगत् । कैः । क्षितिजलधिभिः द्वीपसमुद्रैः । कथभूतैः । सख्यातीतैः. असख्यातैः. । ततरे बहि पवनै· घनवाताम्बुवाततनुवातनामभिस्त्रिभि परिवृतम् । अत पवनत्रयात् परत. । खेन आकाशेन परिवृतम् । अधस्तात्

---

यह है कि जिस प्रकार वृक्षसे गिरा हुआ फल पृथ्वीके ऊपर अवश्य गिरता है उसी प्रकार जो प्राणी जन्म लेते हैं वे मरते भी अवश्य है– स्थिर रहनेवाला कोई भी नही है ॥ ७४ ॥ विधी (ब्रह्मा या कर्म) रूप मन्त्रीने इस लोकमे नीचे दुष्ट असुरकुमार देवो और नारकियोको तथा ऊपर वैमानिक देवोंको करके मध्यमे मनुष्योंको स्थापित किया और उनके निवासभूत उस मनुष्यलोककी असंख्यात पृथिवीस्वरूप द्वीपो और समुद्रोसे वेष्टित किया । उनके भी बाहिर तीन (घनवातवलय अम्बुवातवलय और तनुवातवलय) वातवलयोसे तथा उनके भी आगे उसे आकाशसे वेष्टित किया । इतनेपर भी न तो वह विधीरूप मन्त्री ही उन मनुष्योकी रक्षा कर पाता है और न चक्रवर्ती आदि भी । कारण यह कि लोकमे अतिशय दुर्गम एक वह यम (मृत्यु) ही है ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार किसी राजाका सुयोग्य मंत्री राजा और उसके राज्यकी रक्षाके लिये कोट एव गहरी खाईसे वेष्टित नगरका निर्माण कराकर बीचमे दुर्गम दुर्ग (किला) का निर्माण कराता है उसी प्रकार मन्त्रीके समान विधीने मनुष्योकी सुरक्षाके लिये उनके निवासस्थान (मनुष्यलोक) को कोट और खाईके समान एक दो नही किन्तु असंख्यात द्वीप-समुद्रोसे, इसके पश्चात् तीन वायुमण्डलों और तत्पश्चात् भी आकाशसे वेष्टित किया; तथा उनके नीचे व्यन्तरो, भवनवासियो एवं नारकियोको और ऊपर वैमानिक देवोको स्थापित किया । इतना करनेपर भी वह उन

उपरि दिविजान् मध्ये कृत्वा नरान् विधिमन्त्रिणा
पतिरपि नृणां त्राता नैको ह्यलङ्घ्यतमोऽन्तकः ॥ ७५ ॥
अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्तभुवनम् ।

---

अधोभागे । खलासुरनारकान् कृत्वा । उपरि ऊर्ध्वभागे । दिविजान् देवान् । मध्ये मध्यभागे । नरान् कृत्वा । इत्थ नररक्षार्थं जगत् परिवृतम् । केन । विधिमन्त्रिणा । सोऽपि न त्राता । न केवल विधिमन्त्री, नान्योऽपि त्राता । अथवा यद्विधिमन्त्रिणा परिवृत यत्न कृत तन्न त्रातृ । न केवलं तन्न त्रातृ, अपि तु पतिरपि चक्रवर्तीन्द्रादिर्न त्राता । कुत । हि यस्मात् । एक अलङ्घ्यतम अतिशयेन अलङ्घ्यो दुर्निवार ॥ ७५ ॥ प्राप्तावधौ च प्राणिनामन्तके उद्यम कुर्वाणे कस्तन्निवारणे समर्थ इत्याह– अविज्ञात इत्यादि । व्यपगततनु शरीररहित । पापमलिन कृष्णः ।

---

मनुष्योको मरनेसे नही बचा सका–आयुके पूर्ण होनेपर समयानुसार उन सबका मरण होता ही है। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त जो लोककी रचना है वह स्वाभाविक ही है। उसके उपर यहा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि यह लोककी रचना क्या है, मानो ब्रह्माने मनुष्योकी रक्षाके लिये ही यह सब किया है, फिर भी खेद है कि वे मृत्युसे सुरक्षित नही रह सके । तात्पर्य यह कि मनुष्य ही नही, किन्तु जितने भी शरीरधारी प्राणी हैं वे सब समयानुसार मरणको अवश्य प्राप्त होनेवाले है– उन्हे मृत्युसे बचानेवाला कोई भी नही है ॥ ७५ ॥ जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीरसे रहित है, तथा जो पापसे मलिन अर्थात काला है वह दुष्ट राहु निश्चयसे प्रकाशमान एक हजार किरणोरूप हाथोसे लोकको व्याप्त करनेवाले प्रतापी सूर्यको कवलित करता है, यह बडे खेदकी बात है। ठीक है– समयनुसार कर्मका उदय आनेपर दूसरा कौन बलवान् है? आयुके पूर्ण होनेपर ऐसा कोई भी बलिष्ठ प्राणी नही है जो मृत्युसे बच सके ॥ विशेषार्थ– लोकमे सूर्य अतिशय प्रतापी माना जाता है। उसके एक हजार किरण (कर) क्या है मानो [illegible] हाथ ही है। ऐसे अपूर्व बलशाली सूर्यको भी ग्रहणके समय वह काला राहु ग्रसित करता है जिसके न तो स्थानका पता है और न जिसके शरीर भी है।

स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरः[1]
परिप्राप्ते काले विलसति विधौ को हि बलवान् ॥ ७६ ॥
उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव[2] विश्वं
वेधाः स्वयं गतघृणष्ठकवद्यथेष्टम् ।

---

भास्वदित्यादि । भास्वन्तश्च ते दशशतकराश्च सहस्रकिरणा तै आक्रान्तं व्याप्त भुवन येन । स्फुरन्त सप्रताप प्रकाशमान वा । इत्थभूत भास्वन्तम् आदित्यम् । परिप्राप्ते काले लब्धावसरे । विलसति विजृम्भमाणे सति विधौ ॥ ७६ ॥ स च अन्तक. किं कृत्वा क्व प्राणिन हन्तीत्याह– उत्पाद्येत्यादि । वेधा विधि कर्ता । विश्व जगत् । मोहजनितमदेन विह्वल कृत्वा । कृत्याकृत्यविवेकशून्यमेव उत्पाद्य

---

जिस प्रकार वह प्रतापशाली भी सूर्य राहुके आक्रमणसे आत्मरक्षा नही कर सकता है उसी प्रकार कितना भी बलवान् प्राणी क्यो न हो, किन्तु वह भी कालसे (मृत्युसे) अपनी रक्षा नही कर सकता है– समयानुसार मरणको प्राप्त होता ही है। कारण यह कि राहुके समान वह काल भी ऐसा है कि न तो उसके स्थानका ही पता है और न उसके शरीर भी है जिसके कि उसका कुछ प्रतिकार किया जा सके ॥ ७६ ॥ कर्मरूप ब्रह्मा समस्त विश्वको ही मोहरूप शराबसे मूर्छित करके तत्पश्चात् स्वयं हि ठग (चोर-डाकू) समान निर्दय बनकर इच्छानुसार ससार रूप भयानक महावनके मध्यमे उसका घात करता है। उससे रक्षा करनेके लिये भला यहा दूसरा कौन समर्थ है? अर्थात कोई नही है ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार कोई चोर या डाकू बीहड जगलमें किसी मनुष्यको पाकर प्रथमत. उसे शराब आदि मादक वस्तु पिलाकर मूर्छित करता है और तत्पश्चात् उसके जो कुछ भी रुपया -पैसा आदि होता है उसे लूट कर मार डालता है उसी प्रकार यह कर्म भी प्राणीको पहिले तो मोहरूप शराब पिलाकर मूर्छित करता है – हेयोपादेयके ज्ञानसे रहित करता है और तत्पश्चात् उसके रत्नत्रय स्वरूप धनको लूटकर मार डालता है– दुर्गतीमे प्राप्त कराकर दुखी करता है। इस प्रकार जैसे उस बीहड

---

१ मु (जै नि) कष्टमर। २ मु (जै नि) मदविभ्रमगेव.

संसारभीकरमहागहनान्तराले
हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥ ७७ ॥
कदा कथं कुतः कस्मिन्नित्यतर्क्यः खलोऽन्तकः ।
प्राप्नोत्येव किमित्याध्वं यतध्वं श्रेयसे बुधाः ॥ ७८ ॥

---

पूर्वम्, पश्चात् स्वयमेव गतघृणो निर्दय सन् हन्ता यथेष्ट ठकवत् । क्वेत्याह ससारे इत्यादि । ठगो हि गहनान्तराले हन्ता भवति । वेधा पुन क्व । ससार एव भीकर महागहनान्तराल तत्र । अत्र वेधसि ॥७७॥ न च अन्तकस्य देशकालाकारनैयत्यमस्ति यत्परिहारेणासौ परिह्रियते इत्याह- कदेत्यादि । कदा कस्मिन् काले । कथ केन प्रकारेण । कुतः कस्मात् स्थानात् । कस्मिन् क्षेत्रे आगच्छति इत्येवम् अतर्क्यं. अपर्यालोच्य । किमिति आध्व किमिति निश्चिन्तास्तिष्ठत । यतध्व श्रेयसे प्रयत्नं कुरुत चारित्रानुष्ठानाय हे बुधा ॥ ७८ ॥ देशादीना च मध्ये मृत्योरगोचर

---

जगलमे चोरके हाथोमे पडे हुए उस मनुष्यकी कोई रक्षा करनेवाला नही है उसी प्रकार इस भयानक संसारमें कर्मोदयसे मोहको प्राप्त हुए प्राणीकी भी रक्षा करनेवाला कोई नही है । हा, यदि वह स्वय ही मोहसे रहित होकर हिताहितके विवेकको प्राप्त कर लेता है तो अवश्य ही वह ससारके सन्तापसे बच सकता है । प्रकारान्तरसे यहा यह भी सूचित किया गया है कि जो ब्रह्मा स्वय ही विश्वको उत्पन्न करता है वह यदि उसका सहारक हो जाय तो फिर दूसरा कौन उसकी रक्षा कर सकता है ? कोई नही ॥ ७७ ॥ जिस कालके विषयमे कब वह आता है, कैसे आता है, कहांसे आता है और कहांपर आता है, इस प्रकारका विचार नही किया जा सकता है वह दुष्ट काल प्राप्त तो होता ही है । फिर हे विद्वानो ! आप निश्चिन्त क्यो बैठे है ? अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कीजिये । अभिप्राय यह है कि प्राणीके मरणका न तो कोई समय ही नियत है और न स्थान भी । अतएव विवेकी जनको सदा सावधान रहकर आत्महितमे प्रवृत्त रहना चाहिये ॥ ७८ ॥ मृत्युसे सम्बन्ध न रखनेवाले किसी एक देशको, कालको, विधानको और कारणको देखकर प्राणी निश्चिन्त हो जावें ॥ विशेषार्थ- पूर्व [illegible] है
कि प्राणीका मरण कब, कहा और किस [illegible]

असामवायिकं मृत्योरेकमालोक्य कंचन ।
देशं कालं विधिं हेतुं निश्चिन्ताः सन्तु जन्तवः ॥ ७९ ॥
अपिहितमहाघोरद्वारं न किं नरकापदा-
मुपकृतवतो भूयः किं तेन चेदमपाकरोत् ।

---

किंचिदवलोक्य निश्चितैः स्थातव्यमित्याह– असामवायिकमित्यादि । असामवायिक प्रतिकूल अगोचर वा । विधिं प्रकारम् ॥ ७९ ॥ एवम् आयुषो नश्वरत्वं प्रतिपाद्य इदानीं स्त्रीनिन्दां कुर्वाणस्तत्कायस्य अपकारहेतुत्वं प्रदर्शयन् 'अपिहित' इत्याद्याह– अपिहितम् अझम्पितम् । उपकृतवत वस्त्राभरणादिभि उपचार कृतवत. । न च नैव । इद कलत्रकलेवरम् । अपाकरोत् प्रतिकूलाचरणप्राणविपत्त्याद्यपकारक कृतवत् ।

---

कोई नही जान सकता है तब विवेकी जीवोको यों ही निश्चिन्त होकर नही बैठना चाहिये, किन्तु उससे आत्मरक्षाका कुछ प्रयत्न करना चाहिये । इसपर शंका हो सकती थी कि जब उसके काल और स्थान आदिका पता ही नही है, तब भला उसका प्रतीकार करके आत्मरक्षा ही कैसे की जा सकती है ? इसके उत्तरस्वरूप यहां यह बतलाया है कि यदि उस काल (मरण) के स्थान आदिका पता नही है तो न रहे, किन्तु हे प्राणी ! ऐसे किसी सुरक्षित स्थानको प्राप्त कर ले जहां कि वह पहुंच ही नही सकता हो । ऐसा करनेसे उसका प्रतीकार करनेके विना ही तेरी रक्षा अपने आप हो जावेगी । ऐसे सुरक्षित स्थानका विचार करनेपर वह केवल मोक्षपद ही ऐसा दिखता है जहा कि मृत्युका वश नही चलता । अतएव बाह्य वस्तुओमे इष्टानिष्टकी कल्पनाको छोडकर मोक्षमार्गमे ही प्रवृत्त होना चाहिये, इसीमें जीवका आत्मकल्याण है ॥७९॥ जिस स्त्रीके शरीरको अज्ञानी जन दुर्लभ मानते है उस स्त्रीके शरीरमे हे भव्य ! तू किसलिये अनुरक्त हो रहा है ? वह स्त्रीका शरीर पुण्य (सुख) को भस्मीभूत करनेके लिये अग्निकी ज्वालाओके समूहके समान होकर नरकके दु.खोको प्राप्त करनेके लिये खुले हुए महा भयानक द्वारके समान है । तथा जिस स्त्रीशरीरको तूने वस्त्राभरणादिसे अलकृत कर बार बार उपकृत किया है उसने क्या तेरा प्रतिकूल आचरण करके अपकार नही किया है ? अर्थात् अवश्य किया

कुशलविलयज्वालाजाले कलत्रकलेवरे
कथमिव भवानत्र प्रीतः पृथग्जनदुर्लभे ॥ ८० ॥
व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोग्योचितं
विष्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम् ।

---

कुशलेत्यादि । कुशलस्य पुण्यस्य विलयाय ज्वालाजाले ज्वालासघाते । प्रीत प्रीतिं गत ॥ ८० ॥ तत्र च प्रीतिं परित्यज्य सर्वथा नि सार मानुष्य विशिष्टधर्मोपार्जनेन सफल कुर्विति शिक्षा प्रयच्छन्नाह– व्यापदित्यादि । विविधा आपदो व्यापद ता एव पर्वाणि ग्रन्थय. तैर्निर्वृत्त व्यापत्पर्वमयम् । विरामविरस विरामे वृद्धत्वे अग्रभागे च विगतरसम् । मूले मूर्ध्नि बालत्वे च अभोग्योचितम् अनुभवनायोग्यम् । विष्वगित्यादि ।

---

है । अतएव ऐसे कृतघ्न स्त्रीके शरीरमे अनुराग करना उचित नही है ॥ ८० ॥ आपत्तियोरूप पोरोसे निर्मित, अन्तमे नीरस, मूलमे भी उपभोगके अयोग्य तथा सब ओरसे भूख, क्षतपात ( घाव ), कोढ और दुर्गन्ध आदि तीव्र रोगोसे छेद युक्त की गई ऐसी यह मनुष्य पर्याय घुनों (लकडीके कीडो) से खाये हुए गन्नेके समान केवल नामसे ही रमणीय है । हे भव्य ! तू इस नि सार मनुष्य पर्यायको शीघ्र यहां परभवका बीज ( साधन ) करके सारयुक्त कर ले ॥ विशेषार्थ– यहा मनुष्य पर्यायको काने गन्नेके समान नि सार बतलाकर उसके द्वारा योग्य सयम एव तप आदिका आचरण करके परभवको सुधारनेकी प्रेरणा कि गई है । उन दोनोमे समानता इस प्रकारसे है– जैसे गन्ना पोरोसे सयुक्त होता है वैसे वह मनुष्य पर्याय अनेक प्रकारके दु खोरूप पोरोंसे संयुक्त है, जिस प्रकार गन्ना अन्त ( अन्तिम भाग ) मे नीरस या फीका होता है उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी अन्तमें (वृद्धावस्थामें) नीरस (आनन्दसे रहित) होता है, गन्ना यदि मुल (जड) मे उपभोग्यके (चूसनेके) योग्य नही होता है तो वह मनुष्यशरीर भी मूल (बाल्यावस्था) में उपभोगके अयोग्य होता है, गन्ना जहा वनस्पतिमे होनेवाले रोगोसे ग्रसित होकर यत्र तत्र छेदयुक्त हो जाता है वहा मनुष्य शरीर भी क्षुधा एव घाव आदि रोगोसे छेदयुक्त (दुर्बल) हो जाता है, तथा जिस प्रकार गन्ना भीतर सारभागसे रहित होता है उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी सार

मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नामैकरम्यं पुनः
निःसारं परलोकबीजमचिरात्कृत्वेह सारीकुरु ॥ ८१ ॥
प्रसुप्तो मरणाशङ्कां प्रबुद्धो जीवितोत्सवम् ।
प्रत्यहं जनयन्नेष तिष्ठेत् काये कियच्चिरम् ॥ ८२ ॥
सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम् ।

---

विष्वक् समन्तात् क्षुच्च बुभुक्षा च, क्षतपातश्च[1], कुष्ठ च कुत्सितं च तानि आदिर्येषा जलोदरभगन्दराद्युग्रामया तै छिद्रित जर्जरीकृतम् इक्षुदण्डकम् । नामैकरम्य नाम्ना मानुष्यमिति शब्देनैकेन केवलेन रम्यम्, न परैर्धर्मै । नि सार अन्तस्तुच्छम् । परलोकबीज धर्मसाधनत्वेन परलोकोपायम् । इह लोके सारीकुरु सफल कुरु ॥ ८१ ॥ प्रसुप्तेत्यादि । प्रसुप्तो गाढनिद्राक्रान्त । मरणाशङ्काम् । प्रबुद्धो जागरित जीवितोत्सव जीविते सति उत्सव परिजनपरितोषादि । प्रत्यह प्रतिदिनम् । एष आत्मा । कियच्चिर कियद्बहुकालम् ॥ ८२ ॥ एव कायस्यात्मोपकारकत्वाभाव

---

(श्रेष्ठवस्तु) से रहित होता है इस प्रकार दोनोमें समानता होनेपर जिस प्रकार किसान उस गन्नेकी गाठोको बीजके रूपमे सुरक्षित रखकर उनसे पुनः उसकी सुन्दर फसलको उत्पन्न करता है उसी प्रकार विवेकी जनका भी कर्तव्य है कि वे उस निःसार मनुष्यशरीरको आगामी (भवका देवादि पर्याय अथवा सिद्ध पर्याय) का बीज ( साधन ) बनाकर उसे सफलीभूत करे ॥ ८१ ॥ जब प्राणी सोता तब वह मृतवत् होकर मरनेकी आशका उत्पन्न करता है और जब जागृत रहता है तब जीनेके उत्सवको करता है । इस प्रकार प्रतिदिन आचरण करनेवाला यह प्राणी कितने काल तक उस शरीरमे रह सकेगा ? अर्थात् बहुत ही थोडे समय तक रह सकता है, पश्चात् उस शरीरको छोडना ही पडेगा ॥ ८२ ॥ हे प्राणी ! यदि तूने ससारमे भाई-बन्धु आदि कुटुम्बी जनोसे कुछ भी हितकर बधुत्वका कार्य प्राप्त किया है तो उसे सत्य बतला । उनका केवल इतना ही कार्य है कि मर जानेके पश्चात् वे एकत्रित होकर तेरे अहितकारक

---

[1] ज क्षतपातश्च ।

एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति ॥ ८३ ॥
जन्मसंतानसंपादिविवाहादिविधायिनः ।
स्वाः परेऽस्य सकृत्प्राणहारिणो न परे परे ॥ ८४ ॥

---

प्रतिपाद्य बन्धूना प्रतिपादयन्नाह– सत्यमित्यादि । अत्र ससारे बन्धुकृत्य बन्धुकार्यम् । हितार्थम् उपकारकम् । आप्त प्राप्तम् । संभूय मिलित्वा ॥८३॥ ननु विवाहादिकार्यस्य बन्धुजनात् प्रतीते कथ न तत' तत्कार्यमित्याशङ्क्याह– जन्मेत्यादि । जन्मन संसारे प्रादुर्भावस्य सतान प्रवाह. तस्य सपादि संप्रापक तच्च तद्विवाहादि तस्य विधायिनः कारका' स्वजना । तस्य आत्मन परे शत्रव' । अपरे स्वजनेभ्योऽन्ये ये ते सकृत्प्राणहारिण. एकदा प्राणविपत्तिकारिण न ते परे शत्रव' ॥ ८४ ॥ अथोच्यते विवाहादिविधानेन धनधान्यकलत्रादि– सपादकत्वेन वाञ्छितार्थप्रापकत्वात् कथ तेषा

---

शरीरको जला देते हैं ॥ विशेषार्थ– बंधुका अर्थ हितैषी होता है । परंतु जिन कुटुम्बी जनोको बन्धु समझा जाता है वे वास्तवमे प्राणीका कुछ भी हित नही करते हैं, वल्कि, इसके विपरीत वे राग– द्वेषके कारण वनकर उसका अहित ही करते हैं । इसीलिये विवेकी जनको बन्धुजनमे अनुरक्त न होकर अपने आत्महितमे ही लगना चाहिये ॥ ८३ ॥ जो कुटुम्वी जन जन्मपरपरा (ससार) को वढाने वाले विवाहादि कार्यको करते हैं वे इस जीवके शत्रु है, दूसरे जो एक ही वार प्राणोका अपहरण करनेवाले हं वे यथार्थमे शत्रु नही है ॥ विशेषार्थ– जो अपना अहित करे वही वास्तवमे शत्रु है– किन्तु जिसे प्राणी शत्रु मानता है वह सचमुचमे शत्रु नही है । कारण यह कि यदि वह अधिकसे अधिक अहित करेगा तो केवल एव वार प्राणोका वियोग कर सकता है, इससे अधिक वह और कुछ भी नही कर सकता है । किन्तु जो कुटुम्वीजन विवाहादिको करके प्राणीको ससारवृद्धिके कारणोंमे प्रवृत्त करते हैं वास्तविक शत्रु तो वे ही हैं, क्योकि उनके द्वारा अनेक भवोंका घात होनेवाला है । राग-द्वेषादिकी वृद्धिके कारण होनेसे वे अनेक भवोको दु.खमय वनानेवाले है ॥८४॥ आशा ( विषयतृष्णा ) रूप अग्निमे धनरूप इन्धनके समूहको डालकर भ्रान्तिको प्राप्त हुआ प्राणी उस जलती हुई आशारूप अग्निको जलनेके

धनरन्धनसंभारं[1] प्रक्षिप्याशाहुताशने ।
ज्वलन्तं मन्यते भ्रान्तः शान्तं संधुक्षणक्षणे ॥ ८५ ॥
पलितच्छलेन देहान्निर्गच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः ।
कथमिव परलोकार्थं जरी वराकस्तदा स्मरति ॥ ८६ ॥

---

शत्रुत्वमिति तदयुक्तमित्याह– धनेत्यादि । रन्ध्यते अनेनेति रन्धनम् इन्धनम्, धनमेव रन्धन तस्य सभार सघातम् । प्रक्षिप्य । क्व । आशाहुताशने आशैव हुताशनोऽग्नि तस्मिन् । ज्वलन्तम् आशाहुताशनम् । शान्तम् उपशान्त मन्यते । भ्रान्त' सन् अविवेकी । सधुक्षणक्षणे आशाग्ने धनेन्धनै प्रज्वालनसमये ॥८५॥ एव मन्यमानस्य भवत' किं किं भवतीत्याह– पलितेत्यादि । पलितच्छलेन पलितव्याजेन । शुद्धि. निर्मलता । परलोकार्थं परत्रार्थम् । अथवा पर उत्कृष्टो लोको मोक्ष परलोक' तस्य अर्थं प्रयोजनम् अनन्तज्ञानादि सम्यग्दर्शनज्ञानादिकारणकलापो वा, अर्थ्यते याच्यते

---

समयमे शान्त मानता है ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार अग्निमे इन्धनके डालनेसे वह उत्तरोत्तर बढती ही है, – कम नही होती – उसी प्रकार अधिक अधिक धनके सचयसे यह विषयतृष्णा भी उत्तरउत्तर बढती ही है– कम नही होती । अग्नि जब इन्धनको पाकर अधिक भडक उठती है तब मूर्खसे मूर्ख प्राणी भी उसे शान्त नही मानता । परन्तु आश्चर्य है कि विषयसामग्रीरूप इन्धनको पाकर उस तृष्णारूप अग्निके भडक उठनेपर भी यह प्राणी उसे ( विषयतृष्णाग्निको ) और उसमें जलते हुए अपनेको भी शान्त मानता है । यह उसकी बडी अज्ञानता हैं ॥ ८५ ॥
हे भव्य ! बालोकी धवलताके मिषसे तेरी बुद्धिकी निर्मलता ही शरीरसे निकलती जा रही है । ऐसी अवस्थामे बिचारा वृद्ध उस समय परभवमे हित करनेवाले कार्योका कैसे स्मरण कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता है ॥ **विशेषार्थ–** वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर बाल सफेद होने लगते हैं । इसके ऊपर यहा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह बालोंकी सफेदी क्या है मानो निर्मल बुद्धि ही शरीरसे निकलकर बाहिर आ रही है । अभिप्राय उसका यह है कि वृद्धावस्थामें जैसे जैसे शरीर शिथिल होता जाता है वैसे ही प्राणीकी बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है । उस समय

---

१ मु (जै. नि ) रे धनेन्धनसभार ।

इष्टार्थोद्यदनाशितं भवसुखक्षाराम्भसि[1] प्रस्फुरन्-
नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे ।

मोक्षो येनासावर्थ इति व्युत्पत्ते । जरी जरा अस्यास्तीति जरी व्रीह्यादेरिन् (जै म ४।१।४२) तदा शुद्धिनिर्गमकाले ॥ ८६ ॥ ये तु बुद्धिशुद्धियुक्ता मोहानभिभूतचेतस परलोकार्थं स्मरन्ति ते विरला इत्याह– इष्टार्थेत्यादि । इष्टार्थं स्रग्वनिताचन्दनादि तस्मादुद्यत्प्रादुर्भवत् तच्च तत् अनाशित भवम् अतृप्तिजनक तच्च तत् सुख च तदेव क्षारम् अम्भो यत्र । प्रस्फुरदित्यादि । प्रस्फुरन्त्यो दीप्ता ताश्च ता नानामानसदु.खानि

उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है तथा करने योग्य कार्यका स्मरण भी नही रहता है । ऐसी दशामे यदि कोई मनुष्य यह विचार करे कि अभी मैं युवा हू, इसलिये इस समय इच्छानुसार धन कमाकर विषयसुखका अनुभव करूगा और तत्पश्चात् वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर आत्मकल्याणके मार्गमे लगूगा । ऐसा विचार करनेवाले प्राणियोको ध्यानमे रखकर यहा यह बतलाया है कि वृद्धावस्थामे इन्द्रिया शिथिल और बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तथा व्रत एव जप–तप आदि करनेका शरीरमे सामर्थ्य भी नही रहता है । इसके अतिरिक्त मृत्युका भी कोई नियम नही है– वह वृद्धावस्थाके पूर्वमे भी आ सकती है । अतएव वृद्धावस्थाके ऊपर निर्भर न रहकर उसके पहिले ही, जब कि शरीर स्वस्थ रहता है, आत्मकल्याणके मार्गमे– व्रतादिके आचरणमे– प्रवृत्त हो जाना अच्छा है ॥ ८६ ॥ जो ससाररूप भयानक समुद्र मनोहर पदार्थोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले असन्तोषजनक सुखरूप खारे जलसे परिपूर्ण है, जिसका भीतरी भाग अनेक प्रकारसे मानसिक दु खोरूप वडवानलकी ज्वालाओसे जल रहा है, तथा जो मरण, जन्म एव वृद्धत्वरूप लहरोसे चचल है; उस भयानक ससार–समुद्रमे जो विवेकी प्राणी मोहरूप हिंस्र जलजन्तुओं ( मगर आदि ) के फाडे हुए मुखरूप बिलसे दूर रहते हैं वे दुर्लभ है ॥ **विशेषार्थ**– यह संसार भयानक समुद्रके समान है– समुद्रमे जहा तृष्णा (प्यास) को न शान्त कर

१ मु (जै नि.) इष्टार्थाद्यदवाप्ततद्भवसुखेक्षा ।

मृत्यूत्पत्तिजरातरङ्गचपले संसारघोरार्णवे
मोहग्राहविदारितास्यविवराद्दूरे चरा दुर्लभाः ॥ ८७ ॥
अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकरैर्लालिता लोलरम्यैः
श्यामाङ्गीनां नयनकमलैरचिता यौवनान्तम् ।

---

एव वाडवशिखाश्च ताभि सदीपित प्रज्वालितम् अभ्यन्तर यत्र । मृत्युत्पत्ति जरा एव तरङ्गा ऊर्मय तरलाश्चपला यत्र । इत्थमूते ससारलक्षणे घोरार्णवे रौद्रसमुद्रे । मोह इत्यादि । मोह एव ग्राहो जलचरस्तेन विदारित तच्च तत् आस्य च मुख तदेव विवर तस्मात् । दूरे चरा दूरे प्रवर्तमाना ॥ ८७ ॥ ततो दूरे चरतो दुर्धरानुष्ठानमनुतिष्ठतो भवत सुलालितापि तनुर्यदीत्थ वने मृगीभि दृश्यते तदा धन्योऽसीत्यह– अव्युच्छिन्नैरित्यादि । अव्युच्छिन्नै निरन्तरै । सुखपरिकरै स्रग्वानितादिभि । लालिता उपचय नीता । तथा अर्चिता अनवरतमवलोकिता । कै ।

---

सकनेवाला खारा जल रहता है वहां ससारमें तृष्णा (विषयाभिलाषा) को न शान्त कर सकनेवाला इष्ट विषयभोगजनित सुख रहता है, समुद्रमे यदि वडवानलकी ज्वालाओसे उसका जल जलता रहता है तो ससारमे भी प्राणी अनेक प्रकारके मानसिक दुखोसे जलते (संतप्त) रहते है, समुद्रमे जहां उसको क्षुब्ध करनेवाली बडी बडी लहरोकी परम्परा चलती है यहा ससारमे भी प्राणीको पीडित करनेवाली लहरोंके समान जन्म, जरा और मरणकी परम्परा चलती रहती है, तथा समुद्रमे यदि मगर एव घडियाल आदि हिंसक जन्तु रहते है तो संसारमे भी घातक मोह रहता है । इस प्रकार ससार और समुद्र इन दोनोके समान होनेपर जिस प्रकार गम्भीर एव अपार समुद्रमे गिरे हुए प्राणियोका उसमे स्थित मगर–मत्स्यादिके मुखसे बचना अशक्य है– विरला ही ही कोई भाग्यवान् बचता है, उसी प्रकार ससारमे स्थित प्राणियोंका मोहसे बचना अशक्य है– विरले ही विवेकी जीव उसके प्रभावसे बचते हैं ॥ ८७ ॥ निरन्तर प्राप्त होनेवाली सुख–सामग्रीसे पालित और यौवनके मध्यमें सुन्दर स्त्रियोके चचल एव रमणीय नेत्रोरूप कमलोंसे पूजित अर्थात् देखा गया ऐसा वह तेरा शरीर विवेकज्ञानके प्राप्त होनेपर यदि जले हुए वनमे हिरणियोके द्वारा स्थलकमलिनीकी आशकासे देखा

धन्योऽसि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधेर्मृगीभि-
र्दग्धारण्ये स्थलकमलिनीशङ्कयालोक्यते ते ॥ ८८ ॥
बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन् वने यौवने ।

---

नयनकमलै । कथमूतैः लोलरम्यैः चञ्चलरमणीयैः । कासाम् श्यामाङ्गीनाम् उत्तमनायिकानाम् । कथमञ्चिता । यौवनान्ते यौवनमध्ये यथा भवत्येवम् । लब्धबोधे. प्राप्तरत्नत्रयस्य । दग्धेत्यादि– दग्धा चासौ अरण्ये अटव्या स्थलकमलिनी च तस्याः शङ्कया सदहेन ॥ ८८ ॥ इत्थमेव त्वदीय जन्म सफल स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह– बाल्येत्यादि । बाल्ये बालत्वे । अपरिपूर्णाङ्गः अपुष्टाङ्गः. सन् कामान्धः. कामेन अन्धः विवेकपराङ्मुखः । कामिनीद्रुमघने कामिनीलक्षणद्रुमैः घने, ते वा घना यत्र वने यौवनलक्षणे वने । भ्राम्यन् न किंचिद्धितमहित वा वेत्सि । मध्ये मध्यमा-वस्थायाम् । वृद्धतृषा वृद्धा महती सा चासौ तृट् वृद्धतृट् तया । वसु द्रव्यम् ।

---

जाता है तो तू धन्य है– प्रशसाके योग्य है ॥ विशेषार्थ– जिसने निरन्तर सुखसामग्रीको प्राप्त करके विषयसुखका अनुभव किया है तथा यौवनके समयमे जिसको अनेक सुन्दर स्त्रिया चाहती रही है वह यदि विवेकज्ञानको प्राप्त करके वनमे स्थित होता हुआ दुर्द्धर तपका आचरण करता है तो तपसे कृश उसके सुकुमार शरीरको देखकर हिरणियोंको जगलमे आगसे जली हुई स्थलकमलिनीका भ्रम होने लगता है । ऐसे वे भव्यजीव ही वास्तवमे पुण्यशाली है जिन्हे समस्त सुखसामग्रीके सुलभ रहनेपर भी आत्मकल्याणके लिये उसे छोडनेमें किसी प्रकार क्लेशका अनुभव नही हुआ । वे स्तुतिके योग्य है । आश्चर्य तो उन जीवोंके ऊपर होता है जो कि यथेष्ट सुखसामग्रीके न मिलनेसे निरन्तर दु.खी रहकर भी तद्विषयक मोहको नही छोडना चाहते है ॥८८॥ प्राणी बाल्यावस्थामे शरीरके पुष्ट न होनेसे कुछ भी हित–अहितको नही जानता है । यौवन अवस्थामें कामसे अन्धा होकर स्त्रियोरूप वृक्षोसे सघन उस यौवनरूप वनमें विचरता है, इसलिये यहा भी वह हिताहितको नही जानता है । मध्यम (अधेड) अवस्थामें पशुके समान अज्ञानी होकर बढी हुई तृष्णाको शान्त करनेके लिये खेती व वाणिज्य आदिके द्वारा धनके कमानेमे तत्पर

**मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशु:[1] क्लिश्नासि कृष्यादिभि-**
**र्वार्द्धक्येऽर्धमृत:[2] क्व जन्म फलि ते[3] धर्मो भवेन्निर्मल: ॥८९॥**

अर्जितुम् । पशु अज्ञ सन् । क्लिश्नासि । कं. । कृष्यादिभि । अतस्तत्रापि न किंचिद्धितम् अहित वा वेत्सि । वार्द्धके (क्ये) वृद्धत्वे अर्धमृत क्वचिदपि व्यापारे अक्षम । क्व । अवस्थाविशेषे । जन्म । ते तव । फलि सफल स्यात् । तथा धर्मो भवेन्निश्चल ॥८९॥ अवस्थात्रयेऽपि अपकारकस्य कर्मणो वशेनेदानी भवतो वर्तितुम्

रहकर खिन्न होता है, अत: इस समय भी हिताहितको नही जानता है तथा वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर वह अधमरेके समान होकर शरीरसे शिथिल हो जाता है, इसलिये यहा भी हिताहितका विवेक नही रहता है। ऐसी दशामें हे भव्यजीव! कौन–सी अवस्थामे धर्मका आचरण करके तू अपने जन्मको सफल कर सकता है? ॥ **विशेषार्थ–** बाल्यावस्थामें शरीरके परिपुष्ट न होनेसे प्राणी अपने हिताहितको ही नही समझ सकता है। यौवन अवस्थामे प्राय वह कामसे पीडित होकर विषयसामग्रीकी खोजमे रहता है। इसके पश्चात् अधेड अवस्थामें वह धनके कमानेमें आसक्त होकर उसके द्वारा वृद्धिगत धनकी तृष्णाको समाप्त करना चाहता है, परतु इससे उसका शात होना तो दूर ही रहा, वह उत्तरोत्तर बढती ही अधिक है। अब रही वृद्धावस्था, सो यहा समस्त इन्द्रिया शिथिल हो जाती हैं, शरीर रोगाक्रात हो जाता है, तथा स्मृति भी जाती रहती है। इस प्रकारसे वे सब अवस्थाये यो ही बीत जाती हैं और वह अज्ञानी प्राणी कुछ भी आत्महित नही कर पाता। किन्तु हा जो विवेकी प्राणी हैं वे यौवन अवस्थामे विषयसुखको भोग करके तत्पश्चात् उसे उच्छिष्टके समान छोड देते हैं और आत्मकल्याणके मार्गमे प्रवृत्त हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी महापुरूष होते हैं जो उन कष्टदायक विषयोंमे अनुरक्त न होकर प्रारम्भमें ही सयम एव तप आदिके साधनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु ऐसे महापुरुष विरले ही हैं, अधिक प्राणी तो वे ही अज्ञानी जीव हैं जो पूर्वोक्त अवस्थाओमेंसे किसी भी अवस्थामे आत्महितको नही करते है ॥८९॥ हे दुर्बुद्धि प्राणी! इस

१ मु (ज) पशो। २ मु (जै नि.) वृद्धो वार्द्धमृत.। ३ मु (जै.) फलित।

बाल्येऽस्मिन् यदनेन ते विरचितं स्मर्तुं च तन्नोचितं
मध्ये चापि धनार्जनव्यतिकरैस्तन्नास्ति यन्नार्पितं [1]।
वार्द्धक्ये[2]ऽप्यभिभूय दन्तदलनाद्याचेष्टितं निष्ठुरं
पश्याद्यापि विधेर्वशेन चलितुं वाञ्छस्यहो दुर्मते ॥ ९० ॥

---

अनुचितमिति शिक्षा प्रयच्छन्नाह– बाल्येत्यादि । अनेन विधिना विरचित कृतम् । व्यतिकरै प्रघट्टकं । नापित न प्रापितः । अभिभूय पराभव कृत्वा.। आचेष्टितम् आचरितम् । निष्ठुरम् अमनोज्ञम् । चलितु प्रवर्तितुम् ॥ ९० ॥

---

विधि (कर्म) ने बाल्यकालमे जो तेरा अहित किया है उसका स्मरण करना भी योग्य नही है । मध्यम अवस्थामें भी ऐसा कोई दुःख नही है जिसे कि उसने धनोपार्जन आदि कष्टप्रद कार्योंके द्वारा तुझे प्राप्त कराया हो । वृद्धावस्थामे भी उसने तुझे तिरस्कृत करके निर्दयतापूर्वक दात तोड देने आदिका प्रयत्न किया है । फिर देख तो सही कि तेरा इतना अहित करनेपर भी आज भी तू उक्त कर्मके ही वशीभूत होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करता है ॥ विशेषार्थ– यह अज्ञानी प्राणी दूसरोके विषयमे हित और अहितकी कल्पना करके तदनुसार उन्हे मित्र और शत्रु समझने लगता है । परन्तु वास्तवमे जो उसका अहितकारी शत्रु कर्म है उसकी ओर इसका ध्यान ही नही जाता है । जीव बाल्यावस्थामे जो गर्भ एवं जन्म आदिके असह्य दु खको भोगता है उसका कारण वह कर्म ही है । तत्पश्चात् यौवन अवस्थामे भी कुछ कर्मके ही उदयसे प्राणी कुटुम्बके भरण– पोषणकी चिन्तासे व्याकुल होकर धनके कमाने आदिमे लगता है और निरन्तर दु सह दुःखको सहता है। इसी कर्मके निमित्तसे वृद्धावस्थामे इन्द्रिया शिथिल पड जाती हैं, शरीर विकृत हो जाता है, और दात टूट जाते है । इस प्रकार जो कर्म सब ही अवस्थाओंमें उसका अनिष्ट कर रहा है उसे अहितकर न मानकर यह अज्ञानी प्राणी आगे भी उसके वशमे रहना चाहता है । लोकमें देखा जाता है कि जो मनुष्य किसी का एक वार भी अनिष्ट करता है उससे वह भविष्यमें किसी प्रकारका सम्बन्ध नही रखता । इसी प्रकार यदि कोई दात तोडना तो

---

१ मु (ज नि ) स्तन्नार्पित यस्त्वयि ।

**अश्रोत्रीव तिरस्कृतापरतिरस्कारश्रुतीनां श्रुतिः**
**चक्षुर्वीक्षितुमक्षमं तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतम्।**
**भीत्येवाभिमुखान्तकादतितरां कायोऽप्ययं कम्पते**
**निष्कम्पस्त्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे (स्से) जराजर्जरे ॥११॥**

---

वृद्धावस्थायामिन्द्रियादीनामेवंविधा प्रवृत्तिं पश्यतस्तव [1]निश्चिन्तमवस्थानमयुक्तमित्याह– अश्रोत्रीवेत्यादि। श्रुतिः श्रोत्रम्। तिरस्कृता ते नष्टा. (नष्टा) कथंभूतेव। अश्रोत्रीव श्रोतुमनिच्छतीव कासाम्। परतिरस्कारश्रुतीनां परनिन्दावचनानाम्। तव दशां तव वृद्धावस्थाम्। दूष्यां निन्द्याम्। वीक्षितुं द्रष्टुम्। अक्षममिव अशक्तमिव। चक्षुः आन्ध्यं गतम्। भीत्येव भयेनेव। निःकम्पः परलोकव्यापारचिन्तारहितः। त्वम् अहो आश्चर्यम्। प्रदीप्तभवनेऽपि प्रदीप्तभवनमिव प्रदीप्तभवम् जराव्याध्याद्युपद्रुते शरीरम्। तत्रापि आसे (स्से) तिष्ठसि ॥ ११ ॥ तत्र तिष्ठतो जीवस्य शिक्षा

---

दूर रहा, किन्तु यदि दांत तोडनेके लिये कहताही है तो मनुष्य उसे अपना अपमान करनेवाला मानकर यथाशक्ति उसके प्रतीकारके लिये प्रयत्न करता है। फिर देखो कि जो कर्म एक बार ही नही, किन्तु बार बार *प्राणीका अनिष्ट करता है तथा दांत तोडनेके लिये कहता ही नही* बल्कि वृद्धावस्थामे उन्हे तोड ही डालता है, उस अहितकर कर्मके ऊपर इस प्राणीको क्रोध नही आता। इसीलिये उसका प्रतीकार करना तो दूर रहा, किन्तु वह भविष्यमे भी उसी कर्मके अधीन रहना चाहता है ॥१०॥ हे वृद्ध! तेरे कान दूसरोके निन्दावाक्योंके नही सुननेकी इच्छासे ही मानो तिरस्कृत अर्थात् नष्ट हो गये– बहरे हो गये। नेत्र मानो तेरी घृणित अवस्थाको देखनेमे असमर्थ होकर ही अन्धेपनको प्राप्त हो गये हैं। यह शरीर भी तेरा सन्मुख आनेवाले यम (मृत्यू) से मानो भयभीत हो करके ही अतिशय कांप रहा है। फिर भी आश्चर्य है कि तू जलते हुए घरके समान उस वृद्धत्वसे शिथिल हुए शरीरमे निश्चल रह रहा है॥ **विशेषार्थ–** वृद्धावस्थामे कान बहरे हो जाते हैं, आंखे अन्धी हो जाती हैं और शरीर कांपने लगता है। यह शरीरकी अवस्था बुढापेमे स्वभावत हो जाया करती है। इसपर यहा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि बुढापेमें

---

[1] ज निश्चिन्त्या०।

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत् प्रीतिरिति हि जनवादः ।
तं किमिति मृषा कुरुषे दोषासक्तो गुणेष्वरतः ॥ ९२ ॥

---

प्रयच्छन्नतिपरिचितेष्वित्याद्याह जनवादः लोकवाद । त जनवादम् । किमिति इति एव वक्ष्यमाणन्यायेन किं मृषा कुरुषे । दोषा हि रागद्वेषमोहादय अतिपरिचिता, सर्वत्र सर्वदा सर्वै प्राणिभि अनादिससारे अनुभूतत्वात् । गुणास्तु सम्यग्दर्शनादयः नवा, कदाचिदपि अननुभूतत्वात् । ततो दोषेषु आसक्तेन गुणेषु च अनुरागरहितेन भवता जनवादोऽसत्य कृत इति ॥ ९२ ॥ दोषासक्तेन च व्यसनिना हिताहितम-

---

प्राय घर व बाहिरके सब ही जन तिरस्कार करने लगते है, उन निन्दावाक्योको न सुननेकी ही इच्छासे मानो वृद्धके कान बहरे हो जाते है। इसी प्रकार उस अवस्थामे मुहसे लार बहने लगती है, कपडोमे मल-मूत्रादि हो जाता है, तथा निरन्तर खासी व कफ आदि बना रहता है, इस प्रकारकी घृणाजनक अवस्थाको न देख सकनेके ही कारण मानो वृद्धकी आखे अन्धी हो जाती है। वह बुढापा क्या है ? मरणकी निकटताकी सूचना ही है, उसीके भयसे मानो वृद्धका शरीर कापने लगता है। वह वृद्धावस्थाका शरीर आगसे जलते हुए महलके समान नष्ट हो जानेवाला है। फिर भी आश्चर्य है कि जब घरमे आग लग जाती है तब उसके भीतर स्थित प्राणी व्याकुल होकर बाहिर निकलनेका प्रयत्न करते है, परन्तु वह बेसुध हुआ वृद्ध उस नष्टप्राय शरीरसे मोहको नही छोडता ओर इसीलिये वह परभवको सुखमय बनानेके लिये कुछ प्रयत्न भी नही करता है ॥ ९१ ॥ अत्यन्त परिचित वस्तुमे अनादरबुद्धि और नवीनमे प्रेम होता है, यह जो किंवदन्ती (प्रसिद्धि) है उसे तू दोषोमे आसक्त तथा गुणोमे अनुराग रहित होकर क्यो असत्य करता है ? ॥ विशेषार्थ- लोकमे प्रसिद्ध है कि जो वस्तुएं अनेक बार परिचयमे (उपभोगमे) आ चुकी है उनमें अनुराग नही रहता है, इसके विपरित जो वस्तु पूर्वमे कभी परिचयमे नही आयी है उसके विषयमे प्राणीका विशेष अनुराग हुआ करता है। परन्तु पूर्वोक्त जीवकी दशा इसके सर्वथा विपरीत है- जो दोष (राग-द्वेषादि) जीवके साथ चिर कालसे सम्बद्ध हैं उनसे वह अनुराग करता है तथा जो सम्यग्दर्शनादि गुण उसे पूर्वमें कभी नही प्राप्त हुए हैं उनमे वह अनुराग नही करता है। इस प्रकारसे वह उपर्युक्त लोकोक्तिको भी असत्य करना चाहता है ॥ ९२ ॥ कमलको

**हंसैर्न भुक्तमतिकर्कशमम्भसापि नो संगतं दिनविकासि सरोजमित्थम्।**
**नालोकितं मधुकरेण मृतं वृथैव प्रायः कुतो व्यसनिनां स्वहिते विवेकः॥९३॥**

---

परिभावयता ससारे मरणादिदु खमनुभूतमिति सदृष्टान्त दर्शयन्नाह– हंसैरित्यादि। हसै पक्षिविशेषै पुरुषविशेषैश्च गणधरदेवादिभि । न भुक्त न भक्षित न सेवित वा। यत अतिकर्कशम् अकोमल ससारदु खदायि च। अम्भसा जलेन स्वच्छस्वभावेन च। नो सगत नैकता गतम्। दिनविकासि दिवसे असकुचितम्। सरोज पद्म शरीर च। सर इव शरीर शुक्रशोणितसमुदाय, तत्र जात इति कृत्वा। इत्थम् अनेन प्रकारेण। नालोकित मधुकरेण भ्रमरेण विटेन च॥९३॥ तदवलोकने च सम्यग्ज्ञान-

---

हस नही खाते है, वह जलमे उत्पन्न होकर भी उससे चूकि संगत नही होता है अतएव कठोर है, तथा वह दिनमे विकसित होकर रात्रिमें मुकुलित हो जाता है। यह सब विचार भ्रमर नही करता है। इसलिये वह उसकी गन्धमे आसक्त होता हुआ रात्रिमे उसके संकुचित हो जानेपर उसीके भीतर मरणको प्राप्त होता है। ठीक है– व्यसनी जनको अपने हिताहितका विचार नही रहता है॥ **विशेषार्थ–** यहा भ्रमरका उदाहरण देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार भ्रमर कमलके विषयमे यह नही सोचता है कि इसका भक्षण हस नही करते है, वह (कृतघ्न) जिस जलमे उत्पन्न हुआ है उसीसे अलिप्त रहता है, तथा वह रात्रिमे मुकुलित होकर प्राणोका घातक बनेगा, इसीलिए वह उसमे आसक्त रहकर वही मरणको प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकारसे विषयी जन भी यह विचार नही करते है कि इन विषयोका उपभोग हसोके समान महात्मा पुरुषोने नही किया है ये सर्वदा रहनेवाले नही है– देखते देखते नष्ट होनेवाले है। तथा आत्मस्वभावके प्रतिकूल होकर प्राणीको नरकादि दुर्गतियोंमे ले जानेवाले है, इसीलिए वे उनमे आसक्त होकर उसी भ्रमर के समान जन्म–मरणादिके अनेक दु.खोको सहते है। सो यह कुछ आश्चर्यजनक वात नही है, कारण कि व्यसनी जनोका ऐसा स्वभाव ही होता है– उन्हे कभी अपने हितका विवेक नही रहता है॥ ९३॥ प्रथम तो हिताहितका

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने ।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ते ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥ ९४ ॥
लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाताः
तस्मिन् विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे ।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या-
स्तेषां बुधाश्च बत किंकरतां प्रयान्ति ॥ ९५ ॥

---

भाव. कारणम्, ससारे परिभ्रमत प्राणिन तत्प्राप्तेरतिदुर्लभत्वादित्याह- प्रज्ञैवेत्यादि । प्रज्ञैव, न भोगोपभोगादिकम् । अन्यजन्मने परत्र निमित्तम् । प्रमाद्यन्ति अकृतादरा भवन्ति ॥ ९४ ॥ परिप्राप्तप्रज्ञानामपि उद्भूतवीर्याणां लक्ष्मीविलासाभिलाषेण राज्ञा सेवा कुर्वतामनुशय कुर्वन्नाह- लोकेत्यादि । क्षितिभुजो राजान. । भुवि । लोकाधिपा. लोकस्वामिन., लोकाधिका वा पाठ । येन धर्मलक्षणेन विद्धि (धि) ना । स्पृहणीयवीर्या श्लाघ्यसामर्थ्याः । तेषा क्षितिभुजाम् । बुधाश्च विबुधा अपि । किंकरता भृत्यताम् ॥ ९५ ॥ पादोपनतोत्तमाङ्गस्य कृष्णराजस्य घृतनिधानस्थान–

---

विचार करनेरूप बुद्धि ही दुर्लभ है, फिर वह परभवके हितका विवेक तो और भी दुर्लभ है। उस विवेकको प्राप्त करके भी जो जीव प्रमाद करते है वे बुद्धिमानोके लिये सोचनीय होते है ॥ **विशेषार्थ**– ससारमे एकेन्द्रिय आदिको लेकर चौइन्द्रियतक सब ही प्राणी मनसे रहित होते है, इसीलिये उन्हें विचारात्मक बोध ही नही प्राप्त होता है। पचन्द्रियोम भी सभी जीवोके मन नही होता– कुछके ही होता है। जिनके वह होता है उनको भी प्राय आत्महितका विवेक नही रहता। फिर जो आत्महितका विवेक होनेपर भी तदनुरूप आचरण करनेमें असावधान रहते है उनके ऊपर बुद्धिमानोको खेद होता है। कारण यह कि वे उपयुक्त सामग्रीको प्राप्त करके भी हितके मार्गमे प्रवृत्त नही होते और इस प्रकारसे उक्त सामग्रीके विनष्ट हो जानेपर फिर उसका पुन. प्राप्त होना कठिन ही है ॥ ९४ ॥ जिस विधि (पुण्य) से पृथिवीके ऊपर लोकके अधिपति राजा हुए है उस विधिके सर्व जनोमे प्रसिद्ध होनेपर भी यही खेदकी बात है कि जो विशिष्ट पराक्रमी और विद्वान् है वे भी उक्त राजा लोगोंकी दासताको प्राप्त होते है– सेवा करते है ॥ **विशेषार्थ**– यह सब ही जानते है कि राजा, महाराजा, चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर आदि जितने

**यस्मिन्नस्ति स भूभृतो धृतमहावंशाः प्रदेशः परः ।**
**प्रज्ञापारमिता धृतोन्नतिधनाः मूर्ध्ना ध्रियन्ते श्रियै ।**

---

प्रतिपादनव्याजेन धर्मलक्षणविधे स्वरूप मार्गं च दशयन्नाह– यस्मिन्नित्यादि । स. प्रदेश पर उत्कृष्ट अस्ति । यस्मिन् प्रदेशे । ध्रियन्ते तिष्ठन्ति । के ते । भूभृत: पर्वता । कथभूताः । धृतमहावशा धृता धारिता. पोषिता वा महान्तो वशा यै । पुनरपि कथभूता प्रज्ञापारमिता. प्रज्ञयैव पार पर्यन्तम् इत परिच्छिन्न येषाम् । पुनरपि किंविशिष्टा । धृतोन्नतिधना धृतम् उन्नतिरेव धन यै ते धृतोन्नतिधना । केन । मूर्ध्ना शिरसा । किमर्थम् । श्रियै शोभानिमित्तम् । भूयान् महान् । तस्य प्रदेशस्य मार्ग । कथभूत:। भुजङ्गदुर्गमतम भुजङ्गै सर्पैः अतिशयेन दुर्गम.। तथा निराश. आशाभ्यो दिग्भ्यो नि क्रान्त । यत एव तत व्यक्त सकललोकविदित यथा भवत्येवम् । वक्तुम् अयुक्त महताम् । हे आर्य ! तद्विषये व्युत्पन्नमते । सर्वार्थसाक्षात्कृत

---

भी महापुरुष होते है वे सव पूर्वोपार्जित पुण्यके प्रभावसे ही होते है। फिर खेदकी बात तो यही है कि अनेक पराक्रमी एव विद्वान् भी ऐसे हे जो कि उक्त पुण्यके ऊपर विश्वास न करके लक्ष्मीकी इच्छासे उन राजा आदिकी ही सेवा करते है। वे यदि पुण्यके ऊपर विश्वास रखकर उसका उपार्जन करते तो उन्हे राजा आदिकी सेवा न करनेपर भी वह लक्ष्मी स्वयमेव प्राप्त हो जाती। इसके विपरीत पुण्योपार्जनके विना कितनी भी वे राजा आदिकी सेवा क्यो न करे, किन्तु उन्हे वह यथेष्ट लक्ष्मी कभी भी प्राप्त नही हो सकती है ॥ ९५ ॥ जो पर्वत बडे बडे वासोको धारण करते है, जिनका अन्त बुद्धिसे ही जाना सकता है, तथा जो उचाईरूप धनको धारण करनेवाले है, ऐसे वे पर्वत जिस प्रदेश (निधानस्थान) मे शोभाके निमित्त स्थित हैं वह उत्कृष्ट प्रदेश है। उसका लबा मार्ग सर्पोसे अत्यन्त दुर्गम और दिशाओसे रहित अर्थात् दिग्भ्रमको उत्पन्न करनेवाला है। इसीलिये हे आर्य! उसके विषयमे महापुरुषोके लिए स्पष्ट बतलाना अयोग्य है। वह सर्वार्थ नामके द्वितीय मत्रीके द्वारा प्रत्यक्षमे देखा गया है। प्रकृत श्लोकका यह एक अर्थ उदाहरण स्वरूप है। दूसरा मुख्य अर्थ उसका इस प्रकार है– प्रदेश शब्दका अर्थ यहां धर्म है, क्योकि 'प्रदिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति

भूयांस्तस्य भुजङ्गदुर्गमतमो मार्गो निराशस्ततो
व्यक्तं वस्तुमयुक्तमार्यमहतां सर्वार्यसाक्षात्कृतः ॥ ९६ ॥

---

सर्वार्येण सर्वार्यैकनाम्ना द्वितीयमन्त्रिणा साक्षात्कृतो दृष्ट । अन्यत्र द्वितियपक्षे–प्रदिश्यते परस्मै प्रतिपाद्यते इति प्रदेशो धर्मः। पर उत्तम । स अस्ति यस्मिन् सति । भूभृतो राजानो मूर्ध्ना मस्तकेन ध्रियन्ते लोकै । किमर्थम्। श्रियै लक्ष्मीनिमित्तम्। कथमूता भूभृतः। धृतमहावशा. धृतेक्ष्वाक्वादिवशा । तथा प्रज्ञाया पारमिता प्रज्ञाया' पार पर्यन्तम् इता गता । धृतोन्नतिधना उन्नतिश्च धन च ते धृते यै'। तस्य धर्मलक्षणप्रदेशस्य। मार्ग उपाय.। भूयान् प्रचुर., दानव्रतादिभेदात्। निराश आशाया आकाक्षाया[1] निःक्रान्त । भुजङ्गमदुर्गमतम भुजङ्गाना कामुकाना दुर्गमतम अगोचर । यत एव ततो व्यक्त स्फुट वक्तुम् आयुक्तम् । आर्यमहताम् आर्याणा मध्ये महताम् अस्माकम्। सर्वार्यसाक्षात्कृत सर्वै आर्यै' गणधर देवादिभि साक्षात्कृतो अनुभूत । अथवा सर्वै भव्यै अर्यते गम्यते सेव्यते इति सर्वार्थ' (र्यः) सर्वज्ञ तेन साक्षीकृत., न पुन' कस्यचिदप्यसौ, प्रतीत्यगोचर इत्यर्थ ॥ ९६ ॥

---

प्रदेश:' अर्थात् दूसरोके लिये जिसका उपदेश किया जाता है वह प्रदेश (धर्म) है, ऐसी उसकी निरुक्ति है। जिस धर्मके होनेपर इक्ष्वाकु आदि उत्तम वशको धारण करनेवाले (कुलीन), बुद्धिके पारगामी (अतिशय विद्वान्) तथा गुणोसे उन्नत होकर धनके धारक ऐसे राजा लोग अन्य जनोके द्वारा लक्ष्मी प्राप्तिके निमित्त शिरसे धारण किये जाते है वह धर्म उत्कृष्ट है। उस धर्मका मार्ग (उपाय) दान–सयमादिके भेदसे अनेक प्रकारका है जो आशा (विषयवाछा) से रहित होता हुआ भुजंगो–कामी जनों–के लिये दुर्लभ है । इस कारण महापुरुषोके लिये उसका स्पष्टतया व्याख्यान करना अशक्य है। वह धर्म सर्वार्य अर्थात् सबोंसे पूजने योग्य सर्वज्ञके द्वारा प्रत्यक्षमे देखा गया है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार कृष्णराजाका कोष (खजाना) अनेक उन्नत विशाल पर्वतोसे घिरे हुए एव सर्पादि हिंस्र जन्तुओसे व्याप्त दुर्गम स्थानमें निक्षिप्त था और उसके सबधमे सर्वार्य नामक राजाके द्वितीय मत्रीको छोडकर अन्य कोई कुछ भी नही जानता था तथा दूसरोके लिये चोरी आदिके उसके सबधमें कुछ बतलाया भी नही जा सकता था।

---

१ स आशाया आकाक्षाया।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन्
व्यरंसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इदं[1] दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं च यतते
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥ १७ ॥

---

शरीरादिभ्यो वैराग्यमुत्पाद्य जैनस्य धर्मं तन्मार्गं च प्रदर्शयतो मुने न किंचित्फलाभिलाषित्वमस्ति, परोपकारार्थमेव तत्प्रवृत्ते, 'परोपकाराय सता हि चेष्टितम्' इति वचनात् । एतदेव दर्शयन्नाह– शरीरेत्यादि । अस्मिन् औदारिके शरीरे । सर्वाशुचिनि सर्वम् अशुचि अपवित्रं यस्मिन् । बहुदुःखे बहूनि शारीर मानसादीनि दुःखानि यस्मिन् । इत्यभूतेऽपि काये वसन् जन । व्यरंसीन्नो वैराग्य गतवान् नैव । नैवेत्यादि काक्वा व्याख्यानम्– इद शरीर दृष्ट्वा जनः प्रीतिम अधिका नैव प्रथयति किम् । अपि तु प्रथयत्येव । इमाम् इति पाठे काक्वा व्याख्यान् न कर्तव्यम् । दृष्ट्वा मुनिम् । जन प्रीति प्रमोदम् । अधिका विशिष्टाम् । प्रथयति करोति । नैव नापि । एन च जनम् । पुन यति अस्मात् शरीरात् । विरमयितु यतते प्रयत्न करोति । कै कृत्वा । याताख्यानै ज्ञातसारोपदेशैः ॥ १७ ॥ कस्मात्

---

धर्मका स्वरूप भी साधारण जनोके लिये दुर्गम है । उसको प्रत्यक्ष रूपसे तो सर्वज्ञ ही जानता है तथा उस सर्वज्ञ द्वारा किये गये व्याख्यानसे अन्य गणधर आदि भी यथा योग्य जानते है । साधारण मनुष्य अन्य जनोंके लिये उसका स्पष्टतया व्याख्यान नही कर सकते हैं किन्तु विशिष्ट बुद्धिको धारण करनेवाले ही उसका स्पष्ट प्रतिपादन कर सकते हैं। वे जिन–महाराजा आदिकी अन्य मनुष्य सेवा किया करते है इसी धर्मके प्रभावसे होते है । अतएव जो ऐहिक एवं पारलौकिक सुखकी अभिलाषा करते है उन्हे व्रत, सयम, जप–तप एवं दानादिके भेदसे अनेक प्रकारके उस धर्मका आचरण करना चाहिये ॥ १६ ॥ जो शरीर सब प्रकारसे अपवित्र और बहुत दु.खोको उत्पन्न करनेवाला है ऐसे इस शरीरमे रहनेवाला प्राणी उससे विरक्त नही होता है, बल्कि वह उक्त शरीरको देख करके भी उससे अधिक प्रीति नही करता हो सो बात नही, किन्तु अधिक ही प्रीति करता है । उसको हितैषी मुनि श्रेष्ठ उपदेशोंके द्वारा इस अपवित्र शरीरसे विरक्त करनेके लिये प्रयत्न करते

---

१ मु (जै ) इमा (नि.) इम ।

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥ ९८ ॥

अन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषार्त्तः प्रतीच्छन्
कर्मायत्तः सुचिरमुदरावस्करे वृद्धगृद्धया ।
निष्पन्दात्मा कृमिसहचरो जन्मनि क्लेशभीतो
मन्ये जन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्बिभेषि ॥ ९९ ॥

---

न निवर्तते जन । त जन याताख्याने मुनि शरीरात् निवर्तयति इत्याह– इत्थ तत्थेत्यादि । इत्थम् अनेन बहुदुःखत्वप्रकारेण । तथा तेन सर्वाशुचित्वप्रकारेण । उदीरितेन उक्तेन । जन्मनि भुक्तमुक्त ससारे तद्रूपतया अनुभूत व्य (त्य) क्तम् । सकलय्य पिण्डितार्थं कृत्वा । जनानाम् । जायते उत्पद्यते प्राणी यस्मिंस्तज्जनन शरीरम् ॥ ९८ ॥ तच्च आददानो गर्भावस्थाया कीदृश किं कुर्वन्नाददासीदित्याह– अन्तर्वान्तमित्यादि । मात्रा यत् अन्तर्वान्त छर्दितम् । क्व । वदनविवरे । तत् । उदरावस्करे उदरमेव अवस्करो वर्चोगृह तत्र स्थित । वृद्धगृद्धया बृहदाकाङ्क्षया । कर्मायत्त सुचिर प्रतीच्छन् । कथमूत सन् । क्षुत्तृषार्त्त बुभुक्षापिपासाभ्या पीडित. । निष्पन्दात्मा सकुचितावयव । कृमिसहचर उदरगण्डूपदादिकृमिसहभावी । जन्मनि उत्पत्तौ । क्लेशभीत समुत्पन्नदुःखात् त्रस्त. । मन्ये हे जन्मिन् अहम् एव मन्ये । मरणादपि च तन्निमित्तात् जन्मनिमित्ताद्बिभेषि त्वम् ॥९९॥ सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वभवेषु

---

है । ऐसे महापुरुषोका दूसरोको हितविषयक अनुराग देखने योग्य है– प्रशंसनीय है ॥ विशेषार्थ– यह शरीर अतिशय अपवित्र एव तीव्र दुःखोका कारण है । फिर भी अज्ञानी प्राणी उससे अनुराग करना नही छोडता है । इतना ही नही, बल्कि वह उत्तरोत्तर उसमे अधिक ही आसक्त होता है । यह देखकर दयालु साधु उसे अनेक प्रकारसे समझा करके उससे वितरिक्त करनेका निरन्तर प्रयत्न करते है । दूसरे प्राणियोके कल्याणमे निरत रहना यह महात्माओ स्वभाव ही हुआ करता है ऐसे साधु पुरुषोंका समागम दुर्लभ है । ससारमे ऐसे निकृष्ट जन ही अधिक देखे जाते हैं जो दूसरोके साथ मधुर भाषण करके उन्हे धोखा देनेमें उद्यत रहते है ॥९७॥ हे भव्यजीव ! यह शरीर ऐसा है और वैसा है,

**अजाकृपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमुग्धेन भवादितः पुरा ।**
**यदत्र किंचित्सुखरूपमाप्यते तदार्य विद्धयन्धकवर्तकीयम् ॥ १०० ॥**

---

भवतात्मवधाय सर्वमनुष्ठितमित्याह– अजाकृपाणीयमित्याह (दि) । अजा च कृपाणश्च तयोरिव कार्यम् अजाकृपाणीयम् यथा अजा केनचिद्धन्तु नीता, शस्त्रेण च विना सा हन्तु न शक्यते । तत्र प्रस्तावे अजया पादेन भूमि खनन्त्या आत्मवधाय खड्ग उत्खात । तद्वत्त्वया विकल्पविमुग्धेन हेयोपादेयसकल्पशून्येन आत्मवधाय कार्यमनुष्ठितम् । भवादित पुरा–इतः सम्यग्दर्शनादिलाभयुक्तात् भवात् पूर्वम् । अत्र ससारे । सुखरूप सुखस्वभावम् । अन्धकवर्तकीय अन्धकश्च वर्तका च तयोरिव कार्य अन्धकवर्तकीयम्–यथा अन्धकेन हस्त प्रक्षिपता दैवाद्वर्तकी प्राप्यते तथा ससारे चेष्टमानेन जीवेन सुखरूप स्थित सुखसपादक वस्तु ॥ १०० ॥ सुखाभिलाषिणा च

---

इस प्रकार बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? तूने स्वय ही इस ससारमे उसे अनेक बार भोगा है और छोडा है। सक्षेपमे संग्रहरूपसे तुझे यही उपदेश दिया है कि यह प्राणियोका शरीर सब दु खोका घर है ॥ ९८ ॥ यह प्राणी गर्भावस्थामे कर्मके अधीन होकर चिरकालतक माताके पेटरूप विष्ठागृह ( संडास ) में स्थित रहता है और वहा भूख–प्याससे पीडित होकर बढी हुई तृष्णासे माताके द्वारा खाये हुए भोजन (उच्छिष्ट) की मुह खोलकर प्रतीक्षा किया करता है । वहा वह स्थानके सकुचित होनेसे हाथ–पैर आदि शरीरके अवयवोको हिला–डुला नही सकता है तथा उदरस्थ कीडोके साथ रहकर जन्मके कष्टसे भयभीत होता है । हे जन्म लेनेवाले प्राणी ! तू जो मरणसे डरता है सो मैं ऐसा समझता हू कि वह मरण चूकि अगले जन्मका कारण है, इसीलिये मानो उस मरणसे डरता है, क्योकि जन्मका कष्ट तुझे अनुभवमे आ ही चुका है ॥ ९९ ॥ हे आर्य ! तूने इस (सम्यग्दर्शनयुक्त) भवसे पहिले ससारमे हेय और उपादेयके विचारमे मूढ होकर अजाकृपाणीयके समान कार्य किया है। यहा जो कुछ सुखरूप सामग्री प्राप्त होती है वह अन्धक–वर्तकीय न्यायसे ही प्राप्त होती है ॥ **विशेषार्थ**– प्राणीको जब तक सम्यग्दर्शनका लाभ नही होता है तब तक उसे अनेक दु.ख सहने पडते है। कारण यह है कि सम्यग्दर्शनके विना उसे यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है। इस प्रकारका

**हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव**
**चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोऽपि ।**
**पश्याद्भुतं तदपि धीरतया सहन्ते**
**दग्धुं तपोऽग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥ १०१ ॥**

---

काम एतत्करोतीत्याह– हा कष्टमित्यादि । हा धिक् विषादे वा । कष्ट निन्द्यम् । अकाण्डे अप्रस्तावे । चण्ड काम विखण्डयति विशेषेण खण्डितव्रतवान् (व्रतान्) करोति । पण्डितमानिनोऽपि पण्डितम् आत्मान मन्यमानान् अपि । कामि कृत्वा । इष्टवनिताभि. वल्लभस्त्रीभि । अमु काम न समुत्सहन्ते न समुत्साहं कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥ काम दग्धु स मुत्साहमानाश्च केचित् किंचित्कृतवन्त

---

विवेक नही हो पाता है । इसीलिये वह ऐसे भी अनेको कार्योका स्वयं करता है कि जिनसे मारनेके लिये ले जायी गई बकरीके समान वह अपने आप ही विपत्तीमें पडता है । जैसे कोई एक व्यक्ति मारनेके लिये बकरीको ले गया, किन्तु उसके मारनेके लिये उसके पास कृपाण (तलवार या छुरी) नही था । इस बीच उस बकरीने पैरसे जमीनको खोदना प्रारभ किया और इसके घातकको वहा भूमिमें खड्ग प्राप्त हो गया जिससे कि उसने उसका वध कर डाला । इसीको 'अजा-कृपाणीय' न्याय कहा जाता है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके विना यह प्राणी भी अपने लिये ही कष्टकारक उपायोको करता रहता है । उसे जो अल्प समयके लिये कुछ अभीष्ट सामग्री भी प्राप्त होती है वह ऐसे प्राप्त होती है जैसे कि अन्धा मनुष्य कभी हाथोको फैलाये और उनके बीचमे बटेर पक्षी फस जाय । ऐसा कदाचित् ही होता है अथवा प्राय· वह असम्भव ही है । यही अवस्था ससारी प्राणियोके सुखकी प्राप्तिकी भी है ॥ १०० ॥ बडे खेदकी बात है कि जो अपनेको पण्डित समझते है उनको भी यह अतिशय क्रोध कामदेव (विषयवाछा) असमयमे ही इष्ट स्त्रियोके द्वारा खण्डित करता है । फिर भी देखो यह आश्चर्यकी बात है कि वे उसे (कामकृत खण्डनको) भी धीरतापूर्वक सहन करते है, किन्तु तपरूप अग्निके द्वारा उस कामको जलानेके लिये उत्साहको नही करते है ॥ **विशेषार्थ**– अभिप्राय यह है कि कामी जन विषयान्ध होकर ·इच्छापूर्तिके लिये स्त्री आदिकी खोज करते हैं और उन्हे प्राप्त करके वे

**अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्**
**पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् ।**
**प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्**
**एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥ १०२ ॥**

---

इत्याह– अर्थिभ्य इत्यादि । पापा पापबहुलाम् । ता श्रियम् । अवितर्पिणीम् अतृप्तिकरीम् । विगणयन् मन्यमान । अपरा (परो) विवेकी । नादात् न दत्तवान् न दत्तवान् अर्थिभ्य. । एकमेव त्यक्तवान् । प्रागेव प्रथमत एव । न पर्यग्रहीत् न पर्यग्रहीतवान् । सुभग. सुविवेकी । एते प्रदर्शितस्वरूपास्ते कामदहनोद्यता' । विदितेत्यादि– विदित उत्तरोत्तरो वरो येषा ते । सर्वोत्तमा सर्वेभ्य त्यागिभ्य. उत्कृष्टास्त्यागिन ॥ १०२ ॥ न च विशिष्टा सपद प्राप्य परित्यजता सता

---

उनमें इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर उनको अपने हिताहितका विवेक ही नही रहता। इस प्रकारसे वे दोनो ही लोकोंको नष्ट करते है। यहा इस बातपर खेद प्रगट किया गया है कि विद्वान् मनुष्य भी उस विषयतृष्णाके वशीभूत होकर उसकी पूर्तिके लिये तो असह्य दु:खको सहते है, किन्तु तप–सयमादिके द्वारा उस विषयतृष्णाको ही नष्ट करनेका अल्प दु:ख नही सहते जो कि वस्तुत परिणाममें सुखकारक ही है। लोकमे देखा जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यका शिरच्छेद करनेके लिये शस्त्रका प्रयोग करता है तो इसके प्रतिकारस्वरूप दूसरा भी उसका शिरच्छेद करनेके लिये उद्यत होता है। परन्तु कामीजनकी दशा इससे विपरीत है, क्योकि काम तो उनका खण्डन करता है– उनके सुखको नष्ट करता है, परन्तु उसका खण्डन करनेके लिये वे स्वय उद्यत नही होते। इतना ही नही, किन्तु उस घातकको भी वे अपना मित्र मानकर अनुराग ही करते है ॥ १०१ ॥ कोई विद्वान् मनुष्य विषयोको तृणके समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी (धन–सम्पत्ति) को याचकोके लिये दे देता है, दूसरा कोई विवेकी जीव उक्त लक्ष्मीको पापका कारण और असन्तोषजनक जानकर किसी दूसरेके लिये नही देता है किन्तु उसे यो ही छोड देता है। तीसरा कोई महाविवेकी जीव उसको पहिले ही अहितकारक मानकर ग्रहण नही करता । इस प्रकार वे ये त्यागी उत्तरोत्तर त्यागकी उत्कृष्टताके जानेवाले हैं– उत्तरोतर

**विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम् ।**
**मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम् ॥ १०३ ॥**

---

किंचिदाश्चर्यमस्तीति दर्शयन्नाह- विरज्येत्यादि । विरज्य वैराग्य गत्वा । मा वमीत् मा छर्दि करोत् । जुगुप्सावान् विचिकित्सावान् ॥ १०३ ॥ श्रिय त्यजन् कश्चित्

---

उत्कृष्टताको प्राप्त हैं ॥ **विशेषार्थ**— विषयतृष्णाका कारण धन-सम्पत्ति है। कारण यह कि उसके होनेपर वह विषयभोगाकांक्षा और भी अधिक बढती है। इसीलिये विवेकी जन विषयतृष्णाकी मूलभूत उस सम्पत्तिका ही परित्याग करते है। प्रकृत श्लोकमे उसका परित्याग करनेवाले तीन प्रकारके बतलाये गये हैं— (१) पहिले प्रकारके त्यागी वे है कि जिन्होने उस लक्ष्मीको तुच्छ समझते हुए दूसरो (पुत्रादि) को दे करके छोडा है। इन्होने यद्यपि आत्महितका तो ध्यान रक्खा हैं, किन्तु जिनके लिये वह दी गई है उनके हितका उन्होने अनुरागवश ध्यान नही रक्खा। (२) दूसरे प्रकारके त्यागी वे है कि जिन्होंने उसे पापजनक और तृष्णाको बढानेवाली जानकर स्वय छोड दिया है तथा दूसरोंको भी नही दिया है। ऐसे त्यागी अपने समान दूसरोके भी हितका ध्यान रखनेके कारण पूर्वोक्त त्यागियोकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते है। (३) तीसरे प्रकारके त्यागी वे है कि जिन्होने अकल्याणकारी समझकर उसे प्रारम्भमे ही नही ग्रहण किया। ऐसे त्यागी सर्वोत्कृष्ट त्यागी माने जाते है। इसका कारण यह है कि पूर्वोक्त दोनो प्रकारके त्यागियोने तो भोगनेके पश्चात् उसे छोडा है, किन्तु इन्हे उसके स्वरूपको जानकर ही इतनी विरक्ति हुई कि जिससे उन्होने उसे स्वीकार ही नही किया ॥ १०२ ॥ यदि सज्जन पुरुष विरक्त हो करके उन सपत्तियोंको छोड देते है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? कुछ भी नही। ठीक ही है— जिस पुरुषको घृणा उत्पन्न हुई है वह क्या भले प्रकार खाये गये भोजनका भी वमन (उलटी) नही करता है? अर्थात् करता ही है ॥ **विशेषार्थ**— किसी व्यक्तिने भोजन तो बडे आनन्दके साथ किया है, किन्तु यदि पीछे उसे उसमें विषादिकी आशंकासे घृणा उत्पन्न हो गई है तो इससे या तो उसे स्वयं वमन हो जाता है, अन्यथा वह प्रयत्नपूर्वक वमन करके उस भुक्त भोजनको निकाल देता है। इसमे वह कष्टका अनुभव न करके विशेष अनन्द ही मानता है। ठीक इसी

**श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम् ।**
**करोति तत्त्वविच्चित्रं न शोकं न च विस्मयम् ॥ १०४ ॥**

---

किं करोतीत्याह– श्रियमित्यादि । जड. शोकम्–महता कष्टेन मयोपार्जितेयम् एवमेव कथ त्यक्तेति श्रिय त्यजन् जड. शोक करोति । स ताम्–स जडः प्रसिद्धो वा । सात्त्विक अक्लीव । ता श्रिय त्यजन् । विस्मय विशिष्ट स्मयो गर्वः विस्मय त करोति– अहमेवेत्थभुता लक्ष्मी त्यक्तु समर्थो नान्य· इति । तत्त्ववित् हेयापादेयवस्तुस्वरूपपरिज्ञानी ॥ १०४ ॥ यथा च श्रीस्त्यजते विवेकिभिस्तथा

---

प्रकारसे जिन विवेकी जनोंको परिणाममे अहितकारक जानकर उस सम्पत्तिसे घृणा उत्पन्न हो गई है उन्हे उसका परित्याग करनेमे किसी प्रकारका क्लेश नही होता, प्रत्युत उन्हे इससे अपूर्व आनन्दका ही अनुभव होता है । उसके परित्यागमे कष्ट उन्हीको होता है जो उसे हितकारी मानकर उसमे अतिशय अनुरक्त रहते हैं ॥ १०३ ॥ मूर्ख पुरुष लक्ष्मीको छोडता हुआ शोक करता है, तथा पुरुषार्थी मनुष्य उस लक्ष्मीको छोडता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्त्वका जानकार उसके परित्यागमें न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है ॥ विशेषार्थ– जो मूर्ख जन पुरुषार्थसे रहित होते हैं उनकी सम्पत्ति यदि दुर्भाग्यसे नष्ट हो जाती है तो वे इससे बहुत दुःखी होते हैं। वे पश्चात्ताप करते है कि बडे परिश्रमसे यह धन कमाया था, वह कैसे नष्ट हो गया, हाय अब उसके बिना कैसे जीवन बीतेगा आदि। इसके विपरित जो पुरुषार्थी मनुष्य होते है वे जैसे धनको कमाते हैं वैसे ही उसका दानादिमें सदुपयोग भी करते हैं। इस प्रकारके त्यागमें उन्हे एक प्रकारका स्वाभिमान ही होता है। वे विचार किया करते है कि जब मैंने इसे कमाया है तो उसे सत्कार्यमे खर्च भी करना ही चाहिये। इससे वह कुछ कम होनेवाला नही है। मैं अपने पुरुषार्थसे फिर भी उसे कमा सकता हू आदि। यदि कदाचित् वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है तो भी अपने पुरुषार्थके बलपर उन्हे इसमें किसी प्रकारका खेद नही होता है। परन्तु इन दोनोके विपरीत जो तत्त्वज्ञानी है वे विचार करते है कि ये सब धन–सम्पत्ति आदि पर पदार्थ है, ये न मेरे और न मैं इनका स्वामी हू। कर्मके उदयसे उनका संयोग और वियोग हुआ ही करता है। ऐसा विचार करते हुए उन्हे सम्पत्तिके परित्यागमें न तो शोक होता है और न अभिमान भी ॥१०४॥ गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त यह जो

विमृश्योच्चैर्गर्भात् प्रभृति मृतिपर्यन्तमखिलं
मुधाप्येतत्क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम्[1]।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥ १०५ ॥
कुबोधरागादिविचेष्टितैः फलं
त्वयापि भूयो जननादिलक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोमवृत्तिभिः
ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥ १०६ ॥

---

शरीरमपीति दर्शयन्नाह- विमृश्येत्यादि। विमृश्य उच्चैः पर्यालोच्य महाप्रयत्नेन गर्भात्प्रभृतिमृतिपर्यन्तम् अखिलम् एतत् आचरण शरीरादिस्वरूप वा। कथंभूतमित्याह मुधेत्यादि। मुधा एवमेव क्लेशाशुचिभयनिकाराद्यबहुलम् अपि। निकारो वञ्चना परामर्शो वा। स कः। स जडधी। नाल न समर्थ। खलेत्यादि। खलजनाना समायोगो मेलापक तेन सदृशम् अनेकानर्थकारित्वेन ॥ १०५ ॥ यथा च श्री. शरीर च त्याज्य तथा रागादयोऽपीत्याह-कुबोधेत्यादि। कुत्सितबोधरागादिभि' जनितै विविधचेष्टितै। त्वयापि त्वया प्राप्तम्। प्रतीहि पूर्वमुत्तरम् उभयमपि जानीहि। प्रतिलोमवृत्तिभि कुबोधादिभ्य प्रतिकूलप्रवर्तिभि सम्यग्ज्ञान-वैराग्यदिभि। ध्रुव निश्चयेन नित्य वा। तद्विलक्षण जननादिविलक्षणम् ॥ १०६ ॥

---

समस्त शरीरसम्बन्धित आचरण है वह व्यर्थमे प्रचुर क्लेश, अपवित्रता, भय और तिरस्कार आदिसे परिपूर्ण है, ऐसा जानकर विद्वानोको उसका परित्याग करना चाहिये। उसके त्यागसे यदि मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर वह कौन-सा मूर्ख है जो दुष्ट जनकी सगतिके समान उसे छोडनेके लिये समर्थ न हो? अर्थात् विवेकी प्राणी उसे छोडते ही है ॥ १०५ ॥ हे भव्य! तूने वार वार मिथ्याज्ञान एव राग-द्वेषादि जनित प्रवृत्तियोसे जो जन्म-मरणादिरूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों-सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्यजनित आचरणो-के द्वारा तू निश्चयसे उसके विपरीत फल-अजर-अमर पद-को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर ॥ १०६ ॥ हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भावसे दया, इन्द्रियदमन,

---

१ मु (जै नि) निकाराद्य।

**दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।**
**नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥**

---

इत्थभूत च फलमभिलषस्तस्मिन् मार्गे गच्छेत्याह– दयेत्यादि । दयादमत्यागसमाधीना सतति प्रवाह तस्य । सबन्धिनि पथि मार्गे । प्रयाहि गच्छ । प्रगुण मायादिवर्जित यथा भवति । विकल्पदूर विकल्पाविषयम् । वचसाम् अगोचरम् । यत् परमम् उत्कृष्टम् । किमपि मोक्षपदम् । असौ पन्था ॥ १०७ ॥ विवेकपूर्वकपरिग्रहत्यागरूप

---

दान और ध्यानकी परम्पराके मार्गमे प्रवृत्त हो जा । वह मार्ग निश्चयसे किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचनसे अनिर्वचनीय एव समस्त विकल्पोसे रहित है ॥ विशेषार्थ– दीन–दुखी प्राणियोको देखकर उनके साथ जो हृदयमे सहानुभूतिका भाव उदित होता है वह दया कहलाती है। यह धर्मकी जड है, क्योकि, उसके विना धर्म स्थिर रह नही सकता । कहा भी है– धर्मो नाम कृपामूल सा तु जीवानुकम्पनम् । अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥ अर्थात् धर्मकी आधारभूत दया है और उसका लक्षण है प्राणियोके साथ सहानुभूति । इसलिये जो अरक्षित प्राणियोकी रक्षा करता है वही धार्मिक माना जाता है ॥ क्ष. चू ५–३५. दूसरे शब्दसे इस दयाको अहिंसा कहा जा सकता है और उस अहिंसामे चूकि सत्यादिका भी अन्तर्भाव होता है अतएव वह दया पचव्रतात्मक ठहरती है । दमका अर्थ है राग–द्वेपके दमनपूर्वक इन्द्रियोंका दमन करना– उन्हे अपने नियन्त्रणमे रखना अथवा स्वेच्छाचारमे प्रवृत्त न होने देना । इसे दूसरे शब्दसे सयम भी कहा जा सकता है जो इन्द्रियसयम और प्राणिसयमके भेदसे दो प्रकारका है । त्यागसे अभिप्राय बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहके त्याग एव दानका है । समाधिसे तात्पर्य धर्म और शुक्लरूप समीचीन ध्यानसे है । इस प्रकार जो विवेकी जीव मन, वचन और कायकी सरलतापूर्वक उपर्युक्त दया आदि चारोकी परम्पराका अनुसरण करता है वह निश्चयसे अविनश्वर पदको प्राप्त करता है ॥ १०७ ॥ विवेकज्ञानके द्वारा मोहके नष्ट हो

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव ।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामर कुरुते ॥ १०८ ॥
अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमाशितम् ।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे ॥ १०९ ॥

---

यथा जीवस्य मोक्षपदप्रापक इतिसमर्थय-मान प्राह-विज्ञानेत्यादि ( विज्ञानं ) विशिष्ट ज्ञान तेन निहि (ह) त स्फेटितो मोह यत्र कर्मणि । कुटीप्रवेश: परपुरप्रवेशो रसायनक्रिया वा । अजरामर जरा च मरण च जरामरणे ताभ्या रहित मुक्तात्मानम् ॥ १०८ ॥ विवेकपूर्वक परित्याग कुर्वता मध्ये सर्वोत्तम परित्याग कुर्वन्त प्रशसयन्नाह- अभुक्त्वेत्यादि । स्वोच्छिष्ट स्वस्य उच्छिष्टं स्वय परित्यक्त .पृथिव्यादि । विश्व जगत् । आशित भोजितम् । कौमारब्रह्मचारिणे बालब्रह्मचारिणे । कुमारीभि प्रथम परिवृत., न च परिणयनं कृत कौमार । कुमारात्प्रायम्ये अण् ॥ १०९ ॥ इत्थमूतपरित्यागकारिण:

जानेपर किया गया परिग्रहोका त्याग निश्चयसे जीवको जरा और मरणसे रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि कुटीप्रवेश क्रिया शरीरको विशुद्ध कर देती है ॥ १०८ ॥ आश्चर्य है कि जिसने स्वय न भोगते हुए त्याग करके अपने उच्छिष्टरूप विश्वका उपभोग कराया है उस बालब्रह्मचारीके लिये नमस्कार हो ॥ विशेषार्थ- जिसने राज्यलक्ष्मी आदिके भोगनेका अवसर प्राप्त होनेपर भी उसे नही भोगा और तुच्छ समझकर यो ही छोड दिया है वह सर्वोत्कृष्ट त्यागी माना गया है जैसे किसीको पहिले कुमारियोंने वरणकर लिया है, परतु पश्चात् उसने उनके साथ विवाह न करके ब्रह्मचर्यको ही स्वीकार किया हो वह बालब्रह्मचारी उत्कृष्ट ब्रह्मचारी गिना गया है। यहा ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट त्यागीको नमस्कार किया गया है कि जिसने लक्ष्मीके उपभोगका अवसर प्राप्त होनेपर भी उसे नही भोगा, किंतु जो बालब्रह्मचारीके समान उससे अलिप्त रहा है। यहां इस बातपर आश्चर्य भी प्रगट किया गया हैं कि लोकमें कोई भी उच्छिष्ट ( उलटी या वांति ) का उपभोग नही करता, परतु ऐसे महापुरुषोने अपने उच्छिष्टका-विना भोगे ही छोडी गई राज्यलक्ष्मी आदिका-भी दूसरोको उपभोग कराया । तात्पर्य यह कि जो महापुरुष

अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ११० ॥
दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥ १११ ॥

---

परमोदासीनतालक्षण चारित्रं प्रतिपादयन्नाह-अकिंचनेत्यादि मम न किंचन अस्ति इति अकिंचनोऽहमित्येव आस्स्व तिष्ठ । रहस्यम् अन्तस्तत्व यत्र कुत्रचित् अप्रकाश्य गूढकारणम् ॥११०॥अथेदानीतप आराधनास्वरूपोपक्रमाय दुर्लभेत्याद्याह-दुर्लभेत्यादि । अशुद्धम् अशुचि । अपसुखम् अपगतसुखम् । अल्प पूर्वकोट्यादिपरिमाणम् । इह एव मानुष्ये एव ॥ १११ ॥ तत्र तपसो द्वादशप्रकारस्य मध्ये मुक्तिप्रत्यासन्नसाधनस्य

---

राज्यलक्ष्मी आदिका अनुभव न करके पहिले ही उसे छोड देते हैं वे अतिशय प्रशसनीय हैं । तथा इसके विपरीत जो अविवेकी जन उनके द्वारा तृणवत् छोडी गई उक्त राज्यलक्ष्मीको भोगनेके लिये उत्सुक रहते है वे अतिशय निंदनीय है ॥ १०९ ॥ हे भव्य ! तू 'मेरा कुछ भी नही है' ऐसी भावनाके साथ स्थित हो। ऐसा होनेपर तू तीन लोकका स्वामी (मुक्त) हो जायगा । यह तुझे परमात्माका रहस्य (स्वरूप) बतला दिया है जो केवल योगियोके द्वारा प्राप्त करनेके योग्य या उनके ही अनुभवका विषय है ॥ **विशेषार्थ**– अभिप्राय यह है कि पर पदार्थोंको अपना समझकर जबतक जीवका उनमें ममत्व भाव रहता है तबतक वह राग-द्वेषसे परिणत होकर कर्मोको बाधता हुआ ससारमे परिभ्रमण करता है । और जैसे ही उसका पर पदार्थोसे वह ममत्व भाव हटता है वैसे ही वह निर्ममत्व होकर आत्मस्वरूपका चिंतन करता हुआ स्वय भी परमात्मा बन जाता है ॥ ११० ॥ यह मनुष्य पर्याय दुर्लभ, अशुद्ध और सुखसे रहित (दुखमय) है। मनुष्य अवस्थामे मरणका समय नही जाना जा सकता है । तथा मनुष्यकी पूर्वकोटि प्रमाण उत्कृष्ट आयु भी देवायु आदिकी अपेक्षा स्तोक है । परन्तु तप इस मनुष्य पर्यायमे ही किया जा सकता है और मुक्ति उस तपसे ही प्राप्त की जाती है । इसलिये तपका आचरण करना चाहिये ॥ **विशेषार्थ**– मुक्तिकी प्राप्ति तपके द्वारा होती है और वह तप एक मात्र मनुष्य पर्यायमें ही सम्भव है– अन्य किसी देवादि पर्यायमे वह सम्भव नहीं है । अतएव उस मनुष्य पर्यायको पा

**आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता**
**क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ।**
**साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं**
**सम्यक्चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ॥११२॥**

---

समाधिरूपस्य तपसो विषयफलादिकं प्रदर्शयन्नाह– आराध्य इत्यादि । आराध्य समाधिविषय. । भगवान् परमज्ञानसंपन्नः इन्द्रादीनां पूज्यो वा परमात्मा । वृत्ति भगवदाराधने प्रवृत्ति. अभिमुखता । सतां सत्पुरुषाणां समता अभिप्रेता उत्तमपुरुष विषयत्वात् । प्रप्रक्षय. प्रक्षय पादपूरणे प्रसिद्धत्वम्, 'प्रोपात्समा पादपूरण' इति वचनात् । साध्य फलम् । दिव्यवर्षसहस्रकोटिपरिमितकालसाध्यत्वात् समाधे दु शक्यतेत्याशङ्कयाह कियान् परिमित काल. । समाधेरन्तर्मुहूर्तादि । कियान् कतिपय परिमित. स्तोक एव काल । कस्तत्रोपाय इत्याह– मन साधनम् । विधुर कष्ट विफल वा । किं वा न किमपि ॥ ११२ ॥ नि श्रेयसार्थिना तपसो

---

ध्यानमे तीनों लोकोंका स्वामी परमात्मा आराधना करनेके योग्य है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति सज्जनोंको अभीष्ट है । उसमे यदि कुछ कष्ट है तो केवल भगवान्के चरणोका स्मरण ही है । उससे जो हानि भी होती है वह अनिष्ट कर्मोकी ही हानी (नाश) होती है । उसके सिद्ध करनेके योग्य मोक्षसुख है । उसमें काल भी कितना लगता है ? अर्थात् कुछ विशेष काल नही लगता– अन्तर्मुहूर्त मात्र ही लगता है । उसका साधन (कारण) मन है । अतएव हे विद्वानो ! चित्तमें उस परमात्माका भले प्रकार विचार कीजिये, क्योकि, उसके ध्यानमें कष्ट ही क्या है? कुछ भी नही है ॥ विशेषार्थ– यहां यह बतलाया गया है कि जो भव्य जीव मोक्षसुखके अभिलाषी है उन्हें सर्वज्ञ वीतराग परमात्माका ध्यान करना चाहिये । उसका ध्यान करनेसे ध्याता स्वयं भी परमात्मा बन जाता है। जैसे कि आचार्य कुमुदचन्द्रने भी कहा है– "ध्यानाज्जिनेश भवतो भविन. क्षणेन देह विहाय परमात्मदशा व्रजन्ति । तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥" अर्थात् हे जिनेद्र ! आपके ध्यानसे भव्यजीव क्षणभरमे ही इस शरीरको छोडकर परमात्मा अवस्थाको इस प्रकारसे प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार कि धातुभेद (सुवर्णपाषाण) तीव्र अग्नीके सयोगसे पत्थरके स्वरूपको छोडकर शीघ्र

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्ष्यते
किमपि किमयं कामव्याधः खलीकुरुते खलः ।
चरणमपि किं स्प्रष्टुं शक्ताः पराभवपांसवः
वदत तपसोऽप्यन्यन्मान्यं समीहितसाधनम् ॥ ११३ ॥

---

नान्यद्वाञ्छितफलप्रदमित्याह– द्रविणेत्यादि । प्राध्मातानां मोटितानाम् । इह अस्मिन्तपसि सति लोके वा । खलीकुरुते अखलम् अदुष्टाचरणं खल दुष्टाचरण कुरुते खलीकुरुते । पराभवपांसव पराभवो मानखण्डना स एव पांसवो धूलयः मान्य पूज्यम् ॥ ११३ ॥ एवंविधे तपसि वर्तमानः किं करोतीत्याह– इहैवेत्यादि । इहैव

---

ही सुवर्णरूपताको प्राप्त हो जाते है ॥ कल्याण. १५ यहां उस ध्यानकी उपादेयताको बतलाते हुए यह भी निर्देश कर दिया है कि उस ध्यानके करनेमे न तो कुछ क्लेश है और न किसी प्रकारकी हानी भी है। उसमे यदि कुछ क्लेश है तो वह केवल जिनचरणोके स्मरणरूप ही है जो नगण्य है, तथा उससे जो हानि होनेवाली है वह है कर्मोकी हानी, सो वह सबको अभीष्ट ही है। वह निरर्थक या अनिष्ट फलदायक भी नहीं है, बल्कि इष्ट फलप्रद (मोक्षसुखदायक) ही है। उसमें बहुत अधिक समय भी नही लगता है– उसका समय अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तपरिमित है। इसके अतिरिक्त उसके लिये विशेष साधनसामग्रीकी भी आवश्यकता नहीं होती, वह केवल आपके मनकी एकाग्रतासे ही होता है। इस प्रकार जब वह ध्यान सब प्रकारके क्लेश एवं हानीसे रहित है, परिमित समयमें ही अभीष्ट मोक्षसुखको देनेवाला है, तथा अपने मनके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारणकी अपेक्षा भी नही रखता है तब विवेकी जनोका यह कर्तव्य है कि वे उस कष्टरहित जिनचरणोका ध्यान अवश्य करे ॥११२॥
धनरूप वायु (तृष्णा) से मर्दित (संतप्त) प्राणियोको भला कौन-सा सुख हो सकता है? कुछ भी नही। अर्थात् जो सुख तपश्चरणसे प्राप्त होता है वह सुख धनाभिलाषी प्राणियोको कभी नही प्राप्त हो सकता है। उस तपके होते हुए क्या यह कामरूप दुष्ट व्याध (भील) किसी प्रकारका दुष्ट आचरण कर सकता है? अर्थात् नही कर सकता है। इसके अतिरिक्त उक्त तपके होनेपर क्या तिरस्काररूप धूलि तपस्वीके चरणको भी छूनेके लिये समर्थ हो सकती है? नही हो सकती। हे

इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्
गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति ।
पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी
नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ॥ ११४ ॥

---

उक्तप्रकार एव तपसि स्थित. । सहजान् रिपून् सहभुव शत्रून् । प्रकोपादिकान् प्रकृष्टकोपादीन् । परिणमन्ति प्रादुर्भवन्ति । असुभिरपि प्राणैरपि । पुरश्चाग्रे पुरुषार्थसिद्धि. मोक्षसिद्धि. । अचिरात् सक्षेपण । स्वय यायिनी स्वयम् अग्रेसरी । तापसहारिणि ससारदु खस्फेटके ॥ ११४ ॥ तपसि रतिं कुर्वाणश्चायुर्देहयोरित्थ यः

---

भव्यप्राणियो ! यदि तपसे दूसरा कोई अभीष्ट सुखका साधक हो तो उसे बतलाओ । अभिप्राय यह कि यदी प्राणीके मनोरथको कोई सिद्ध कर सकता है तो वह केवल तप ही है, उसको छोडकर दूसरा कोई भी प्राणीके मनोरथको पूर्ण करनेवाला नही है ॥ ११३ ॥ जिस तपके प्रभावसे प्राणी इस लोकमे क्रोधादिकषायोरूप स्वाभाविक शत्रुओपर विजय प्राप्त करता है तथा जिन गुणोंको वह अपने प्राणोसे भी अधिक चाहता है वे गुण उसे प्राप्त हो जाते है । इसके अतिरिक्त उक्त तपके प्रभावसे परलोकमे उसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी सिद्धि स्वयं ही शीघ्रतासे प्राप्त होती है । इस प्रकारसे जो तप प्राणियोके सतापको दूर करता है उसके विषयमे मनुष्य कैसे नही रमता हैं? अर्थात् रमना ही चाहिये ॥ **विशेषार्थ–** यहा यह बतलाया गया है कि वह तप प्राणीके लिये उभय लोकोमें ही हितकारक है । इस लोकमे तो वह इसलिए हितकारक है कि जो क्रोध आदि कषाये अनादि कालसे प्राणीका अहित कर रही है उनको वह तप नष्ट कर देता है । कारण यह है कि जबतक क्रोधादि कषायें जागृत रहती हैं तबतक वह इच्छानिरोधात्मक तप सभव ही नही है । इसके अतिरिक्त वह तप इसी लोकमे क्षमा, शाती एव विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणोको भी प्राप्त करता है । वह चूकि परलोकमे मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करता है अतएव वह परलोकमे भी हितका साधक है । इस प्रकार विचार करके जो विवेकी जीव है वे उभय लोकके सतापको दूर करनेवाले उस तपमे अवश्य प्रवृत्त होते है ॥११४॥

तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योर्जितफलः
शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः ।
व्यशुष्यच्चायुष्य सलिलमिव संरक्षितपयः
स धन्यः सन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ।। ११५ ।।

---

सफलता कुरुते त श्लाघयन्नाह-तपोवल्यामित्यादि । समुपचितपुण्योर्जितफल समुपचित पुष्टि नीत पुण्यमेव ऊर्जित महत्फल येन देहेन । शलाट्वग्रे कोमलफलाग्रे सति पुष्पमपगच्छति यस्मात्फलात्तत् शलाटु गलेरटु' । प्रसव इव पुष्पमिव । आयुष्य च व्यशुष्यत् आयुरेव आयुष्यम्, स्वार्थे य' । व्यशुष्यत् । क्व । सन्यासाहुतभुजि सन्यासाग्नौ । पयः दुग्धम् । कथ व्यशुष्यत् । समाधानचरम यथा भवति । समाधान समाधि ध्यान चरमम् अन्यधर्मशुक्लरूप यत्र ।। ११५ ।। परमवैराग्यो-

---

जिसका शरीर तपरूप बेलिके ऊपर पुण्यरूप महान् फलको उत्पन्न करके समयानुसार इस प्रकारसे नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कि कच्चे फलके अग्रभागसे फूल नष्ट हो जाता है, तथा जिसकी आयु संन्यासरूप अग्निमे दूधकी रक्षा करनेवाले जलके समान धर्म और शुक्ल ध्यानरूप समाधिकी रक्षा करते हुए सूख जाती है वह धन्य है– प्रशंसनीय है ।। **विशेषार्थ–** जिस प्रकार लतामें उत्पन्न हुआ फूल फलको उत्पन्न करके उस कच्चे फलके अग्रभागसे स्वय नष्ट हो जाता है उसी प्रकार जिसका शरीर तपश्चरणके द्वारा महान् पुण्यको उत्पन्न करके तत्पश्चात् स्वय नष्ट हो जाता है तथा जिस प्रकार आगपर रखे हुए दूधमे रहनेवाला पानी स्वय जलता है, परतु वह दूधकी रक्षा करता है, उसी प्रकार जिस महा पुरुषकी आयु ध्यानरूप अग्निमे स्वय शुष्क होती है, परन्तु धर्म एव शुक्लरूप ध्यानकी रक्षा करती है वह महात्मा सराहनीय है– उसीका मनुष्य-जन्म पाना सफल है ।। ११५ ।। जिनके हृदयमें विरक्ति उत्पन्न हुई

**अमी प्ररूढवैराग्यास्तनुमप्यनुपाल्य यत्**
**तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम् ॥ ११६ ॥**

---

पतानाम् अशुचौ दुःखदे देहे प्रतिपालनम् अवस्थान च कृत्वा तप कुर्वता कारण श्लोकद्वयमाह– अमी इत्यादि । प्ररूढवैराग्या अपि प्ररूढम् उत्पन्न प्रकर्षं प्राप्त वा वैराग्य येषाम् । तनुम् अनुपाल्य शरीर प्रतिपाल्य । ते तपस्यन्ति तप कुर्वन्ति । वैभव प्रत्भुवम् ॥ ११६ ॥ क्षणार्धमित्यादि । अतिस्तोककालमपि । साहचर्यं

---

है वे शरीरकी रक्षा करके जो चिरकाल तक तपश्चरण करते है वह निश्चयसे ज्ञानका ही प्रभाव है, ऐसा निश्चित प्रतीत होता है ॥ विशेषार्थ लोकमे प्राय. यह देखा जाता है कि जो जिसकी ओरसे विरक्त या उदासीन होता है वह उसका रक्षण नही करता है । परन्तु विवेकी जन शरीरकी ओरसे उदासीन (अनुरागरहित) हो करके भी यथायोग्य प्राप्त हुए आहारके द्वारा उसका रक्षण करते है । इसका कारण यह है कि वे यह जानते हैं कि इस मनुष्यशरीरसे हमें अपना प्रयोजन (मुक्ति) सिद्ध करना है, हमनें यदि इसकी रक्षा न की तो यह असमयमे ही नष्ट हो जावेगा और तब ऐसी अवस्थामे हम उससे अपना प्रयोजन सिद्ध नही कर सकेगे । इसका भी कारण यह है कि यदि यह मनुष्य पर्याययोही नष्ट हो गई तो फिर देवादि किसी दूसरी गतिमे तपका आचरण संभव नही है और वह मनुष्य पर्याय कुछ वार वार प्राप्त होती नही हैं । इस प्रकारकी विवेकबुद्धिके रहनेसे ही साधुजन उस शरीरका रक्षण करते हैं, अन्यथा वे उसकी रक्षा न भी करते । हा, यह अवश्य है कि वह शरीर किसी असाध्य रोगादिसे आक्रात होकर यदि अभीष्टकी सिद्धीमे ही बाधक वन जाता है तो फिर वे उसकी रक्षा नही करते हैं, वल्कि उसे सल्लेखनापूर्वक छोडकर धर्मकी ही रक्षा करते हैं ॥ ११६ ॥ यदि ज्ञान पोचे (हथेलीके ऊपरका भाग) को ग्रहण करके रोकनेवाले न होता तो

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः ।
यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः ॥ ११७ ॥
समस्तं साम्राज्यं तृणमिव परित्यज्य भगवान्
तपस्यन् निर्माणः क्षुधित इव दीनः परगृहान् ।
किलाटद्भिक्षार्थी स्वयमलभमानोऽपि सुचिरं
न सोढव्यं किं वा परमिह परैः कार्यवशतः ॥ ११८ ॥

---

सहभाव प्रकोष्ठ हस्त प्रोच्चकप्रदेश [1] । अत्र तु प्रकोष्ठमन्तस्तत्त्वम् । तदादाय अवलम्ब्य आत्मस्वरूप पश्य किं शरीर चिन्तयेदिति बोध शिक्षयतीत्यर्थ. । निरोधक धारक ॥ ११७ ॥ अमुमेवार्थ दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमान. समस्तमित्यादिश्लोक द्वयमाह–समस्त त्रिभुवनविषयम् । साम्राज्य परमैश्वर्यम् । निर्माण मानरहित । दीन इव । किलेत्यागमोक्ती । न सोढव्य किं वा । अपि तु सर्वमपि सोढव्यम् । परम् अन्यत् । इह लोके । परै उत्कृष्टै, भगवतोऽन्यैर्वा । कार्यवशात सवर-निर्जरालक्षण कार्यम् उररी कृत्य ॥ ११८ ॥ पुरेत्यादि । पुरा गर्भात्.

---

कौन-सा विवेकी जीव उस शरीरके साथ आधे क्षणके लिये भी रहना सहन करता ? अर्थात् नही करता ॥ **विशेषार्थ**– प्राणी जो अनेक प्रकारके दु खोको सहता है वह केवल शरीरके ही सबघसे सहता है, इसीलिये कोई भी विवेकी जीव क्षणभर भी उसके साथ नही रहना चाहता हैं । फिर भी जो वह उसके साथ रहता है, इसका कारण उसका उपर्युक्त ( अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिविषयक ) विचार ही है ॥ ११७ ॥ जिन ऋषभ देवने समस्त राज्य-वैभवको तृणके समान तुच्छ समझकर छोड दिया था और तपश्चरणको स्वीकार किया था वे भी निरभिमान होकर भूखे दरिद्रके समान भिक्षाके निमित्त स्वय दूसरोके घरोपर घूमे । फिर भी उन्हें निरन्तराय आहार नही प्राप्त हुआ । इस प्रकार उन्हें छह मास घूमना पडा । फिर भला अन्य साधारण जनों या महापुरुषोंको अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये यहा क्या ( परीषह आदि ) नही सहन करना चाहिये ? अर्थात् उसकी सिद्धिके लिये उन्हे सब कुछ सहन करना ही चाहिये ॥ **विशेषार्थ**– यह पुराणप्रसिद्ध बात है कि भगवान् ऋषभ देव दीक्षा लेनेके बाद छह मासके उपवासको पूर्ण करके आहारके लिये छह

---

[1] ज पौञ्चक°, स प्रोञ्चक° ।

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किंकर इव
स्वयं स्रष्टा सृष्टेः पतिरथ निधीनां निजसुतः।
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलङ्घ्यं हतविधेः ॥ ११९ ॥

---

पूर्वं गर्भात्। स्वय स्रष्टा परोपदेशमन्तरेणविधाता। कस्या । सृष्टे असिमषिकृष्यादे'। अथ शब्द. पुनरर्थे निजसुत इत्यस्यानन्तर द्रष्टव्य । निजसुतः पुनः पतिर्निधीनाम्। पुरुरपि इन्द्रादीनामाराध्योऽपि । आट पर्यटितोऽभवत् ॥ ११९ ॥

---

माह घूमे थे, परतु भोगभूमीके बाद उस समय कर्मभूमिका प्रादुर्भाव होनेसे कोई भी आहार दानकी विधिको नही जनता था। इसीलिये उन्हे छह माह तक विधिपूर्वक निरन्तराय आहार नही प्राप्त हो सका था। अन्तमे जब राजा श्रेयासको जातिस्मरण हुआ तब उससे जिस विधिसे श्रीमतीके भवमें आहारदान दिया था उसी विधीसे भगवान् आदि जिनेन्द्रको आहार दिया। इस प्रकार दैववशात् जब भगवान् ऋषभनाथ जैसे महापुरुषको भी निरभिमान होकर भिक्षाके लिये छह माह तक घर-घर घूमना पडा और वह नही प्राप्त हुई तो फिर यदि साधारण जनोंको अपने अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धीमे कष्ट उपस्थित होता है तो उन्हें वह सहन करना ही चाहिये ॥ ११८ ॥ जिस आदिनाथ जिनेन्द्रके गर्भमे आनेके पूर्व छह महिनेसे ही इन्द्र दासके समान हाथ जोडे हुए सेवामे तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टीकी रचना करनेवाला था, अर्थात् जिसने कर्मभूमीके प्रारम्भमे आजीविकाके साधनोंसे अपरिचित प्रजाके लिये आजीविकाविषयक शिक्षा दी थी, तथा जिसका पुत्र भरत निधियोका स्वामी ( चक्रवर्ती ) था, वह इन्द्रादिकोसे सेवित आदिनाथ तीर्थंकर जैसा महापुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महिनेतक पृथ्वीपर घूमा; यह आश्चर्यकी बात है। ठीक है– इस संसारमे कोई भी प्राणी दुष्ट दैवके विधानको लांघनेमे समर्थ नही है ॥ ११९ ॥ साधु पहिले

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी ।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ॥ १२० ॥
भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः ।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमत्कर्म (नु कर्म) कज्जलम् ॥ १२१ ॥

---

एवंविधसम्यग्दर्शनाद्याराधनात्रय श्रुतज्ञानादिप्रधानतया प्रवृत्त विशिष्टप्रयोजनप्रसाधकं भवति, नान्यथा । अतस्तदनन्तर ज्ञानाराधनाप्रदर्शनोपक्रम कुर्वाण प्रागित्याद्याह– प्रागित्यादि । प्राक् प्रथमम् । प्रकाशप्रधान यथावत्स्वपरस्वरूपप्रकाशनप्रधान ज्ञानप्रधान इत्यर्थः । सयमी मुनि । तप. तपन ताप. सताप, तपश्चारित्रयोरनुष्ठान मित्यर्थ. । भासता शोभताम् प्रकाशता वा ॥ १२० ॥ ज्ञानाराधनाराधक. इत्थभूत सन्नेतत्करोतीत्याह– भूत्वेत्यादि । दीपोपमो दीपसदृशो भूत्वा । एष ज्ञानाराधनाराधको धीमान् । भासयति शोभयति वा प्रकाशयति[1] वा । प्रोद्वमन् प्रोत्सृजन्, निर्जरा कुर्वन्नित्यर्थः ॥ १२१ ॥ तथा ज्ञानाराधनाराधक प्रवचनजनितविवेकपूर्वक क्रमेण

---

दीपकके समान प्रकाशप्रधान होता है । तत्पश्चात् वह सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे शोभायमान होता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार दीपक केवल प्रकाशसे सयुक्त होकर घट-पटादि पदार्थोको प्रकाशित करता है उसी प्रकार साधु भी प्रारम्भमें ज्ञानरूप प्रकाशसे सयुक्त होकर स्व और परके स्वरूपको प्रकाशित करता है । यद्यपि इस समय उसके प्रकाश (ज्ञान) के साथ ही कुछ तपका तेज भी अवश्य रहता है, फिर भी उस समय उसकी प्रधानता नही होती जिस प्रकार कि तापकी दीपकमे । परन्तु आगेकी अवस्थामें उसका वह प्रकाश ( ज्ञान ) सूर्यके प्रकाशके समान समस्त पदार्थोका प्रकाशक हो जाता है । इस अवस्थामे उसके जैसे प्रकाशकी प्रधानता होती है वैसे ही तेज ( तपश्चरण ) की भी प्रधानता हो जाती है ॥ १२० ॥ वह बुद्धिमान् साधु दीपकके समान होकर ज्ञान और चारित्रसे प्रकाशमान होता है । तब वह कर्मरूप काजलको उगलता हुआ स्वके साथ परको प्रकाशित करता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार दीपक प्रकाश और तेजसे युक्त होकर काजलको छोडता है और घट-पटादि पदार्थोको प्रगट करता है उसी प्रकार साधु भी ज्ञान और चारित्रसे दीप्त होकर कर्मकी निर्जरा करता है तथा आत्म-स्वरूपको जानता भी हैं ॥ १२१ ॥ यह आराधक भव्यजीव

---

१ ब शोभयति प्रकाशयति ।

**अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात् ।**
**रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥ १२२ ॥**

---

अशुद्धपरिणाम परित्यज्य शुद्धपरिणामम् आश्रित्य मुक्तो भवतीति निदर्शयन्नाह– अशुभादित्यादि । अयमाराधनाराधको भव्य । आगमात् आगमज्ञानात् । अशुभात् अतपश्चारित्रपरिणामात् । शुभ तपश्चारित्रपरिणामम् । आयात• आश्रित. । शुद्ध स्यात् सकलकर्ममलकलङ्कविकलो भवेत् । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह– रवेरित्यादि । *अयमर्थो– यथा आदित्यस्य अप्राप्तसध्यस्य न प्राप्ता सध्या प्रभात येन* तस्य । तमसो न समुद्गम न निर्गमः । तथा आत्मनोऽपि अप्राप्तशुभपरिणामस्य कर्मतमसो न निर्गम इति ॥ १२२ ॥ ननु ज्ञानाराधनापरिणतस्य तप श्रुतविषयरागेण

---

आगमज्ञानके प्रभावसे अशुभस्वरूप असयम अवस्थासे शुभरूप सयम अवस्थाको प्राप्त हुआ समस्त कर्ममलसे रहित होकर शुद्ध हो जाता है। ठीक है– सूर्य जबतक सन्ध्या ( प्रभातकाल ) को नही प्राप्त होता है तबतक वह अन्धकारको नष्ट नही करता है ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार सूर्य प्रथमत रात्रीके अन्धकारसे निकलकर प्रभातकालको प्राप्त करता है और तब फिर कही वह अन्धकारसे रहित होता है, उसी प्रकार आराधक भी पहले रात्रिगत अन्धकारके समान अशुभसे निकलकर प्रभातके समान शुभ (सरागसयम) को प्राप्त करता है और तब फिर कही कर्मकलकरूप अन्धकारसे रहित होता है । अभिप्राय यह है कि प्राणीका आचरण पूर्वमें प्राय असयमप्रधान रहता है, तत्पश्चात् वह यथाशक्ति असयममय प्रवृत्तिको छोडकर सयमके मार्गमे प्रवृत्त होता है। यह हुई उसकी अशुभसे शुभमे प्रवृत्ति । यद्यपि कर्मबन्ध (पराधीनता) की अपेक्षा इन दोनोंमे कोई विशेष भेद नही है, फिर भी जहा अशुभसे पाप कर्मका बन्ध होता है वहा शुभसे पुण्यकर्मका बन्ध होता है । इस प्रकारसे उसे शुद्ध होनेकी साधनसामग्री उपलब्ध होने लगती हैं जो कि पापबन्धके होनेपर असम्भव ही रहती है । उदाहरणसे रूपमे जैसे प्रभात-कालमे यद्यपि रात्रिगत अन्धकारकी सघनता नही होती हैं, फिर भी कुछ अशमे तब भी अन्धकार रहता है, पूर्ण अन्धकारका विनाश तो दिनमें हो पाता है । इस प्रकार वह शुभमे स्थित रहकर अन्तमे अपने शुद्ध स्वरूपको भी प्राप्त कर लेता है ॥ १२२ ॥ अज्ञानरूप अन्धकारको

**विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः ।**
**संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥ १२३ ॥**
**विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।**
**रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥ १२४ ॥**

---

रागित्वात्कथ मुक्तत्व स्यात् इत्याशङ्क्याह– विधूततमसोरित्यादि[1] । तमोऽज्ञानम् अन्धकारश्च, विधूत स्फेटित तमो येन तस्य । राग रक्तिमा अनुरागश्च । तप श्रुतनिबन्धन. तपश्रुतविषय । सध्याराग इवार्कस्य प्रभातरागो यथादित्यस्य । अभ्युदयाय उदयनिमित्त स्वर्गापवर्गनिमित्त च ॥ १२३ ॥ एतद्विपरीते रागे द्वेष दर्शयन्नाह– विहायेत्यादि । विहाय परित्यज्य । व्याप्त वस्तुप्रकाशनं प्रसृतम् । आलोक ज्ञानम् उद्योत च । पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा स्वीकृत्य च । पातालतलम् अस्त नरक च । ऋच्छति ॥ १२४ ॥ एवं चतुर्विधाराधनाया प्रगुणमनसा प्रवर्तमानस्य मुमुक्षोर्मोक्षपद

---

नष्ट कर देनेवाले प्राणीके जो तप और शास्त्रविषयक अनुराग होता हैं वह सूर्यकी प्रभातकालीन लालिमाके समान उसके अभ्युदय (अभिवृद्धि) के लिये होता हैं ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार प्रभातकालमे उदित होनेवाले सूर्यकी लालिमा उसकी अभिवृद्धिका कारण होती हैं उसी प्रकार अज्ञानसे रहित हुए विवेकी जीवका भी तप एव श्रुतसे सम्बद्ध अनुराग उसकी अभिवृद्धिका-स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिका-कारण होता हैं। जो अनुराग हानि (दुर्गति) का कारण होता है वह अज्ञानीका ही होता हैं और वह भी विषयभोगविषयक अनुराग। विवेकी ( सम्यग्दृष्टि ) जीवका वह तप आदिविषयक अनुराग कभी हानिका कारण नही हो सकता है ॥१२३॥ जिस प्रकार सूर्य फैले हुए प्रकाशको छोडकर और अन्धकारको आगे करके जब राग (लालिमा) को प्राप्त होता है तब वह पातालको जाता हैं– अस्त हो जाता है, उसी प्रकार जो प्राणी वस्तुस्वरूपको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानरूप प्रकाशको छोडकर अज्ञानको स्वीकार करता हुआ राग ( विषयवाछा ) को प्राप्त होता है वह पातालतलको– नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥ **विशेषार्थ–** सूर्य जिस प्रकार प्रभात समयमें लालिमाको धारण करता है उसी प्रकार वह सन्ध्या समयमे भी उक्त लालिमाको धारण करता है। परन्तु जहां प्रभातकालीन लालिमा उसके

---

१ प स 'विधूततमसोरित्यादि' नास्ति ।

ज्ञानं यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलं
चारित्रं शिबिका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पन्थाश्च प्रगुणः शमाम्बुबहुलश्छाया दयाभावना
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः ॥ १२५ ॥

---

प्राप्तिर्निरुपद्रवा भवतीति दर्शयन्नाह-ज्ञानमित्यादि । यत्र याने[1] । ज्ञानं पुरस्सरं मार्गप्रदर्शकतया अग्रेसरम् । ज्ञानस्य च दर्शनपूर्वकत्वाद्दर्शनमप्यग्रेसर सामर्थ्यसिद्धम् । सहचरी सखी । निवेशनभुव निवासस्थानानि । गुणा वीतरागत्वादय । पथा मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक । प्रगुण प्राञ्जल. मनोवाक्कायकुटिलतारहितः । शमाम्बुबहुल शम उपशम स एव अम्बु पानीय बहुल प्रचुर बहल वा यत्र । एवंविध यान गमन कर्तृ आपयेत् प्रापयेत् । त चतुर्विधाराधनाराधक मुनिम् । अभिमत स्थान मोक्षम्[2] । विना विप्लवै· उपद्रवमन्तरेण ॥१२५॥ के ते तद्याने विप्लवा इत्याशङ्क्याह

---

अभ्युदय (उदय या वृद्धि) का कारण होती है वहा वह सन्ध्या समयकी लालिमा उसके अध.पतन (अस्तगमन) का कारण होती है। ठीक इसी प्रकारसे जो प्राणी अज्ञानको छोडकर तप एव श्रुत आदिके विषयमे रागको प्राप्त होता है वह राग उसके अभ्युदय-स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति का कारण होता है, किन्तु जो प्राणी विवेकको नष्ट करके अज्ञानभावको प्राप्त होता हुआ विषयानुरागको धारण करता है वह अनुराग उसके अध पतनका नरक-निगोदादिकी प्राप्तिका कारण होता है । इस प्रकार तपश्रुतानुराग और विषयानुराग इन दोनोमे अनुरागरूपसे समानताके होनेपर भी महान् अन्तर है– एक ऊर्ध्वगमनका कारण है और दूसरा अधोगमनका कारण है ।। ।। १२४ ।। जिस यात्रा ( विमान ) में ज्ञान मार्गदर्शक है, लज्जा मित्रके समान सदा साथमे रहनेवाली है, तपरूप पाथेय (मार्गमें खाने योग्य भोजन) है, चारित्र शिविका (पालकी) है, निवेशस्थान (पडाव) स्वर्ग है, रक्षा करनेवाले वीतरागता आदि गुण है, मार्ग (रत्नत्रयरूप) सरल (मन, वचन व कायकी कुटिलतासे रहित) एवं शान्तिरूप प्रचुर जलसे परिपूर्ण है, तथा छाया दयाभावना है; वह यात्रा उस मुनिको विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर अभीष्ट स्थानको प्राप्त कराती है ॥ विशेषार्थ– जिस पथिकके पास सुपरिचित मार्गदर्शक हो,

---

१ ज स ज्ञाने । २ ज. स मोक्षे ।

मिथ्या दृष्टिविषान् वदन्ति फणिनो दृष्टं तदा सुस्फुटं
यासामर्धविलोकनैरपि जगद्दंदह्यते सर्वतः ।

---

पञ्चश्लोकैस्तद्विप्लवानाह– मिथ्येत्यादि । मिथ्या असत्यम् । दृष्टिविषान् दृष्टौ विषं येषा तान् । दृष्टिविषत्वम् आसु स्त्रीषु । अर्धविलोकनैः कटाक्षै । दंदह्यते अत्यर्थं

---

मित्र साथमें हो, नाश्ता पासमें हो, सवारी उत्तम हो, बीचमे ठहरनेका स्थान सुरक्षित हो, रक्षक साथमें हो; तथा मार्ग सरल (सीधा), जलसे सहित एव छायायुक्त सघन वृक्षोंसे व्याप्त हो, वह पथिक जिस प्रकार नव विघ्न-बाधाओसे रहित होकर निश्चित ही अपने अभीष्ट स्थानको पहुच जाता है उसी प्रकार जिस मुक्ति-पुरीके पथिकके पास ज्ञान मार्गदर्शकके समान है, पापवृत्तिसे बचानेवाली लज्जा हितैषी मित्रके समान सदा साथमे रहनेवाली है, पाथेयका काम करनेवाला तप विद्यमान है, सवारीका काम करनेवाला चारित्र है, स्वर्ग पडावके समान है, उत्तम क्षमा आदि गुण राग-द्वेषादिरूप चारोसे रक्षा करनेवाले है, तथा रत्नत्रय स्वरूप मार्ग सरल ( मन, वचन एव कायकी कुटिलतासे रहित ), शान्तिरूप जलसे परिपूर्ण एवं दयाभावनारूप छायासे सहित है; वह मुक्तिका पथिक साधु सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओसे रहित होता हुआ अवश्य ही अपने अभीष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है। अभिप्राय यह है कि जो मुनि सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाओका आराधन करता है वह निःसन्देह मोक्षको प्राप्त करता है। प्रस्तुत श्लोकमें जिस प्रकार ज्ञान, तप और चारित्र इन तीन आराधनाओका पृथक् पृथक् उल्लेख किया है वैसा सम्यग्दर्शन आराधनाका पृथक् उल्लेख नही किया गया है, किन्तु उसे ज्ञानाराधनाके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है । इसका कारण सम्यग्दर्शनका उक्त सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव है– उसका सम्यग्दर्शनके विना आविर्भूत नही होना है । इसीलिये उसका पृथक् उल्लेख नही किया है ॥ १२५ ॥ व्यवहारी जन जो सर्पोको दृष्टिविष कहते है वह असत्य है, क्योकि, वह दृष्टिविषत्व तो उन स्त्रियोमे स्पष्टतया देखा जाता है जिनके अर्धविलोकन रूप कटाक्षोके द्वारा ही

तास्त्वय्येव विलोमवर्तिनि भृशं भ्राम्यन्ति बद्धक्रुधः
स्त्रीरूपेण विषं हि केवलमतस्तद्गोचरं मा स्म गाः ॥ १२६॥

---

संतप्यते । सर्वत सर्वेण प्रकारेण । विलोमवर्तिनि प्रतिकूलवर्तिनि । भ्राम्यन्ति भ्रमन्ति । बद्धक्रुधः आबद्धकोपाः । तद्गोचर स्त्रीविषयम् मा स्म गा· मा गच्छ ॥ १२६ ॥ क्रुद्धा इत्यादि । दष्ट्वैव भक्षित्वा । काले क्वचित् कुलिकवेलायाम् ।

---

संसार (प्राणी) सब ओरसे अतिशय संतप्त होता है । हे साधो ! तू जो उनके विरूद्ध आचरण कर रहा है सो वे तेरे ही विषयमें अतिशय क्रोधको प्राप्त होकर इधर उधर घूम रही है । वे स्त्रीके रूपमें केवल विष ही है । इसीलिये तू उनका विषय न बन ॥ **विशेषार्थ**– पूर्वके श्लोकमे यह बतलाया था कि जो सम्यग्दर्शनादि आराधनाओंका आराधन करता हैं उसे मुक्ति पदकी प्राप्तिमे कोई बाधा नही उपस्थित हो सकती है । इसपर यह शंका हो सकती थी ऐसी कौन-सी वे बाधायें हैं जिनकी कि मोक्षमार्गमे प्रवृत्त हुए साधुके लिये सम्भावना की जा सकती हैं ? इस शकाके निराकरणस्वरूप ही यहा बतलाना चाहते हैं कि उक्त साधुके मार्गमें स्त्री आदिके द्वारा बाधा उपस्थित की जा सकती है, अतएव साधुजनको उनकी ओरसे विमुख रहना चाहिए । कारण यह कि वे सर्पकी अपेक्षा भी अधिक कष्ट दे सकती हैं । लोकमें सर्पोंकी एक दृष्टिविष जाति प्रसिद्ध है । इस जातिका सर्प जिसकी ओर केवल नेत्रसे ही देखता है वह विषसे संतप्त हो जाता है। ग्रन्थकार कहते है कि उक्त जातिके सर्पोको दृष्टिविष न कहकर वास्तवमें उन स्त्रियोको दृष्टिविष कहना चाहिये जिनकी कि अर्ध दृष्टिके ( कंटाक्षके ) पडने मात्रसे ही प्राणी विषसे व्याप्त – कामसे सतप्त हो उठता है । जो साधु जनकी ओरसे विरक्त रहना चाहता है उसे वे अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये अनेक प्रकारकी हाव-भाव एव विलासादिरूप चेष्टाए करती हैं । इसलिये यहा यह प्रेरणा की गई है की भव्य प्राणी अपना हित चाहते है वे ऐसी स्त्रियोंके समागमसे दूर रहे ॥ १२६ ॥ सर्प तो किसी विशेष

**क्रुद्धाः प्राणहरा भवन्ति भुजगा दष्ट्वैव काले क्वचित्**
**तेषामौषधयश्च सन्ति बहवः सद्यो विषव्युच्छिदः ।**
**हन्युः स्त्रीभुजगाः पुरेह च मुहुः क्रुद्धाः प्रसन्नास्तथा**
**योगिन्द्रानपि तान् निरौषधविषा दृष्टाश्च दृष्ट्वापि च ॥१२७॥**

---

सद्य झटिति । विषव्युच्छिद. विषविनाशिका. । हन्युः मारयेयु । पुरा अन्यजन्मनि । इह च अस्मिन् जन्मनि । मुहुर्वारंवारम् क्रुधा (द्धा) रुष्ठा । प्रसन्नास्तुष्टाः । योगीन्द्रानपि योगिना प्रधानानपि । तान् लोकप्रसिद्धान् । रुद्रादीन् । निरौषधविषा औषधानिष्क्रात[1] विष यासाम् । दृष्टा योगीन्द्रै', दृष्ट्वा योगीन्द्रान् ॥ १२७ ॥

---

समयमें क्रोधित होते हुए केवल काटकर ही प्राणोंका नाश करते हैं, तथा वर्तमानमें उनके विषको नष्ट करनेवाली बहुत-सी औषधियां भी है । परंतु स्त्रीरूप सर्प क्रोधित होकर तथा प्रसन्न हो करके भी उन प्रसिद्ध महर्षियोंको भी इस लोकमे और पर लोकमे भी बार बार मार सकती हैं । वे जिसकी ओर देखें उसका तथा जो उनकी ओर देखता है उसका भी-दोनोका ही घात करती है तथा उनके विषको दूर करनेवाली कोई औषधि भी नही हैं ॥ **विशेषार्थ**– पूर्व श्लोकमे स्त्रियोंको जो दृष्टिविष सर्पकी अपेक्षा भी अधिक दुःखप्रद बतलाया है उसीका स्पष्टीकरण प्रस्तुत श्लोकके द्वारा किया जा रहा है । यथा-सर्प जब किसीके द्वारा बाधाको प्राप्त होता है तब ही वह क्रुद्ध होकर किसी विशेष काल और किसी विशेष देशमें ही काटता है तथा उसके विषको नष्ट करनेमें समर्थ ऐसी कितनी ही औषधिया भी पायी जाती हैं । फिर भी यदि वह अधिकसे अधिक कष्ट दे सकता है तो केवल एक बार मरणका ही कष्ट दे सकता है। परंतु स्त्रिया जिसके ऊपर क्रुद्ध हो जाती है उसे तो वे विषप्रयोग आदिके उपायोंसे मारती ही है, किन्तु जिसके ऊपर वे प्रसन्न रहती हैं उसे भी मारती हैं–कामासक्त करके इस लोकमे तो रुग्णता व बन्दीगृह आदिके कष्टको दिलाती हैं तथा परलोकमें नरकादि दुर्गतियोके दुखःके भोगनेमें निमित्त होती है । साधारण जनकी तो बात ही क्या है, किन्तु वे बडे बडे तपस्वियोको भी भ्रष्ट कर देती है । इसके अतिरिक्त

---

[1] ज स ऊषधान्निक्रान्त ।

एतामुत्तमनायिकामभिजनावर्ज्यां जगत्प्रेयसीं
मुक्तिश्रीललनां गुणप्रणयिनीं गन्तुं तवेच्छा यदि ।

---

एतामित्यादि । अभिजनावर्ज्यां कुलीनजनैरावर्जनीयाम् । जगत्प्रेयसी लोकस्य अतिशयेन प्रियाम् । मुक्तिश्रीललनां मोक्षलक्ष्मीमहिलाम्[1] । गुणप्रणयिनी[2] गुणेषु

---

दृष्टिविष सर्प जिसकी ओर देखता है उसे ही वह विषसे संतप्त करता है, किन्तु वे स्त्रियां जिसकी ओर स्वयं दृष्टिपात (कटाक्षपात) करती हैं उसे कामसे संतप्त करती हैं और जिसकी ओर वे न भी देखें, पर जो उनकी ओर देखता है उसे भी वे कामसे संतप्त करती हैं। इसके अतिरिक्त सर्पके विषसे मूर्छित हुए प्राणीके विषको दूर करनेवाली औषधियां भी उपलब्ध हैं, पर स्त्रीविषसे मूर्छित (कामासक्त) प्राणीको उससे मुक्त करानेवाली कोई भी औषधि उपलब्ध नही है। इस प्रकार जब स्त्रिया सर्पसे भी अधिक दु.ख देनेवाली है तब आत्महितैषियोको उनकी ओरसे विरक्त ही रहना चाहिये ॥ १२७ ॥ हे भव्य ! जो यह मुक्तिरूप सुन्दर महिला उत्तम नायिका है, कुलीन जनोंको ही प्राप्त हो सकती है, विश्वकी प्रियतमा है, तथा गुणोंसे प्रेम करनेवाली है, उसको प्राप्त करनेकी यदि तेरी इच्छा है तो तू उसको संस्कृत कर-- रत्नत्रयरूप अलकारोसे विभूषित कर-- और दुसरी (लोकप्रसिद्ध) स्त्रीकी बात भी न कर। केवल तू उसके विषयमें ही अतिशय अनुराग कर; क्योंकी, स्त्रियां प्राय: ईर्ष्यालु होती है ॥ **विशेषार्थ--** एक ओर लोकप्रसिद्ध स्त्री है और दूसरी ओर मुक्तिरूपी अपूर्व स्त्री है। इनमें लोकप्रसिद्ध स्त्री जहा कुलीन एव अकुलीन सब ही जनोंको प्राप्त हो सकती है वहा मुक्ति-ललना केवल कुलीन जनको ही प्राप्त हो सकती है-- वह नीच एवं दुराचारी जनोंको दुर्लभ है। लौकिक स्त्री केवल कामी जनोंको ही प्यारी होती है, परन्तु मुक्ति-कान्ता समस्त विश्वको ही प्यारी है। लौकिक स्त्री जहां केवल धन-सम्पत्ति आदिमें ही अनुराग रखती है वहा मुक्ति-सुन्दरी केवल उत्तमोत्तम गुणोमें ही अनुराग रखती है। लौकिक स्त्रीसे

---

१ प मोहलक्ष्मीस्वीकरणीया महिलां । २ प 'गुणप्रणयिनी' इति नास्ति ।

तां त्वं संस्कुरु वर्जयान्यवनितावार्तामपि प्रस्फुटं
तस्यामेव रतिं तनुष्व नितरां[1] प्रायेण सेर्ष्याः स्त्रियः ॥१२८॥
वचनसलिलैर्हासस्वच्छैस्तरङ्गसुखोदरैः
वदनकमलैर्बाह्ये रम्याः सरसीसमाः ।

---

प्रणय स्नेह सोऽस्या अस्तीति[2]। सस्कुरु रत्नत्रयाद्युपायेन समूषय। तनुष्व विस्तारय ॥ १२८॥ वचनेत्यादि। वचनान्येव सलिलानि तैः। हासस्वच्छै निर्मलै.। तरङ्गसुखोदरैः तरङ्गवदुत्पन्नभङ्गुररूपाणि सुखानि तन्युदरे मध्ये येषा वचनसलिलानाम्, तेषा वा जनकानि उदराणि मध्यप्रदेशास्तै.। वदनकमलैः वदनान्येव कमलानि तैः। प्रास्तप्रज्ञा. प्रकर्षेण अस्ता क्षिप्ता प्रज्ञा यै.। तटेऽपि

---

यदि ऐहिक क्षणिक सुख प्राप्त होता है तो मुक्ति-रमणीसे पारलौकिक अविनश्वर सुख प्राप्त होता है। इस प्रकारसे इन दोनोका स्वभाव सर्वथा भिन्न है। अतएव जो लौकिक स्त्रीको चाहता है उसे मुक्ति-वल्लभा दुर्लभ है तथा जो मुक्ति-वल्लभाको चाहता है उसे लौकिक स्त्रीसे मोह छोडना पडता है, कारण कि इसके विना वह प्राप्त हो नही सकती है। इसीलिये तो यह नीति प्रसिद्ध है कि स्त्रिया प्रायः करके अत्यन्त ईर्ष्यायुक्त होती है। ऐसी स्थितीमे जो भव्य मुक्ति-रमाको चाहता है उसे लौकिक स्त्रीकी चाह तो दूर रही, किन्तु उसे उसका नाम भी नही लेना चाहिये, इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये जिस प्रकार उसे कटिसूत्र, केयूर एवं हार आदि अलंकारसे अलंकृत किया जाता है उसी प्रकार मुक्ति-कान्ताको प्रसन्न करनेके लिये उसे सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नमय आभूषणोसे विभूषित करना चाहिये ॥ १२८॥ वे स्त्रिया सरसी (छोटा तालाब) के समान वाहिरसे ही रमणीय दिखती है– सरसी जिस प्रकार चंचल तरगोसे युक्त स्वच्छ जल एव कमलोसे सुशोभित होती है उसी प्रकार वे स्त्रियां भी तरगोके समान चचल ( अस्थिर ) सुखको उत्पन्न करनेवाले हास्ययुक्त मनोहर वचनोरूप जलसे तथा मुखरूप कमलोंसे रमणीय होती है। जिस प्रकार बहुतसे-बुद्धिहिन (मुर्ख) प्राणी

---

१ ज स सुतरा। २ ज स सोऽस्यास्तीति।

इह हि बहवः प्रास्तप्रज्ञास्तटेपि पिपासवो
विषयविषमग्राहग्रस्ताः पुनर्न समुद्गताः ॥ १२९ ॥
पापिष्ठैर्जगतीविधीतमभितः प्रज्वाल्य रागानलं
क्रुद्धैरिन्द्रियलुब्धकैर्भयपदैः संत्रासिताः सर्वतः ।

---

सानिध्यमाने (श्रे)ऽपि । पिपासव अनुभवितुमिच्छव· । विषयेत्यादि । विषया एव विषमग्राहो रौद्रजलचर. तेन ग्रस्ता कवलिता । न समुद्गताः न निर्गता ॥ १२९ ॥ पापिष्ठै पापरतैः। क्रुद्धै उत्कटै अपायहेतुभिर्वा। भयपदै भयस्थानै । इन्द्रियलुब्धकैः इन्द्रियासक्तै.[१] । प्रज्वाल्य रागानल राग एव अनल अग्नि तम्। क्व। जगतीविधीतमभित जगती जगत् सैव विधीत विडम्बितम् । तस्मिन् इति सप्तमीप्राप्तौ

---

प्याससे पीडित होकर सरोवरपर जाते है और किनारेपर ही भयानक हिंस्र जलजन्तुओंके ग्रास बनकर-उनके द्वारा मरणको प्राप्त होकर-फिर नही निकल पाते है उसी प्रकार बहुतसेअज्ञानी प्राणी भी विषयतृष्णासे व्याकुल होकर उन स्त्रियोके पास पहुचते है और हिंस्र जलजन्तुओंके समान अतिशय भयानक विषयोसे ग्रस्त होकर– उनमे अतिशय आसक्त होकर– फिर नही निकलते अर्थात् नरकादि दुर्गतियोमें पडकर फिर उत्तम मनुष्यादि पर्यायको नही पाते है ॥ १२९ ॥ अतिशय पापी, क्रुर एवं भयको उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियोंरूप अहेरियो (शिकारियों) के द्वारा संसाररूप विधीत ( मृग व सिंहादिके रहनेका स्थान ) के चारो ओर रागरूप अग्निको जलाकर सब ओरसे पीडाको प्राप्त कराये गये ये मनुष्यरूप हिरण रक्षाकी इच्छासे व्याकुल होकर स्त्रीके छलसे बनाये गये कामरूप व्याधराज(अहेरियोका स्वामी)घातस्थान के (मरणस्थान) को प्राप्त होते है, यह खेदकी बात है ॥ **विशेषार्थ**– दुष्ट अहेरी मृगादिकोका घात करनेके लिये उनके निवासस्थानके चारो ओर आग जला देते है जिससे वे भयभीत होकर रक्षाकी दृष्टीसे उस स्थानको प्राप्त होते है जो कि अहेरिओके द्वारा उनका ही घात करनेके लिये बनाया गया है। इस प्रकारसे वे वहा जाकर उनके द्वारा मारे जाते है । ठीक इसी प्रकारसे उन अहेरियोके समान दुष्ट इन्द्रिया इस ससारमें

---

१ ज इन्द्रियाशक्तैः ।

हन्तैते शरणैषिणो जनमृगाः स्त्रीछद्मना निर्मितं
घातस्थानमुपाश्रयन्ति मदनव्याधाधिपस्याकुलाः ॥ १३० ॥
अपत्रप तपोऽग्निना भयजुगुप्सयोरास्पदं
शरीरमिदमर्धदग्धशववन्न किं पश्यसि ।

---

अमिना योगे द्वितीया भवति । सर्वतश्चतुर्दिक्षु । हन्त अहो । जनमृगाः जना एव मृगा । स्त्रीछद्मना स्त्रीव्याजेन । मदनव्याधाधिपस्य मदन. काम. स एव व्याधाधिप व्याधप्रधान' । आकुला व्याकुलचित्ता ॥ १३० ॥ एव बाह्येषु विप्लवहेतुषु प्रवृत्ति प्रतषेध्य अन्तरङ्गेषु ता प्रतिषेधयन्नाह-- अपत्रपेत्यादि । त्रपा लज्जा सा अपक्रान्ता नि क्रान्ता यस्मादसौ अपत्रप, तस्य सबोधन हे अपत्रप । जुगुप्सा निन्दा । आस्पद स्थानम् । अर्धदग्धमृतकवत् । रतिम् आसक्तिम्, विषयेषु प्रवृतौ अन्तरङ्गहेतुम् । ननु

---

प्राणियोको विषयासक्त करनेके लिये उन विषयोंके प्रति रागको उत्पन्न कराती है, जिससे व्याकुल होकर वे प्राणी उन मृगोके ही समान शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे उस स्त्रीरूप घातस्थानको प्राप्त होते है जो मानों उनके नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये ही बनाया गया है। अभिप्राय यह है जिस प्रकार हिरण अज्ञानतासे अपना ही वध करानेके लिये शिकारियो द्वारा निर्मित वधस्थानमे जा फंसते है उसी प्रकार ये अविवेकी प्राणी भी विषयतृष्णाके वशीभूत होकर उसको शान्त करनेकी इच्छासे स्त्रीका आश्रय लेते है। परन्तु होता है उससे विपरीत-- जिस विषयतृष्णाको वे शान्त करना चाहते थे वह स्त्रीका आश्रय पाकर उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धीको ही प्राप्त होती है। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार विषयविमूढ होकर प्राणी धर्माचरणको भूल जाता है और पापका सचय करता है जिससे कि वह दुर्गतीमे पडकर अनेक दु खोको भोगता है ॥ १३० ॥ हे निर्लज्ज! यह तेरा शरीर तपरूप अग्निसे अधजले शव (मृत शरीर) के समान भय और घृणाका स्थान बन रहा है। क्या तू उसे नही देखता है? फिर तू उत्सुक होकर व्यर्थमे क्यों स्त्रियोके विषयमे अनुरागको प्राप्त होता है। ऐसे शरीरको धारण करता हुआ तू उन स्त्रियोके लिये भयको न उत्पन्न करता हो सो बात नही है, किन्तु उन्हे निश्चयसे भयको प्राप्त कराता ही है। संसारमे स्त्रियां स्वभावसे ही

वृथा व्रजसि किं रतिं ननु न भीषयस्यातुरो
निसर्गतरलाः स्त्रियस्त्वदिह ताः स्फुटं बिभ्यति ॥ १३१ ॥
उत्तुङ्गसंगतकुचाचलदुर्गदूर-
माराद्वलित्रयसरिद्विषमावतारम् ।

---

अहो न भीषयसि न भयं नयसि । अपि तु भीषयस्येव । आतुर. अत्युत्सुक । निसर्गतरला स्वभावेन कातराः । त्वदिह इह लोके त्वत्तो विकरालमूर्तेः सकाशात् । बिभ्यति भयं गच्छन्ति ॥ १३१ ॥ यत्र च स्थाने त्वं रतिं करोषि तदीदृशमिति दर्शयन् उत्त(त्तु)ङ्गेत्यादि श्लोकत्रयमाह- उत्तुङ्गौ उन्नतौ सगतौ स्थूलतया परस्परसलग्नौ तौ च तौ कुचौ च तौ एव अचलदुर्गः गिरिदुर्ग. तेन दूरं दुःप्राप्यम् ।

---

कातर होती हैं । वे तेरे भयानक शरीरको देखकर स्पष्टतया भयभीत होती है ॥ **विशेषार्थ**- जो भव्य जीव सब इन्द्रियविषयोको छोडकर मुनिधर्मको स्वीकार करता है और तपश्चरणमे प्रवृत्त हो जाता है वह यदि तत्पश्चात् स्त्रियोके विषयमें अनुरक्त होता है तो यह उसके लिये लज्जाकी बात है। ऐसे ही साधुके लक्ष्यमे रखकर यहां यह कहा गया है कि हे निर्लज्ज! तेरा यह शरीर तपके कारण मलिन एव बीभत्स हो गया है। तू जिन स्त्रियोंको चाहता है वे तेरे इस घृणित शरीरको देखकर इस प्रकारसे भयभीत होगी जिस प्रकार कि मनुष्य अघजले मृतशरीर (मुर्दा) को देखकर भयभीत होते है । ऐसी अवस्थामें यह तू ही बता कि जैसे तू उन स्त्रियोंको चाहता है वैसे ही क्या वे भी तुझे चाहेगी या नही? चाहना तो दूर ही रहा, किन्तु वे तुझे देखकर भयसे दूर ही भागेगी । फिर भला तू उनके विषयमे अनुरक्त होकर व्यर्थमे अपने आपको क्यों दुर्गतिमे डालता है ? यह तेरे लिये उचित नही है ॥१३१॥ जो स्त्रीकी योनि ऊंचे एव परस्पर मिले हुए स्तनोंरूप पर्वतीय दुर्गसे दुर्गम है, पास ही उदरमें स्थित त्रिवलीरूप नदियोंसे जहां पहुंचना भयप्रद हैं, तथा जो रोमपक्तिरूप इधर उधर भटकानेवाले मार्गसे सयुक्त है, ऐसी उस स्त्रीकी योनिको पाकर कौन-से कामान्ध प्राणी यहां खेदको नही प्राप्त हुए है ? अर्थात् वे सभी दुःखको प्राप्त हुए है ॥ **विशेषार्थ**- जिस स्थानका मार्ग ऊंचे पर्वतोसे दुर्गम हो, जिसके मध्यमें नदिया पडती हों,

रोमावलीकुसृतिमार्गमनङ्गमूढाः
कान्ताकटीविवरमेत्य न केऽत्र खिन्नाः ॥ १३२ ॥
वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य ।
प्रच्छन्नपादुकमनङ्गमहाहिरन्ध्रमाहुर्बुधाः जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥१३३॥

---

आरात् समीपे । वलीत्यादि–वलित्रयमेव सरितस्ताभिर्विषमो दुःकर्मोपार्जनहेतुतया दुःखदो अवतार प्रवृत्तिर्यत्र । रोमेत्यादि– रोमावल्येव कुसृतिमार्गो अपाय– प्रचुर दण्डोलकरूपः पन्था । अनङ्गमूढा अनङ्गेन कामेन मूढा विवेकपराङ्मुखा. । खिन्ना अर्थैः प्राणै. खिन्नाः ॥१३२॥ वर्चोगृहमित्यादि विषमा येन तेन असाध्या, सा चासौ निर्वृतिश्च पर्वतश्च मोक्षपर्वतस्य (श्च) प्रच्छन्नपादुक तिरोहितपातगर्तरूप रन्ध्रम् । अदः एतत् । सुदत्या स्त्रिया शोभना दन्ता यस्या असौ सुदती तस्याः सुदत्याः स्त्रियाः ॥ १३३ ॥ अध्यास्येत्यादि । अध्यास्य आश्रित्य । तपोवनमपि तपसो निमित्त

---

तथा जो भयानक वनसे व्याप्त हो, ऐसे मार्गमे उस स्थानको जानेवाले प्राणी जैसे अतिशय खेदको प्राप्त होते है वैसे ही पर्वत जैसे उन्नत स्तनोसे सहित, त्रिवलीरूप नदियोंसे वेष्टित और रोमपक्तिरूप वनराजिसे व्याप्त उस योनिस्थानको प्राप्त करनेवाले कामीजन भी इस लोकमे खेदको (आकुलताको) प्राप्त होते है तथा इस प्रकारसे पापका सचय करके वे परलोकमे भी दु.खी होते है ॥ १३२ ॥ सुन्दर दातोवाली स्त्रीका यह जो जाघोंके बीचमे स्थित छिद्र है उसे पण्डित जन कामी पुरुषोके मल (वीर्य)का घर, कामदेवके शस्त्रका नाडीव्रण अर्थात् नसके ऊपर (उत्पन्न हुआ) घाव, दुर्गम मोक्षरूप पर्वतका ढका हुआ गड्ढा तथा कामरूप महासर्पका छिद्र ( बांवी ) बतलाते है ॥ **विशेषार्थ**– कामी जन स्त्रीके जिस योनिस्थानमें क्रीडा करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं वह कितना घृणास्पद और अनर्थका कारण है, इसका यहा विचार करते हुए यह बतलाया है कि वह योनिस्थान पुरीषालय ( संडास ) के समान है– जैसे मनुष्य पुरीषालयमे मल-मूत्रका क्षेपण करते है वैसे ही कामी जन इसमे घृणित वीर्यका क्षेपण करते है। फिर भी आश्चर्य है कि जो विषयी जन पुरीषालयमे जाते हुए तो कष्टका अनुभव करते हैं, किन्तु उसमे क्रीडा करते हुए वे कष्टके स्थानमे आनन्दका अनुभव करते है। वह योनिस्थान क्या है? जिस प्रकार शत्रु बाण आदि किसी शस्त्रके

**अध्यास्यापि तपोवनं बत परे नारीकटीकोटरे**
**व्याकृष्टा विषयैः पतन्ति करिणः कूटावपाते यथा ।**

वनम् अटवी तपसा वा वन सघात । परे मुनय । व्याकृष्टा विशेषेण आकृष्टा । कूटावपाते प्रच्छन्नपादुके । प्रोचे प्रतिपादितवान् प्रीतिकरी जनस्य जननी प्राक्-

प्रहारसे घावको उपन्न करता है उसी प्रकार कामरूप शत्रुने अपने बाणको मारकर मानो वह घाव ही उत्पन्न कर दिया है। फिर भी खेद इस बातका है कि जो लोग शरीरमे थोडासा भी घाव उत्पन्न होनेपर दुःखी होते है वे ही इस घावको आनददायक मानते हैं– इसमे उन्हे किसी प्रकार दुःख नही होता। जिस प्रकार किसी ऊचे विषम (ऊचा-नीचा) पर्वतके उपान्तमे गहरा गड्ढा हो और वह भी घास एव पत्तो आदिसे आच्छादित हो तो उसके ऊपर चढनेवाला मनुष्य उक्त गड्ढेको न देख सकनेके कारण उसमें गिर जाता है और वहीपर मरणको प्राप्त होता है। ठीक उसी प्रकारसे वह योनिस्थान भी मोक्षरूप उन्नत पर्वतपर चढनेवालोंके लिये उस पर्वतके गड्ढेके ही समान है जिसमे कि पडकर वे फिर निकल नही पाते– कामासक्त होकर विषयोमें रमते हुए दुर्गतिके पात्र बनते हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सर्पकी बावी प्राणीको दुःखदायक होती है उसी प्रकार स्त्रीका वह योनिस्थान भी कामी जनोके लिये दुःखका देनेवाला है। इसका कारण यह है जिस प्रकार बावीमे हाथ डालनेवाले प्राणियोंको उसके भीतर स्थित सर्प काट लेता है, जिससे कि वह मरणको प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस योनिस्थानमे क्रीडा करनेवालोको वह कामरूप सर्प काट लेता है, जिससे कि वे भी हिताहितके विवेकसे रहित होकर विषयोमे आसक्त होते हुए मरणको प्राप्त होते है- अपनेको दुःखमे डालते है। इसलिये जो पथिक सावधान होते है वे चूकि मार्गको भले प्रकार देख-भाल करके ही पर्वतके ऊपर चढते है। इसीलिये जैसे वे अभीष्ट स्थानमे जा पहुचते हैं वैसे ही जो विवेकी जीव है वे भी उस गड्ढेसे बचकर–विषयभोगसे रहित होकर– अपने अभीष्ट मोक्षरूप पर्वतपर चढ जाते है ॥ १३३ ॥ दूसरे मनुष्य तपके निमित्त वनका आश्रय ले करके भी इन्द्रियविषयोंके द्वारा खीचे जाकर स्त्रीके योनिस्थानमें इस प्रकारसे गिरते है जिस प्रकार कि हाथी

प्रोचे प्रीतिकरीं जनस्य जननी प्राग्जन्मभूमिं च यो
व्यक्तं तस्य दुरात्मनो दुरुदितैर्मन्ये जगद्वञ्चितम् ॥ १३४ ॥
कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत् ।
सोऽपि दंदह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥ १३५ ॥

---

युवावस्थाया पूर्वं पश्चात् योनिं जननी जन्मभूमिं च प्रीतिकरीम्, 'जननी जन्मभूमिं च प्राप्य को न सुखायते' इत्याभिधानात् । एवंविधैः दुरुदितैः दुर्गतिहेतुवचनैः । विषे ह्यमृतबुद्ध्या प्रवर्तको वञ्चक ॥१३४॥ स्त्रियश्च महात्मनामपि संतापादिदु.ख-हेतुत्वान्महद्विषमित्याह– कण्ठस्थ इत्यादि । शम्भोर्महेश्वरस्य । किमपि संतापादिकम् । नाकरोत् न कृतवान् । विषमम्[1] अचिकित्स्यम् ॥ १३५ ॥ एवंविधे स्त्रीशरीरे

---

अपने पकडनेके लिये बनाये गये गड्ढेमे गिरते है। जो प्राणीके योनिस्थान जननी और जन्मकी भूमि है उसे जो दुष्ट कवि प्रीतिका कारण बतलाते हैं वे स्पष्टतया अपने दुष्ट वचनोके द्वारा विश्वको ठगाते है ॥ १३४ ॥ जिस महादेवके कण्ठमे स्थित हो करके भी विषने उसका कुछ भी अहित नही किया वही महादेव स्त्रियोके द्वारा सतप्त किया जाता है । ठीक है– स्त्रियाँ भयानक विष है ॥ **विशेषार्थ**– कहा जाता है कि देवोने जब समुद्रका मंथन किया था तो उन्हे उसमेसे पहिले विष प्राप्त हुआ था और उसका पान महादेवने किया था । उक्त विषके पी लेनेपर भी जिस महादेवको विषजनित कोई वेदना नही हुई थी वही महादेव पार्वती आदि स्त्रियोके द्वारा कामसे सतप्त करके पीडित किया जाता है । इससे यह निश्चित होता है कि लोग जिस विषको दु.खदायक मानते है वह वास्तवमे उतना दु.खदायक नही है– उससे अधिक दुःख देनेवाली तो स्त्रियाँ है । अतएव उन स्त्रियोको ही विषम विष समझना चाहिये। कारण कि उपर्युक्त विषकी तो चिकित्सा भी की जा सकती है, किन्तु स्त्रीरूप विषकी चिकित्सा नही की जा सकती है ॥१३५॥ हे भव्य! सब दोषोके अद्वितीय स्थानभूत स्त्रीके शरीरमें यदि

---

१ ज स विष ।

**तव युवतिशरीरे सर्वदोषैकपात्रे**
**रतिरमृतमयूखाद्यर्थसाधर्म्यतश्चेत् ।**
**ननु शुचिषु शुभेषु प्रीतिरेष्वेव साध्वी**
**मदनमधुमदान्धे प्रायशः को विवेकः ॥ १३६ ॥**

---

चन्द्रादिधर्मारोपात् प्राणिनामासक्तिरसत्केत्याह– तवेत्यादि । एकपात्रे एकम् असाधारणम् । पात्र भाजनम् । अमृतेत्यादि– अमृततुल्यमयूखा. किरणा यस्य वा अमृतमयूखश्चन्द्र स आदिर्येषा पद्मादीना ते च ते अर्थाश्च ते (तेषा) साधर्म्यतः । मुखस्य हि चन्द्रेण साधर्म्यम्, चक्षुषो पद्मपत्रै, केशाना भ्रमरै', दन्ताना हीरकै:, इत्याद्यर्थे सादृश्यात् । शुचिषु निर्मलेषु पवित्रेषु वा । शुभेषु प्रशस्तेषु । एष्वेव अमृतमयूखाद्यर्थेषु । साध्वी शोभना प्रीति. । मदनमधुमदान्धे मदन एव मधु मद्य तेन मदान्धे । प्रायश बाहुल्येन । को विवेक न कोऽपि ॥ १३६ ॥ मन.पूर्विका च

---

चन्द्र आदि पदार्थोके साधर्म्य ( समानता ) से तेरा अनुराग है तो फिर निर्मल और उत्तम इन्ही ( चन्द्रादि ) पदार्थोके विषयमें अनुराग करना श्रेष्ठ है । परन्तु कामरूप मद्यके मद (नशा) से अन्धे हुए प्राणीमे प्राय: वह विवेकी ही कहां होता है ? अर्थात् उसमें वह विवेक ही नही होता है ॥ विशेषार्थ– स्त्रीका शरीर अतिशय निन्द्य एवं अनेक दोषोका स्थान है । फिर भी कविजन उसके मुखको चन्द्रकी, नेत्रोको कमलकी, दातोको हीरेकी तथा स्तनोंको अमृतकलशो आदिकी उपमा देते है जिससे कि बेचारे भोले प्राणी उसके निन्द्य शरीरको सुन्दर मानकर उसमे अनुराग करते है । वे यह नही समझते कि जिन चन्द्रादिकी समानता बतलाकर स्त्रीके शरीरको सुन्दर बतलाया जाता है वास्तवमें तो वे ही सुन्दर कहलाये, अत. उनमें ही अनुराग करना उत्तम है, न कि उस घृणित स्त्रीके शरीरमे । परंतु क्या किया जाय ? जिस प्रकार मद्यपान करनेवाले मनुष्यको उन्मत्त हो जानेके कारण कुछ भी भले बुरेका ज्ञान नही रहता है उसी प्रकार कामसे उन्मत्त हुए प्राणियोंको भी अपने हिताहितका विवेक नही रहता है । इसलिये वे मल-मूत्रादिसे परिपूर्ण स्त्रीके उस निन्द्य शरीरमे तो अनुराग करते है, किन्तु उन व्रत-सयमादिमे अनुराग नही करते जो कि उन्हे ससारके दु.खसे उद्धार करानेवाले है ॥ १३६ ॥

**प्रियामनुभवत्स्वयं भवति कातरं केवलं**
**परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ल्हादते ।**

---

स्त्रीशरीरे रति· पुसाम्, तेन च नपुसकेन कथं तेषामभिभवो युक्त इत्याह– 'प्रियामित्यादि स्वय प्रियामनुभवत् सत् कातरम् अधीर भवति । केवल परम् एकाकी वा । परेषु चक्षुरादिषु प्राण्यन्तरेषु विषयिषु अनुभवत्सु । ता प्रियाम् । ल्हादते

---

जो मन प्रियाका अनुभव करते हुए केवल अधीर होता है– उसे भोग नही सकता है, तथा जो दूसरे विषयी जनोंको– इन्द्रियोको-उसका भोग करते हुए देखकर भले प्रकार आनन्दित होता है, वह मन तो शद्वसे और अर्थसे भी निश्चयत: नपुसक है। फिर इस नपुसक मनके द्वारा जो सुधी (उत्तम बुद्धिका स्वामी) शद्व और अर्थ दोनो ही प्रकारसे पुरुष है वह कैसे जीता जाता है? अर्थात् नही जीता जाना चाहिये था ॥ विशेषार्थ– जो लोग यह कहा करते हैं कि मन अतिशय बलिष्ठ है, उसकी प्रेरणासे ही प्राणियोकी प्रवृत्ति विषय भोगादिमे होती है, उन्हे यह समझना चाहिये कि वह मन जिस प्रकार शद्वकी दृष्टिसे- व्याकरणकी अपेक्षा– नपुसक ( नपुसकलिंग ) है उसी प्रकार वह अर्थसे भी नपुसक है। कारण यह है कि लोकमें नपुसक वही गिना जाता है जो कि पुरुषार्थमें असमर्थ होता है। सो वह मन ऐसा ही हैं, क्योंकि, जिस प्रकार नपुसक स्त्रीके भोगनेकी अभिलाषा रखता हुआ भी इन्द्रियकी विकलतासे उसे स्वय तो भोग नही सकता है, परन्तु दूसरे जनोको भोगते हुए देख-सुनकर वह आनन्दित अवश्य होता हैं, उसी प्रकार वह मन भी स्त्रीके भोगके लिये व्याकुल तो होता है, पर भोग सकता नही है, भोगती वे स्पर्शनादि इन्द्रिया है जिन्हे कि भोगते हुए देखकर वह प्रसन्न होता है। इस प्रकार वह मन, शद्व और अर्थ दोनोंसे ही नपुसक सिद्ध है। अब पुरुषकी भी अवस्थाको देखिये– पुरुष शद्व और अर्थ दोनोसे ही पुरुष है। वह शद्वसे पुरुष ( पुल्लिग ) है, यह तो व्याकरणसे सिद्ध ही है। साथ ही वह अर्थसे भी पुरुष है। कारण यह कि वह सुधी है– विवेकी है– इसलिये जब वह अपने स्वरूपको समझ लेता हैं, तब लौकिक साधारण स्त्रियोंकी तो बात ही क्या, वह तो मुक्ति-रमणीके भी भोगनेमें

मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥ १३७ ॥
राज्यं सौजन्ययुक्तं श्रुतवदुरुतपः पूज्यमत्रापि यस्मात्
त्यक्त्वा राज्यं तपस्यन् न लघुरतिलघुः स्यात्तपः प्रोह्य राज्यम् ।
राज्यात्तस्मात्प्रपूज्यं तप इति मनसालोच्य धीमानुदग्रं
कुर्यादार्यः समग्रं प्रभवभयहरं सत्तपः पापभीरुः ॥ १३८ ॥

---

उल्लास गच्छति । नपुंसक त्विति नपुसकमिति पुन. न शब्दत न केवल शब्दतो नपुसकम् अर्थतश्च वाच्यापेक्षयापि । सुधी सुविवेकी । उभयथा च शब्दतोऽर्थतश्च । पुमान् सन् अनेन उभयथा नपुसकेन मनसा कथ जीयते ॥१३७॥ तस्मान्मनोऽभिभूय सुविवेकिना सम्यक्तप कर्तव्यम्, तत्कुर्वत परमपूज्यतोपपत्तेरित्याह– राज्यमित्यादि सौजन्ययुक्त दुष्टनिग्रहशिष्टपालनोपेतम् । श्रुतवदुरुतप आगमज्ञानपूर्वक महातप । अत्रापि अनयोरपि राज्यतपसोर्मध्ये । प्रोह्य त्यक्त्वा राज्य । कुर्यात् । उदग्र महत् । समग्रं बाह्यम् आभ्यन्तर । च प्रभवभयहरं ससारभयस्फेटकम् ॥ १३८ ॥ तपोलक्षण–

---

समर्थ होता है। अतएव यह समझना भूल है कि मन पुरुषके ऊपर प्रभाव डालता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पुरुष ही उसे अपने नियन्त्रणमे रखता है। अभिप्राय यह हुआ कि जो पुरुष कहला करके भी यदि अपने मनके ऊपर नियन्त्रण नही रख सकता है तो वह वास्तवमे पुरुष कहलानेके योग्य नही है ॥ १३७ ॥ सुजनता ( न्याय-नीति ) से सहित राज्य और शास्त्रज्ञानसे सहित महान् तप, दोनो यहां पूज्य हैं। परन्तु इन दोनोमे भी चूकि राज्यको छोडकर तपश्चरण करनेवाला मनुष्य लघु नही रहता– महान् हो जाता है, और इसके विपरीत तपको छोडकर राज्य करनेवाला मनुष्य अतिलघु-अतिशय निन्द्य-माना जाता है, इसलिये राज्यकी अपेक्षा तप अतिशय पूज्य है। इस प्रकार मनसे विचार करके जो बुद्धिमान् मनुष्य पापसे डरता है उसे, जो तप ससारके भयको नष्ट करनेवाला एवं महान् है उसे समीचीन सम्पूर्ण तपको करना चाहिये ॥ १३८ ॥ जिन पुष्पोको पहिले देव भी शिरपर धारण करते हैं उनको

पुरा शिरसि धार्यन्ते पुष्पाणि विबुधैरपि ।
पश्चात्पादोऽपि नास्प्राक्षीत् किं न कुर्याद् गुणक्षतिः ॥ १३९ ॥
हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः ।

---

गुणक्षतेर्लघुत्व भवतीति अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमान. प्राह पुरेत्यादि । अम्लानता-सुगन्धतालक्षणगुणक्षते' पूर्वम् । विबुधैरपि देवैरपि । पश्चात् गुणक्षतेरुत्तरकालम् । नास्प्राक्षीत् न स्पृष्टवान् ॥ १३९ ॥ प्रचुरेष्वपि गुणेषु दोषत्वलेशस्यापि अवस्थान न श्रेष्ठम् । तदवस्थाने वा तन्मयतैव श्रेष्ठेत्यन्योक्त्या दर्शयन्नाह- हे चन्द्रम इत्यादि । लाञ्छनवान् लाञ्छन मलिनतादोष' तद्युक्तः अभू.

---

पीछे पांव भी नही छूता है। ठीक ही है- गुणकी हानि क्या नही करती है? अर्थात् वह सब कुछ अनर्थ करती है ॥ विशेषार्थ- पूर्व श्लोकमे यह बतलाया था कि जो साधु तपको छोडकर राज्यलक्ष्मीका उपभोग करने लगता है वह अतिलघु- अतिशय निन्दाका पात्र- बन जाता हे। इसी बातको पुष्ट करनेके लिये यहा यह उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार जबतक फूल मुरझाते नही और अपनी सुगन्धिको नही छोडते हैं तबतक उन्हे देव भी शिरपर धारण करते है, किन्तु वे ही जब मुरझाकर सुगन्धिसे रहित हो जाते है तब उन्हे कोई पावसे भी नही छूता है। ठीक इसी प्रकारसे जबतक साधु तप-सयम आदिमे स्थित रहता है तबतक साधारण मनुष्योकी तो बात ही क्या है, किन्तु महान् देव भी उसकी पूजा करते है। परन्तु पीछे यदि वही तपसे भ्रष्ट होकर विषयोमे प्रवृत्त हो जाता है तो फिर उसको कोई भी नही पूछता है- सभी उसकी निन्दा करते हैं। अभिप्राय यह है कि पूजा-प्रतिष्ठाका कारण गुण है, न कि बाह्य धन-सम्पत्ति आदि ॥ १३९ ॥ हे चन्द्र! तू मलिनतारूप दोषसे सहित क्यों हुआ? यदि तुझे मलिनतासे सहित ही होना था तो फिर पूर्णरूपसे उस मलिनतास्वरूप ही क्यो नही हुआ? तेरी उस मलिनताको अतिशय प्रगट करनेवाली चादनीसे क्या लाभ है? कुछ भी नही। यदि तू सर्वथा मलिन हुआ होता तो वैसे अवस्थामे राहुके समान देखनेमे तो नही आता ॥ विशेषार्थ- यहा चद्रको लक्ष्य बनाकर ऐसे साधुकी

किं ज्योत्स्नयामलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ॥ १४० ॥

---

संजातः । तद्वान् लान्छनवान् । तन्मय एव । किं ज्योत्स्नया पदार्थप्रकाशरूपतया । किमपि तया तव प्रयोजनम् । किं कुर्वत्या । घोषयन्त्या । किम् । मल लाञ्छनरूप मलिनताम् । अलम् अत्यर्थेन । कस्य । तव । तथा सति तन्मयत्वे सति । नासि लक्ष्यः न भवसि कस्यचिदपि ग्राह्य । किंवत् । स्वर्भानुवत् राहुवत् ॥ १४० ॥

---

निन्दा की गई है जो कि साधुके वेषमे रहकर उसको ( साधुत्वको ) मलिन करता है। अभिप्राय यह मे कि जिस प्रकार चन्द्रमे आल्हादजनकत्व आदि अनेक गुणोंके होनेपर भी उसमे जो थोडीसी-कालिमा दृष्टिगोचर होती है वह उसके अन्य गुणोकी प्रतिष्ठा नही होने देती है। इतना ही नही, बल्कि वह उस थोडेसे दोषके कारण कलङ्की कहा जाता है। यदि वह कदाचित् राहुके समान पूर्णरूपसे काला होता तो फिर उसकी ओर किसीका ध्यान भी नही जाता। इस मलिनताको प्रगट करनेवाली उसकी वह निर्मल चादनी है। ठीक इसी प्रकारसे जो साधु व्रत-संयमादिक पालन करते हुए भी यदि उस साधुत्वको मलिन करनेवाले किसी दोषसे संयुक्त होता है तो फिर वह उक्त चन्द्रमाके समान कलकी (निन्द्य) हो जाता है। इससे तो यदि कही वह गृहस्थ होता तो अच्छा था-वैसी अवस्थामें उसकी ओर किसीकी दृष्टि भी नही जाती। कारण इसका यह है कि बहुतसे गुणोके होनेपर यदि कोई दोष होता है वह लोगोंकी दृष्टिमें अवश्य आ जाता है। जैसे कि यदि किसी स्वच्छ कपडेपर कहीसे काला धब्बा पड जाता है तो वह अवश्य ही देखनेमे आ जाता है, किन्तु वैसे ही धब्बा यदि किसी मलिन वस्त्रपर पड जाता है तो न तो प्रायः वह देखनेमे ही आता है और न कोई उसके ऊपर किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी भी करता है। तात्पर्य यह है कि साधुको अपने निर्मल मुनिधर्मको सुरक्षित रखनेके लिये छोटेसे भी छोटे दोषसे बचना चाहिये, अन्यथा उसे इस लोकमे निन्दा और परलोकमें दुर्गतिका पात्र बनना ही पडेगा ॥ १४० ॥

दोषान् कांश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम् ।

---

विद्यमाने दोषे प्रकाशकप्रच्छादकयोर्दुर्जनाचार्ययो उपकारकापकारत्वाभ्याम् आराध्यानाराध्यत्वे दर्शयन्नाह– दोषानित्यादि । तान् चारित्राद्यतिचाररूपान् । प्रवर्तकतया अविवेकतया । प्रच्छाद्य अप्रकाश्य । गच्छति प्रवर्तते । अय गुरु । सार्धं

---

यदि यह गुरु शिष्यके उन किन्ही दोषोको प्रवृत्ति करानेकी इच्छासे अथवा अज्ञानतासे आच्छादित करके–प्रकाशित न करके–चलता है और इस बीचमें यदि वह शिष्य उक्त दोषोंके साथ मरणको प्राप्त हो जाता है तो फिर यह गुरु पीछे क्या कर सकता है? कुछ भी उसका भला नही कर सकता है। ऐसे स्थितिमे वह शिष्य विचार करता है कि मेरे दोषोंको आच्छादित करनेवाला वह गुरु वास्तवमे मेरा गुरु (हितैषी आचार्य) नहीं है। किन्तु जो दुष्ट मेरे क्षुद्र भी दोषोको निरन्तर सूक्ष्मतासे देख करके और उन्हे अतिशय महान् बना करके स्पष्टतासे कहता है वह यह दुष्ट ही मेरा समीचीन गुरु है ॥ विशेषार्थ– गुरु वास्तवमे वह होता है जो कि शिष्यके दोषोको दूर करके उसे उत्तमोत्तम गुणोसे विभूषित करता है। इस कार्यमे यदि उसे कुछ कठोरताका भी व्यवहार करना पडे, जो कि उस समय शिष्यको प्रतिकूल भी दीखता हो तो भी उसे इसकी चिन्ता नही करना चाहिये। कारण कि ऐसा करनेसे उस शिष्यका भविष्यमें कल्याण ही होनेवाला है। परतु इसके विपरीत जो गुरु शिष्यके दोषोको देखता हुआ भी यह सोचता है कि यदि अभी इन दोषोको दूर करनेका प्रयत्न करूगा तो शायद वह अभी उन्हे दूर न कर सके या क्रुद्ध होकर सघसे अलग हो जावे, ऐसी अवस्थामे सघकी प्रवृत्ति नही चल सकेगी; इसी विचारसे जो उसके दोषोंको प्रकाशमे नही लाता है वह गुरु वास्तवमें गुरु पदके योग्य नही है। कारण यह कि मृत्युका समय कुछ निश्चित नही है, ऐसी अवस्थामें यदि इस बीचमे उन दोषोके रहते हुए शिष्यका मरण हो गया तो वह दुर्गतिमें जाकर दुःखी होगा। इसीलिये ऐसे गुरुकी अपेक्षा उस दुष्टको ही अच्छा बतलाया है जो कि भले ही

तस्मान्मे न गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥ १४१ ॥

---

सह। तैः दोषैः। न गुरुः गुरुः आचार्यः न गुरुः आराध्य.। लघूंश्च लघूनपि दोषान्। गुरुतरान् अतिशयेन महतः कृत्वा। सद्गुरुः शोभनगुरु. परदया (?) दोषविशुद्धिहेतुत्वात् ॥ १४१ ॥ ननु शिष्यस्य चिन्ता (त्ता) प्रसत्तिप्रतिषेधार्थम् आचार्या दोष प्रच्छाद्य गच्छन्तीत्याशङ्कयाह— विकाशयन्तीत्यादि। मन एव मुकुल बोण्डिका तत्। विकाशयन्ति प्रल्हादयन्ति प्रबोधयन्ति वा का.। गुरूणाम्.

---

दुष्ट अभिप्रायसे भी दूसरेके सूक्ष्म भी दोषोंको बढा–चढाकर प्रगट करता है। कारण यह कि ऐसा करनेसे जो आत्महितका अभिलाषी हैं वह उन दोषोको दूर करके आत्मकल्याण कर लेता है॥ १४१ ॥ कठोर भी गुरुके वचन भव्य जीवके मनको इस प्रकारसे प्रफुल्लित (आनन्दित) करते हैं जिस प्रकार कि सूर्यकी कठोर (सन्तापजनक) भी किरणे कमलकी कलीको प्रफुल्लित किया करती है॥ विशेषार्थ–पूर्व श्लोकमे शिष्यके दोषोंको प्रगट न करनेवाले जिस गुरुकी निन्दा की गई है उसके विषयमें यह शंका उपस्थित हो सकती थी कि वह जो अपने शिष्यके दोषोंको प्रगट नही करता हैं वह इस कारणसे कि शिष्य किसी प्रकारकी चितामें न पडे या ऐसा करनेसे उसे किसी प्रकारका कष्ट न हो। अतएव वह गुरु निन्द्य नही कहा जा सकता है। इस शकाके उत्तरस्वरूप यहा यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणें अन्य प्राणियोके लिये यद्यपि कठोर (सतापकारक) प्रतीत होती हैं तो भी उनसे कमल-कलिका तो प्रफुल्लित ही होती है। इसी प्रकार जो शिष्य आत्महितसे विमुख है उन्हें ही गुरुके हितकारक भी वचन कठोर प्रतीत होते हैं, किन्तु जो शिष्य आत्महितको अभिलाषा रखते है उनको तत्क्षण कठोर प्रतीत होनेवाले भी वे वचन परिणाममे आनन्दजनक ही प्रतीत होते हैं– उन्हे इन कठोर वचनोसे किसी प्रकारकी चिन्ता व खेद नही होता है। इसके अतिरिक्त यह नीति भी तो प्रसिद्ध है कि "हित मनोहारि च दुर्लभं वचः"। इस नीतिके अनुसार छद्मस्थ प्राणियोंके जो वचन परिणाममें हितकारक होते है वे प्राय. मनोहर नही प्रतीत होते हैं

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः ।
रवेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरूक्तयः ॥ १४२ ॥
लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा ।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥ १४३ ॥
गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामतिप्रीतये ।

---

गुरुवचनानि। किंविशिष्टा कठोराश्च विषयप्रवृत्तिनिषेधोपवासप्रायश्चित्तादिविधाय-कत्वेन कठोरा कर्कशा अपि के इव कस्य। रवेरिव अशव' किरणाः कठोराश्च विकाशयन्ति। अरविन्दस्य पद्मस्य मुकुलम् ॥ १४२ ॥ तथाभूतोक्तिभिश्च धर्मं प्रतिपादयितु प्रतिपत्तु च साप्रत प्रविरला प्राणिनाः इत्याह– लोकेत्यादि। लोकद्वयहित इहलोकपरलोकोपकारकम्। अद्यत्वे इदानीतनकाले ॥ १४३ ॥ ननु लोकद्वयहित ब्रुवाणे परेषा दोषान् प्रतिपाद्य ततो व्यावृत्तिः कारयितव्या

---

और जो वचन बाह्यमे मनोहर प्रतीत होते हैं वे परिणाममे हितकारक नही होते हैं। अतएव शिष्यके हितको चाहनेवाले गुरुको उसे योग्य मार्गपर ले जानेके लिये यदि कदाचित् कठोर व्यवहार भी करना पडे तो दयार्द्रचित्त होकर उसे भी करना ही चाहिये। इस प्रकारसे वह अपने कर्तव्यसे च्युत नही होता है– उसका पालन ही करता है ॥ १४२ ॥ पूर्व कालमें जिस धर्मके आचरणसे इस लोक और परलोक दोनो ही लोकोमें हित होता है उस धर्मका व्याख्यान करनेके लिये तथा उसे सुननेके लिये भी बहुतसे जन सरलतासे उपलब्ध होते थे, परन्तु तदनुकूल आचरण करनेके लिये उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे। किन्तु वर्तमानमे तो उक्त धर्मका व्याख्यान करनेके लिये और सुननेके लिये भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करनेवाले तो दूर ही रहे ॥ १४३ ॥ जो गुण और दोषका विचार करनेवाले सज्जन हैं वे यदि कदाचित् किसी दोषको भी अतिशय प्रगट करते हैं तो वह बुद्धिमान् मनुष्योके लिये उत्तम उपदेशके समान अत्यन्त प्रीतिका कारण होता है। परन्तु जो आगमज्ञानसे रहित हैं ऐसे अविवेकी जनोंके द्वारा यदि धृष्टतासे कुछ प्रशंसा भी की जाती है तो वह उन बुद्धिमान् मनुष्योके

कृतं किमपि धाष्टर्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता ॥ १४४ ॥
त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ ।
यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः ॥ १४५ ॥
हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम् ।
विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः ॥ १४६ ॥

---

तथाचानिष्टप्रसंगाच्च किंचित्सन्मार्गे प्रवर्तते इत्याशङ्क्यां निराकुर्वन्नाह– गुणेत्यादि। विहितम् उद्भावितम् । दूषणमपि किंचित् । धाष्टर्यंत धृष्टत्वमवलम्ब्य । अतीर्थोषितैः आगमानभिज्ञैः । तन्मनांसि मतिमता मनांसि ॥ १४४ ॥ उद्भाविते च दूषणे दोषदर्शनात्यागो गुणदर्शनाच्चोपादानं प्रज्ञावता[1] कर्तव्यमित्याह– त्यक्तेत्यादि। गुणदोषदर्शनलक्षणाद्धेतोः अन्यो हेतुर्हेत्वन्तरं रागद्वेषादि, त्यक्ता हेत्वन्तरे अपेक्षा ययोस्तौ त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ । गुणदोषनिबन्धनौ गुणा [2]सुगतिसुखहेतुत्वादिः, दोषो दुर्गतिदुःखहेतुत्वादि. । आदानपरित्यागौ आदान सम्यग्दर्शनादे., परित्यागो मिथ्यादर्शनादे ॥ १४५ ॥ विपक्षे दूषणमाह– हितमित्यादि । हित सम्यग्दर्शनादि । हित्वा त्यक्त्वा । अहिते मिथ्यादर्शनादौ स्थित्वा । दुर्धी विपर्यस्तबुद्धि । दु खायसे दुःखमात्मनः करोषि । विपर्यये तयोरेधि एधिभव क्व ।''तयोर्विपर्यये हिताहितयोः स्थानपरित्यागौ । सुखायिष्यसे सुखम् आत्मनः करिष्यसि ॥ १४६ ॥ हिते स्थानम्

---

मनको सन्तुष्ट नही करती है। निश्चयसे वह अज्ञानता ही दुःखदायक है ॥ १४४ ॥ जो अन्य कारणोंकी अपेक्षा न करके केवल गुणके कारण किसी वस्तु ( सम्यग्दर्शनादि ) को ग्रहण करता है और दोषके कारण उसका ( मिथ्यात्वआदिका ) परित्याग करता है वही विद्वानोंमें श्रेष्ठ गिना जाता है ॥ १४५ ॥ हे भव्य ! तू दुर्बुद्धि ( अज्ञानी ) होकर जो सम्यग्दर्शन आदि तेरा हित करनेवाले हैं उनको तो छोडता है और जो मिथ्यादर्शनादि तेरा अहित करनेवाले हैं उनमे स्थित होता है। इस प्रकारसे तू अपने आपको दुःखी करता है। तू विवेकी होकर इससे विपरीत प्रवृत्ति कर, अर्थात् अहितकारक मिथ्यादर्शनादिको छोड़कर हितकारक सम्यग्दर्शनादिको ग्रहण कर। इस प्रकारसे तू अपनेको सुखी करेगा ॥ १४६ ॥ ये ( मिथ्यादर्शन आदि ) दोष हैं और इनकी उत्पत्ति

---

१ ज स प्रेक्षवता २ ज स सुगतिः

**इमे दोषास्तेषां प्रभवनममीभ्यो नियमतः**
**गुणाश्चैते तेषामपि भवनमेतेभ्य इति यः ।**
**त्यजस्त्याज्यान् हेतून् झटिति हितहेतून् प्रतिभजन्**
**स विद्वान् सद्वृत्तः स हि स हि निधिः सौख्ययशसोः ॥ १४७ ॥**

---

अहिते त्यागश्च गुणदोषयो सहेतुकयो. ज्ञातयोरेव भवतीति दर्शयन्नाह– इमे इत्यादि । इमे प्रतीयमाना मिथ्यादर्शनादयो, रागादयश्च । तेषा मिथ्यादर्शनादीना प्रभवनम् उत्पत्ति. । अमीभ्यो दर्शनमोहादिभ्यो मिथ्योपदेशादिभ्यश्च विषयेभ्यश्च[1] वा. चारित्रमोहादिभ्यश्च । नियमत. अवश्यभावेन । गुणा. सम्यग्दर्शनादयो वीतरागत्वादयश्च । एते प्रतीयमानाः । तेषामपि गुणानामपि । भवनम् उत्पत्तिः । एतेभ्यो दर्शनमोहक्षयोपशमादिभ्य निसर्गाधिगमादिभ्यश्च चारित्रमोहक्षयोपशमा–

---

नियमतः इनसे (दर्शनमोहनीय आदिसे) होती है, तथा ये (सम्यग्दर्शनादि) गुण है और उनकी भी उत्पत्ति इनसे (दर्शनमोहनीयके उपशम, क्षय और क्षयोपशम आदिसे) होती हैं, ऐसा निश्चय करके जो छोडने योग्य कारणोको छोडता है और हितके कारणोको स्वीकार करता है वह विद्वान् है, वही सम्यक्चारित्रसे सम्पन्न है, और वही सुख एव कीर्तिका घर भी है ॥ **विशेषार्थ**– जिसे गुण और दोषके विषयमे विवेक उत्पन्न हो चुका है उसे यह निश्चय हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि गुण हैं, क्योकि वे आत्माका कल्याण करनेवाले है; तथा इनके विपरीत मिथ्यादर्शन आदि दोष हैं, क्योकि वे आत्माका अहित करनेवाले है। कहा भी है– न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि। श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ अर्थात् तीनो काल और तीनो लोकोंमे सम्यक्त्वके समान दूसरा कोई प्राणियोका अहितकारक नही है और मिथ्यात्वके समान अन्य कोई हितकारक नही है ॥ र. श्रा. ३४. इस प्रकार गुण-दोषोका निश्चय हो जानेपर जो दोषोके कारणोको– मिथ्या उपदेश एव विषयकाक्षा आदिको– खोजकर उन्हे छोड देता है और गुणोके कारणोको– सदुपदेश एव विषयतृष्णानिवृत्ति आदिको– खोजकर उन्हे ग्रहण कर लेता है वह मोक्षमार्गका पथिक हो जाता है। कारण यह कि

---

१ ज ' विषयेभ्यश्च ' इति नास्ति ।

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।
धीमान् स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाशः
तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥ १४८ ॥

---

दिभ्यश्च परिग्रहपरित्यागादिभ्यश्च । त्याज्यान् । हेतून् दोषजनकान् त्यजन् । हितहेतून् गुणजनकान् । प्रतिभजन् स्वीकुर्वन् ॥ १४७ ॥ विवेकिना हिताहितयोर्वृद्धिनाशौ कर्तव्यौ, ततोऽन्यत्र वृद्धिनाशयो सकलप्राणिसाधारणत्वात् इत्याह- साधारणावित्यादि । साधारणौ सकलजन्तुषु विद्यमानौ । आयुःशरीर-संपदादीना वृद्धिनाशौ । कस्मात् । जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् पूर्वभवोपार्जितपुण्य-पापसद्भावत् । सुगतीत्यादि । सुगतेर्मुक्ते साधने सिद्धौ वृद्धिनाशौ यस्य । वृद्धि सम्यग्दर्शनादीनाम्, नाशो मिथ्याज्ञानादीनाम् । तद्व्यत्ययात् । अभ्यधायि प्रतिपादित ॥१४८॥ दुर्गतिसाधन-

---

उसे जो विवेकपूर्वक गुण-दोषका परिज्ञान हुआ है वह तो हुआ सम्यग्दर्शन-पूर्वक सम्यग्ज्ञान, तथा गुणके कारणोका ग्रहण और दोषके कारणोका परित्याग यह हुआ सम्यक्चारित्र, इस प्रकारसे वह रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गमे प्रवृत्त होकर शीघ्र ही अविनश्वर सुखको प्राप्त कर लेता है ॥ १४७ ॥ पूर्व जन्ममे सचित किये गये पुण्य और पाप कर्मके उदयसे जो आयु, शरीर एव धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धि और उनका नाश होता है वे दोनो तो समस्त प्राणियोमे ही समानरूपसे पाये जाते हैं। परन्तु जो सुगति अर्थात् मोक्षको सिद्ध करनेवाले वृद्धि एव नाशको अपनाता है वह बुद्धिमान्, तथा दूसरा इनकी विपरीततासे– दुर्गतिके साधनभूत वृद्धि-नाशको अपनानेसे– निर्बुद्ध ( मूर्ख ) कहा जाता है॥ विशेषार्थ– लोकमे जिसके पास धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धि होती है वह बुद्धिमान् तथा जिसके पास उसका अभाव होता है वह मूर्ख माना जाता है। परन्तु यथार्थमें यह अज्ञानता है, क्योकि धन-सम्पत्ति आदिकी वृद्धिका कारण बुद्धि नही है, बल्कि प्राणीके पूर्वोपार्जित पुण्यका उदय ही उसका कारण है। इसी प्रकार उक्त सम्पत्तिके नाशका कारण भी मूर्खता नही है, बल्कि प्राणीके पूर्वोपार्जित पापका उदय ही उसका कारण है। बुद्धिमान् तो वास्तवमे उसे समझना चाहिये कि जो समीचीन

**कलौ दण्डो नीतिः स च नृपतिभिस्ते नृपतयो**
**नयन्त्यर्थार्थं तं न च धनमदोऽस्त्याश्रमवताम् ।**

---

वृद्धिनाशात् ये च सुगतिसाधनवृद्धिकरास्ते प्रविरला इति दर्शयन्नाह-कलावित्यादि अर्थार्थम् । अर्थनिमित्तम् । तं दण्डम् । नयन्ति कुर्वन्ति । अदः एतद्दण्डहेतुभूत

---

सुख ( मोक्ष ) के साधनभूत सम्यग्दर्शनादिको बढाता है तथा उसमे बाधा पहुचानेवाले मिथ्यादर्शनादिको नष्ट करता है। और जो इसके विपरीत आचरण करता है– नरकादि दुर्गतिके साधनभूत मिथ्या-दर्शनादिको बढाता है तथा उसको रोकनेवाले सम्यग्दर्शनादिको नष्ट करता है– उसे वास्तवमे मूर्ख समझना चाहिये ॥ १४८ ॥ इस कलि-कालमे ( पचम कालमे ) एक दण्ड ही नीति है, सो वह दण्ड राजाओके द्वारा दिया जाता है। वे राजा उस दण्डको धनका कारण बनाते है और वह धन वनवासी साधुओके पास होता नही है। इधर वन्दना आदिमे अनुराग रखनेवाले आचार्य नम्रीभूत शिष्य साधुओको सन्मार्गपर चला नही सकते है। ऐसी अवस्थामे तपस्वियोके मध्यमे समुचित साधुधर्मका परिपालन करनेवाले शोभायमान मणियोके समान अतिशय विरल हो गये है– बहुत थोडे रह गये है ॥ विशेषार्थ– वर्तमानमे जो जीवोकी सन्मार्गमे कुछ प्रवृत्ति देखी जाती है, वह प्रायः दण्डके भयसे ही देखी जाती है। परन्तु वह दण्ड राजाके आश्रित है– वह जिनसे धनादिका लाभ देखता है उन्हे दण्डित करता है। इससे यद्यपि साधारण जनतामें कुछ सदाचारकी प्रवृत्ति हो सकती है, तथापि उस दण्डके भयसे साधु-जनोंमे उसकी सम्भावना नही की जा सकती है। कारण यह है कि साधुओके पास धन तो रहता नही है जिससे कि राजा उनकी ओर दृष्टिपात करे। दूसरे, धर्मनीतिके अनुसार यह कार्य राजाके अधिकारका है भी नही। ऐसी अवस्थामे उक्त साधुओकी यदि सन्मार्गमे प्रवृत्त करा सकते हैं तो उनके आचार्य ही करा सकते है। परंतु वे आचार्य वर्तमानमे आत्मप्रतिष्ठाके इच्छुक अधिक है, इससे वे शिष्योकी यथेच्छ प्रवृत्तिको देख करके भी उन्हे दण्ड नही देते हैं। इसका कारण यह है कि दण्ड देते हुए उन्हे यह भय रहता है कि यदि दण्ड देनेसे वे शिष्य असतुष्ट

नतानामाचार्या न हि नतिरताः साधुचरिताः
तपःस्थेषु श्रीमन्मणय इव जाताः प्रविरलाः ॥ १४९ ॥
एते ते मुनिमानिनः कवलिताः कान्ताकटाक्षेक्षणै-
रङ्गालग्नशरावसन्नहरिणप्रख्या भ्रमन्त्याकुलाः ।

---

धनम् । अस्ति न च आश्रमवता यतीनाम् । तप स्थेषु मध्ये तपस्विषु मध्ये ॥१४९॥ ये [1]चाचार्याणामनुपनता स्वेच्छाचारिणस्तै. सह सागत्य न कर्तव्यमित्याह- एते इत्यादि । कवलिता. ग्रस्ता । कटाक्षेक्षणैः कटाक्षै ईक्षणानि अवलोकितानि तै । अङ्गेत्यादि– अङ्गे आलग्न. च असौ शरश्च बाणस्तेन अवसन्न. पीडित स चासौ हरिणश्च तेन प्रख्या. सदृशाः । आकुलाः विक्षिप्तचित्ता । सघर्तुं व्यवस्थापयितुम् ।

---

हो गये तो फिर मुझे प्रणाम आदि न करेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि वे मेरे सघसे पृथक् हो जाय। ऐसी अवस्थामे मेरे इस आचार्य पदकी क्या प्रतिष्ठा रहेगी ? बस इसी भयसे वे उन्हे दण्ड देनेमे असमर्थ हो जाते है। परिणाम इसका यह होता है कि उनकी उच्छृखल प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढती ही जाती है और इस प्रकारसे मुनिव्रतोको उत्तम रीतिसे परिपालन करनेवाले विरले ही दिखने लगे है। यह साधुओकी दुरवस्था ग्रन्थकार श्री गुणभद्राचार्यके भी समयमें हो चुकी थी। इसीलिये उन्होंने यहा यह स्पष्ट सकेत किया है कि प्रतिष्ठा लोलुपी आचार्योका अपने सघोपर समुचित शासन न रह सकनेसे समीचीन साधुधर्मका आचरण करनेवाले साधु कान्तिमान् मणियोंके समान बहुत ही थोडे रह गये है ॥ १४९ ॥ ये जो अपनेको मुनि माननेवाले साधु हैं वे स्त्रियोके कटाक्षपूर्ण अवलोकनोके ग्रास बनकर शरीरमे लगे हुए बाणोसे खेदको प्राप्त हुए हरिणोके समान व्याकुल होकर परिभ्रमण करते है। परन्तु खेद है कि वे विषयरूप वनस्थलीके मध्यमे अपनेको कहीपर भी स्थिर रखनेके लिये समर्थ नही होते हैं। हे भव्य ! तू वायुसे ताडित हुए मेघोके समान अस्थिरताको प्राप्त हुए इन साधुओकी सगतिको प्राप्त न हो॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार अहेरीके द्वारा मारे गये बाणोसे व्यथित हुए हिरण इधर उधर वनमे भागते है परन्तु कही भी अपनेको

---

१ ज स ये चार्याणा ।

संघर्तुं विषयाटवीस्थलतले स्वान् क्वाप्यहो न क्षमाः
मा व्राजीन्मरुदाहताभ्रचपलैः संसर्गमेभिर्भवान् ॥ १५० ॥
गेहं गुहाः[1] परिदधासि दिशो विहायः
संव्यानमिष्टमशनं[2] तपसोऽभिवृद्धिः ।

---

विषयेत्यादि विषया एव अटव्या. स्थलम् उच्चै प्रदेश , तस्य तले उपरितनभागे स्वान् आत्मनः। मरुदित्यादि-मरुता वायुना आहृत च तदभ्र च तद्वत् चपलै अप्रतिज्ञातव्रतै च अस्थिरैः। एभि. शिथिलचारित्रै पुरुषै. ॥ १५० ॥ एतैश्च सह ससर्गम् अगच्छन्नेवविधा सामग्री प्राप्य याञ्चारहितस्तिष्ठेति शिक्षा प्रयच्छन्नाह-गेहमित्यादि।

---

स्थिर नही रख पाते है उसी प्रकार मुनिधर्मसे भ्रष्ट होकर भी अपनेको मुनि माननेवाले जो साधु स्त्रियोकी कटाक्षपूर्ण चितवनसे पीडित होकर विषय-वनमें विचरण करते हुए कहीपर भी स्थिर नही रहते हैं, किन्तु एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे आदि विषयोकी सदा अभिलाषा रखकर सतप्त होते हैं, वे मुनि ऐसे अस्थिरचित्त हैं जैसे कि वायुसे प्रेरित होकर बादल अस्थिर होते है। ऐसे साधुओंके ससर्गमे रहकर कोई भी प्राणी आत्महित नही कर सकता है। इसीलिये यहा यह उपदेश दिया गया है कि जो भव्य जीव अपना हित करना चाहते है उन्हे ऐसे भ्रष्ट साधुओसे दूर ही रहना चाहिये ॥ १५० ॥ हे आगमके रहस्यके जानकार साधु ! तेरे लिये गुफायें ही घर हैं, दिशायें एव आकाश ही तेरा वस्त्र है, उसे तू पहिन, तपकी वृद्धि तेरा इष्ट भोजन है, तथा स्त्री के स्थानमे तू सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे अनुराग कर। इस प्रकार तुझे याचनाके योग्य कुछ भी नही है। अतएव तू वृथा ही याचनाजनित दीनताको न प्राप्त हो ॥
**विशेषार्थ**– याचना करनेसे स्वाभिमान नष्ट होकर मनुष्यमें दीनता उत्पन्न होती है। इसीलिये यहा साधुको याचनासे रहित होनेकी प्रेरणा करते हुए यह बतलाया है कि जिन पदार्थोकी दूसरोसे याचना की जाती है वे तेरे पास स्वाभाविक हैं। यथामनुष्य दूसरोसे अर्थ ( धन ) की याचना करता है, सो तेरे लिये आगमका अर्थ ( रहस्य ) प्राप्त है ही। यह उस लौकिक धनसे अधिक कल्याणकारी है। इसके अतिरिक्त तुझे रहनेके

---

[1] प मु ( जै., नि. ) गुहा। [2] मु ( जै., नि. ) सयान°।

**प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्र-**
**मप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम् ॥ १५१ ॥**

---

विहाय आकाशम् । सव्यानम् उत्तरीय वस्त्रम् । हे प्राप्तागमार्थ । अप्रार्थ्यवृत्ति न विद्यते प्रार्थ्ये प्रार्थनीये वृत्तिरस्येति अप्रार्थ्यवृत्ति. । असि भवसि त्वम् ॥ १५१ ॥ अनेन प्रकारेण यो हि याञ्चा करोति स लघुर्यस्तु न करोति सोऽतिगुरुरिति दर्शयन्नाह– परमाणोरित्यादि । इति एवम् अल्पबहुत्वे नियम ब्रुवन् । किम् अद्राक्षीत् दृष्टवान् न इमौ दीनाभिमानिनौ । परमाणोर्हि पर नाल्पम् इत्युक्त ( इत्ययुक्त )

---

लिये गुफाये विद्यमान है, अतएव घरकी याचना करनेकी आवश्यकता नही रहती। दिशाये ही तेरे लिये वस्त्र है। लौकिक वस्त्र तो चिन्ताका कारण है, अतएव उसको छोडकर दिगम्बर रह और निश्चिन्त होकर तपकी वृद्धि कर। यह तपकी वृद्धि तेरे अभीष्ट भोजनका काम करेगी। स्त्रीके स्थानमे तेरे पास उत्तमक्षमा आदि गुण विद्यमान है, तू इनसे अधिकसे अधिक अनुराग कर। इस प्रकार तेरे पास सब आवश्यक सामग्री विद्यमान है, अतएव दीन बनकर व्यर्थमे किसीसे याचना मत कर। याचना करनेसे मनुष्य श्रीहीन होकर निर्लज्ज बन जाता है, उसकी बुद्धि और धर्म नष्ट हो जाता है, तथा अपयश बढता है। किसीने यह ठीक कहा है– देहीति वचन श्रुत्वा देहस्थाः पञ्चदेवता.। मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्री-ह्री-धी-धृतिकीर्तयः ॥ अर्थात् 'देहि ( मुझे कुछ दो )' इस वचनको सुनकर शोभा, लज्जा, बुद्धि, धैर्य और कीर्ति ये शरीररूप भवनमें रहनेवाले पाच देवता 'देहि' इस वचनके साथ ही मुखसे निकल कर चले जाते है। अतएव ऐसी याचनाका परित्याग करना ही योग्य हैं॥ १५१ ॥ परमाणुसे दूसरा कोई छोटा नही है और आकाशसे दूसरा कोई बडा नही है, ऐसा कहलानेवाले क्या इन दीन और अभिमानी मनुष्योको नही देखा है ? ॥ विशेषार्थ– लोकमे सबसे छोटा परमाणु समझा जाता है। परन्तु विचार करे तो याचकको उस परमाणुसे भी छोटा ( तुच्छ ) समझना चाहिये। कारण यह कि याचना करनेसे उसके सब ही उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं। वह दीन बनकर भवनके मुहकी ओर देखता है, परन्तु उसकी ओर कोई दृष्टिपात भी नहीं करता।

परमाणोः परं नाल्पं नभसो न महत्परम् ।
इति ब्रुवन् किमद्राक्षीन्नेमौ दीनाभिमानिनौ ॥ १५२ ॥
याचितुर्गौरवं दातुर्मन्ये संक्रान्तमन्यथा ।
तदवस्थौ कथं स्यातामेतौ गुरुलघू तदा ॥ १५३ ॥

---

दीनस्य याचितु ततोऽप्यतिलघुत्वसंभवात् । तथा नभसो न पर महत् इत्यप्यसत्, अभिमानिनोऽयाचकस्य ततोऽप्यतिमहत्वसंभवात् ॥ १५२ ॥ ननु याचितु गौरव क्व गतं येनाल्पत्व तस्य स्यात् इत्याह- याचितुरित्यादि । तदवस्थौ सा याचनदानलक्षणावस्था ययो. ॥ १५३ ॥ तदा याचनदानकाले ग्रहीतुर्दातुश्च गतिविशेष दर्शयन्नाह– अध

---

इस प्रकार उसकी सब प्रतिष्ठा जाती रहती है। इसके विपरीत आकाशसे कोई बडा नही माना जाता है। परन्तु यथार्थमे देखा जाय तो जो स्वाभिमानी दूसरेसे याचना नही करता है उसे इस आकाशसे भी बडा ( महान् ) समझना चाहिये। इस अयाचकवृत्तिमे उसके सब गुण सुरक्षित रहते हैं। स्वाभिमानी संकटमें पडकर भी उस दु खको साहसपूर्वक सहता है, किन्तु कभी किसीसे याचना नही करता। अभिप्राय यह कि याचनाकी वृत्ति मनुष्यको अतिशय हीन बनानेवाली है ॥ १५२ ॥ याचक पुरुषका गौरव दाताके पास चला जाता है, ऐसा मै मानता हू। यदि ऐसा न होता तो फिर उस समय देनेरूप अवस्थासे सयुक्त दाता तो गुरु ( महान् ) और ग्रहण करनेरूप अवस्थासे संयुक्त याचक लघु ( क्षुद्र ) कैसे दीखता? अर्थात् ऐसे नही दीखने चाहिये थे ॥ **विशेषार्थ**– जिस समय याचक किसी दाताके यहां पहुचकर उससे कुछ याचना करता है और तदनुसार वह दाता उसे कुछ देता भी है उस समय उन दोनोके मुखपर अलग अलग भाव अंकित दीखते हैं। उस समय जहा याचकके मुखपर दीनता, सकोच एवं कृतज्ञताका भाव दृष्टिगोचर होता है वहा दाताके मुखपर प्रफुल्लता एव अभिमानका भाव स्पष्टतया देखनेमे आता है। इसके ऊपर यहा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उस समय मानों याचकका आत्मगौरव उसके पाससे निकलकर दाताके पास ही चला जाता है। तभी तो उन दोनोमे यह विषमता देखी जाती है, अन्यथा इसके पूर्वमे तो दोनो समान ही थे। तात्पर्य यह कि याचनाका कार्य अतिशय हीन एव निन्द्य है ॥ १५३ ॥ तराजूके दोनो ओर क्रमसे

**अधो जिघृक्षवो यान्ति यान्त्यूर्ध्वमजिघृक्षवः ।**
**इति स्पष्टं वदन्तौ वा नामोन्नामौ तुलान्तयोः ॥ १५४ ॥**
**सस्वमाशासते सर्वे न स्वं तत्सर्वतर्पि यत् ।**
**अर्थिवैमुख्यसंपादिसस्वत्वान्निःस्वता वरम् ॥ १५५ ॥**

---

इत्यादि । जिघृक्षव. अतृप्तचित्ततया गृहीतुमिच्छवो याचका. । अजिघृक्षव त्यागिन. दातार । वदन्तौ ( वा ) वदन्तो इव ॥ १५४ ॥ याचकाना वाञ्छितार्थासंपादकादैश्वर्याद्दारिद्रय सुन्दरमिति दर्शयन्नाह– सस्वमित्यादि । सह स्वेन द्रव्येण वर्तते य सस्व , त सस्वसद्रव्य पुरुषम् आशासते याचितु वाञ्छन्ति । सर्वतर्पि सर्वतृप्तिकरणशीलम् । अर्थिवैमुख्यसपादि याचकप्रार्थनाभङ्गकरम् ॥ १५५ ॥ ये च

---

होनेवाला नीचापन और ऊंचापन स्पष्टतया यह प्रगट करता है कि लेनेकी इच्छा करनेवाले प्राणी नीचे और न लेनेकी इच्छा करनेवाले ऊपर जाते है ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार तराजूके एक ओर जब कोई वस्तु रक्खी जाती है तो उधरका भाग नीचा और दूसरी ओरका खाली भाग ऊचा हो जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य दूसरेसे याचना करके कुछ ग्रहण करता है वह नीचेपन ( हीनता ) को प्राप्त होता है तथा जो दाता देता है वह उत्कृष्टताको प्राप्त करता है । इस प्रकारसे तराजू भी मानो यही शिक्षा देती है ॥ १५४ ॥ जो मनुष्य धनसे सहित होता है उससे सब लोक आशा रखते है– मांगनेकी इच्छा करते हैं । परन्तु ऐसा वह धन नही है जो कि सब ही याचकोंको सन्तुष्ट कर सके । अतएव याचक जनकी विमुखताको उत्पन्न करनेवाले धनाढ्यपनेकी अपेक्षा तो कही निर्धनता ही श्रेष्ठ है ॥ **विशेषार्थ**– जिसके पास धन रहता है उसके पाससे धन प्राप्त करनेकी बहुत जन अपेक्षा करते हैं । परन्तु उसके पास कितना भी अधिक धन क्यो न हो, रहेगा वह सीमित ही । और उधर याचक असीमित तथा अभिलाषा भी उनकी असीमित ही रहती है । ऐसी अवस्थामे यदि वह धनवान् अपने समस्त ही धनको याचकोमे वितीर्ण कर दे तो भी क्या वे सब याचक तृप्त हो सकते हैं ? नही हो सकते । इसलिये जो मनुष्य यह सोचकर धनके कमानेमे उद्यत होता है कि मैं धनका संचय करके याचकोंको दूगा और उनकी अभिलाषाको पूर्ण

**आशाखनिरतीवाभूदगाधा निधिभिश्च या ।**
**सापि येन समीभूता तत्ते मानधनं धनम् ॥ १५६ ॥**
**आशाखनिरगाधेयमधःकृतजगत्त्रया ।**
**उत्सर्प्योत्सर्प्य तत्रस्थानहो सद्भिः समीकृता ॥ १५७ ॥**

---

सस्वमाशासते तेषामाशाखनि. कीदृशीत्याह– आशेत्यादि । आशाखनि आशागर्तं । अगाध. अथाघ.[1] । निधिभिश्च निधिभिरपि कृता या न समीभूता न पूरिता । सापि आशाखनि. येन मानधनेन अयाचकत्वप्रतिज्ञालक्षणेन कृत्वा समीभूता ॥ १५६ ॥ कथ सा मानधनेन समीभूतेत्याह- आशेत्यादि । उत्सर्प्योत्सर्प्य त्यक्त्वा त्यक्त्वा । तत्रस्थान् आशागर्तस्थितान्, यत्र विषये आशा प्रवर्तते त त विषय परित्यजे ( ज्ये ) त्यर्थ. ॥ १५७ ॥ निर्ग्रन्थतामवलम्ब्य प्रतिज्ञातव्रतस्य परिग्रहग्रहणाभावादित्थमेवास्य.

---

करूंगा, उसका वैसा विचार करना अज्ञानतासे परिपूर्ण है। अतएव ऐसे धनकी अपेक्षा निर्धन ( निर्ग्रन्थ ) रहना ही अधिक श्रेष्ठ है। कारण कि ऐसा करनेसे जो निराकुलता धनवान्को कभी नही प्राप्त हो सकती है वह इस निर्धन ( साधु ) को अनायास ही प्राप्त हो जाती है और इस प्रकारसे वह आत्यन्तिक सुखको भी प्राप्त कर लेता है ॥ १५५ ॥ जो अत्यन्त गहरी आशारूप खान ( गड्ढा ) निधियोके द्वारा भी समान ( पूर्ण ) नही हो सकती है वह तेरे जिस स्वाभिमानरूप धनसे समान हो सकती है वह स्वाभिमानरूप धन ही तेरा यथार्थ धन है ॥ १५६ ॥ तीनो लोकोको नीचे करनेवाली यह आशारूप खान अथाह है। फिर भी यह आश्चर्यकी बात है कि उक्त आशारूप खानमे स्थित धनादिकोका उत्तरोत्तर परित्याग करके सज्जन पुरुषोने उसे समान कर दिया है ॥ **विशेषार्थ**– प्राणीकी आशा या इच्छा एक प्रकारका गड्ढा है जो इतना गहरा है कि यदि उसमें तीनो ही लोकोकी सम्पदा भर दी जाय तो भी वह पूरा नही होगा। यहा इस बातपर आश्चर्य प्रगट किया गया है कि इतने गहरे भी उस आशारूप गड्ढेमें स्थित पदार्थोको उसमेसे बाहिर निकालकर सज्जन पुरुषोंने उसे पृथिवीतलके समान कर दिया है। सो है भी यह आश्चर्यकी-सी बात। कारण कि लोकमे तो ऐसा देखा

---

[1] प अथाघ. ।

विहितविधिना देहस्थित्यै तपांस्युपबृंहय-
न्नशनमपरैर्भक्त्या दत्तं क्वचित्कियदिच्छति ।

---

समीकरण युक्तमिति दर्शयन् विहितेत्यादिश्लोकद्वयमाह-- विहितविधिना अकृताकारितानुमोदिताद्यागमोक्तविधिना । उपबृंहयन् वृद्धिं नयन् । क्वचित् चर्याकाले । कियत् । अक्षम्रक्षणमात्रम् । तदपि भक्त्या दत्त कियद् गृहीतमपि ।

---

जाता है कि जिस गड्ढेके भीतरसे मिट्टी, पत्थर या चांदी-सोना आदि जितने अधिक प्रमाणमें बाहिर निकाला जाता है उतना ही वह गड्ढा और भी अधिक गहरा होता जाता है। परन्तु सज्जन पुरुषोंने उस आशारूप गड्ढेमें स्थित ( अभीष्ट ) पदार्थोंको उससे बाहिर निकालकर गहरा करनेके बदले उसे पूरा कर दिया है। अभिप्राय यह है कि जितनी जितनी इच्छाकी पूर्ति होती जाती है उतनी ही अधिक तृष्णा और भी बढती जाती है। इसीलिये विवेकी मनुष्य जब उस तृष्णाको बढानेवाले विषयभोगोंकी आशा ही नही करते है तब उनका वह आशारूप गड्ढा क्यो न पूर्ण होगा? अवश्य ही पूर्ण होगा ॥ १५७ ॥ तपोंको बढानेवाला मुनि आगममे कही गई विधिके अनुसार शरीरको स्थिर रखनेके लिये किसी कालविशेष ( चर्याकाल ) में दूसरोके ( श्रावकोके ) द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये कुछ थोडे-से आहारको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है। वह भी इस महात्माके लिये अतिशय लज्जाका कारण होता है। फिर आश्चर्य है कि यह महात्मा अन्य परिग्रहरूप दुष्ट पिशाचोको कैसे ग्रहण कर सकता है? नही करता है ॥ विशेषार्थ-- तपकी वृद्धिका कारण शरीर है। यदि शरीर स्वस्थ होगा तो उसके आश्रयसे अनशनादि तपोंको भले प्रकार किया जा सकता है, और यदि वह स्वस्थ नही है-- अशक्त है-- तो फिर उसके आश्रयसे तपश्चरण करना सम्भव नही है। इसीलिये साधु तपश्चरणकी अभिलाषासे शरीरको स्थिर रखनेके लिये दाताके द्वारा नवधा भक्तिपूर्वक दिये गये आहारको स्वल्प मात्रामे ग्रहण करता है। इसके लिये भी वह स्वय आहारको नही बनाता है और अन्यसे भी नही बनवाता है सो तो ठीक ही है, किन्तु वह अपने निमित्तसे बनाये गये ( उद्दिष्ट ) भोजनको भी नही ग्रहण करता है। साथ ही वह इन्द्रिय-

तदपि नितरां लज्जाहेतुः किलास्य महात्मनः
कथमयमहो गृण्हात्यन्यान् परिग्रहदुर्ग्रहान् ॥ १५८ ॥
दातारो गृहचारिणः किल धनं देयं तदत्राशनं
गृण्हन्तः स्वशरीरतोऽपि विरताः सर्वोपकारेच्छया ।

---

किलेत्याश्चर्ये । अन्यान् धन-- वसतिकादीन् । परिग्रहदुर्ग्रहान् परिग्रहा एव दुर्ग्रहा दुष्टा ग्रहाः प्राणिनामपकारकत्वात् ॥ १५८ ॥ दातार इत्यादि । तदत्र-- तत् धनम्, अत्र पात्रे । सर्वोपकारे-- च्छया गृण्हन्ति । लज्जैव-- एषा सर्वोपकारमङ्गीकृत्य अशनग्रहणेच्छा लज्जैव । मनस्विना पण्डितानां मानिनां वा । तत्फल तत् अशनमात्र

---

दमन और सहनशीलता प्राप्त करनेके लिये एक-दो गृह आदिका नियम भी करता है। इस प्रकारसे यदि उसे निरतराय आहार प्राप्त होता है तो वह उसे ग्रहण करता है, अन्यथा वापिस चला आता है और इससे किसी प्रकारके खेदका अनुभव नही करता है-- निरतराय आहारके न प्राप्त होनेसे वह दाताको बुरा नही समझ सकता है। उक्त प्रकारसे प्राप्त हुए आहारको ग्रहण करता हुआ भी साधु इस परवशताके लिये कुछ लज्जाका अनुभव करता है। ऐसी स्थितिमे वह साधु आहारके अतिरिक्त अन्य ( धन अथवा वसतिका आदि ) किसी वस्तुकी अपेक्षा करेगा, यह तो सर्वथा ही असम्भव है ॥ १५८ ॥ दाता तो गृहस्थ हैं और वह देय धन ( देने योग्य धन ) यहा पात्रके लिये भक्तिपूर्वक दिया जानेवाला भोजन है। सबके उपकारकी इच्छासे जो उस आहाररूप धनको ग्रहण करनेवाले साधु है वे अपने शरीरसे भी विरत ( नि स्पृह ) होते हैं। यह आहार ग्रहणकी इच्छा भी उन स्वाभिमानियोके लिये लज्जाका ही कारण होती है। फिर भला उस आहारको निमित्त बना करके वे ( साधु और दाता ) राग-द्वेषके वशीभूत कैसे होते है ? वह इस पचम कालका ही प्रभाव है ॥ **विशेषार्थ--** दानके निमित्त तीन है-- दाता, पात्र और देय। सो यहा दाता तो गृहस्थ, पात्र मुनि और देय धन आहार मात्र है। जो मुनि उस आहारको ग्रहण करते हैं वे भी केवल इस विचारसे करते है कि इससे शरीर स्थिर रहेगा, जिससे कि हम तपश्चरण आदि करके आत्महितके साथ ही सदुपदेशादिके द्वारा दूसरोका

लज्जैषैव मनस्विनां ननु पुनः कृत्वा कथं तत्फलं
रागद्वेषवशीभवन्ति तदिदं चक्रेश्वरत्वं कलेः ॥ १५९ ॥

---

च फल निमित्त कृत्वा। दाता हि त निमित्त कृत्वा अहमेवोत्कृष्टो दाता, अन्ये तु निकृष्टा' इत्यादि प्रकार रागद्वेषादिक करोति। यतिः पुनः अनेन उत्कृष्टम् अशन दत्तम् अनेन निकृष्टम् इत्यादिरूपतयेति। चक्रेश्वरत्व प्रभुत्वम् ॥ १५९ ॥

---

भी हित कर सकेगे। इतनेपर भी जो स्वाभिमानी विद्वान् हैं वे उस आहार मात्रके ग्रहण करनेमें भी लज्जित होते है। यह है सत्पात्र और निरभिमानी सद्गृहस्थ दाताओकी स्थिति। इसके विपरीत जो दाता उस आहारदानके निमित्तसे यह समझता है कि मै ही उत्कृष्ट दाता हू अन्य दाता निकृष्ट है, तथा मै इन साधुओपर उपकार कर रहा हू; वह दाता निन्दनीय है। इसी प्रकार जो साधु भी उस आहारके निमित्तसे किसी दाताकी प्रशसा करता है कि इसने उत्तम आहार दिया है, तथा अन्य दाताकी निन्दा करता है कि इसने निकृष्ट आहार दिया है, वह भी जो इस प्रकारसे राग व द्वेषके वशीभूत होता है उसका कारण इस कलि-कालके प्रभावको ही समझना चाहिये। अन्यथा पूर्वमें जहा दाता यह समझता था कि सत्पात्रको दान देना यह गृहस्थका आवश्यक कर्तव्य है तथा इस गृहस्थ जीवनकी सफलता भी इसमें है, यह सुअवसर मुझे पुण्योदयसे ही प्राप्त हुआ है आदि, वहा वे सत्पात्र (साधु) भी दाताके द्वारा जैसा कुछ भी रूखा-सूखा भोजन प्राप्त होता था उसीमे सतुष्ट होते थे-दाताके प्रति कभी भी राग-द्वेष नही करते थे। वे दाता और पात्र आज नही उपलब्ध होते है। इससे यही निश्चय होता है कि दाता और पात्रोंकी जो वर्तमानमें यह दुरवस्था हो रही है वह कलिकालके ही प्रभावसे हो रही है ॥ १५९ ॥ हे आत्मन्! तीनो लोकोको विषय करनेवाले ज्ञान (केवलज्ञान) के ऊपर तेरा जो स्वाभाविक स्वामित्व था उसे इस कर्मने लुप्त कर दिया है तथा पर पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मा मात्रसे उत्पन्न होनेवाले तेरे उस स्वाभाविक सुखको भी

आमृष्टं सहजं तव त्रिजगतीबोधाधिपत्यं तथा
सौख्यं चात्मसमुद्भवं विनिहतं[1] निर्मूलतः कर्मणा ।

---

रागद्वेषाधीनता च कर्मणा क्रियते, तेन च कर्मणा भवत किं कृतमित्याह-आमृष्टमित्यादि। आमृष्ट लुप्तम् । विनिहृत स्फेटितम् । निर्मूलत नि शेषत सत्कारणभूतात्मविशुद्धि-विशेषेण सह इत्यर्थ । दैन्यात् चारित्रमोहोदयप्रभवविषयप्रार्थनावशात् । तद्विहितै ।

---

उक्त कर्मने पूर्णरूपसे नष्ट कर दिया है। जो तू चिरकालसे उपवासादिके कष्टपूर्वक कुत्सित भोजनों ( नीरस एव नमकसे हीन आदि ) के बन्धनमें स्थित रहा है वही तू निर्लज्ज होकर उस कर्मके द्वारा किये गये इन्द्रिय-सुखो ( विषयसुखो ) से दीनतापूर्वक सतुष्ट होता है ।। **विशेषार्थ**– जीव स्वभावसे अनन्तज्ञान एव अनन्त सुखसे सपन्न है। किन्तु कर्मका आवरण रहनेसे वह प्रगट नही है– लुप्त हो रहा है। जो प्राणी अज्ञानतासे अपनी अनन्त शक्तिका अनुभव नही करते है वे ही उस कर्मके द्वारा निर्मित तुच्छ इन्द्रियसुखों ( आहारादिजनित ) से सन्तुष्ट होते है। इसमे वे अपनी दीनताको प्रगट करते हुए लज्जित भी नही होते है। ऐसे इन्द्रियलोलुपी जीव उपवास आदिके कष्टको सहकर जैसा कुछ रूखा-सूखा भोजन प्राप्त होता है उसमें सन्तुष्ट होते है। यदि वे अपनी स्वाभाविक आत्मशक्तिका अनुभव करे तो ऐसे दीनतापूर्ण आचरणमे उन्हे सतोषके स्थानमे लज्जाका ही अनुभव होगा। उदाहरणार्थ यदि कोई बलवान् मनुष्य किसी अन्य व्यक्तिकी सम्पत्ति आदिका अपहरण करके उसको अपने आधीन रखता हुआ अपनी ही इच्छासे भोजन आदि देता है तो आधीनस्थ मनुष्य यदि कायर है तब तो वह अपना सर्वस्व खो करके भी उसके द्वारा कुछ भी रूखा-सूखा भोजन आदि दिया जा रहा है उसीपर सन्तुष्ट होता है और किसी प्रकारकी लज्जाका अनुभव नही करता है। किन्तु जिसे अपनी शक्तिका अभिमान है वह अन्यके द्वारा दिये जानेवाले भोजन आदिकें लिये लज्जित होता है तथा उस अवसरकी खोजमे रहता

---

१ ज विनिहित ।

दैन्यात्तद्विहितैस्त्वमिन्द्रियसुखैः संतृप्यसे निस्त्रपः
स त्वं यश्चिरयातनाकदशनैर्बद्धस्थितस्तुष्यसि[1] ॥ १६० ॥

---

कर्मवृतैः। चिरयातनाकदशनै चिर बहुतर काल पूर्वंयातनाम् उपवासादिकदर्थना कार-यित्वा पश्चात् कदशनानि अलवण- कोद्रव- काञ्जिकादीनि तै. बद्धस्थित. गुप्तो बन्धने स्थितः ॥ १६० ॥ अस्तु चेन्द्रियसुखाभिलाष. तथापि यत्र विशिष्टा इन्द्रिय विषयाः सन्ति तद्दर्शयन्नाह– तृष्णेत्यादि। सहस्व प्रतीक्षस्व। अल्पं स्तोक व्रतानुष्ठानकाल

---

है कि जब कि उस अपने शत्रुको नष्ट करके अपनी हरी गई सम्पत्तिको वापिस प्राप्त कर ले। ठीक इसी प्रकारसे जो अविवेकी प्राणी हैं वे कर्मरूप शत्रुके द्वारा जो अपनी स्वाभाविक सम्पत्ति (अनन्त ज्ञानादि) हरी गई है उसे प्राप्त करनेका उद्योग नही करते, बल्कि उक्त कर्मके द्वारा दिये जानेवाले तुच्छ एवं क्षणिक इन्द्रिय सुखमे ही सन्तुष्ट होते हैं। किन्तु जो विवेकी जीव हैं वे उस कर्म-शत्रुके द्वारा लुप्त की गई अपनी उस स्वाभाविक सम्पत्तिको प्राप्त करनेका निरतर उद्योग करते हैं और वह जब तक उन्हे प्राप्त नही होती है तबतक उसकी प्राप्तिके साधनभूत शरीरको स्थिर रखनेके लिये उक्त कर्मके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले भोजनको ग्रहण तो करते है, किन्तु उसे स्वाभिमानपूर्वक लज्जाके साथ ही ग्रहण करते हैं, न कि निर्लज्ज व दीन बनकर। इस प्रकारसे अन्तमें वे अपनी उस स्वाभाविक सम्पत्ति (अनन्तचतुष्टय) को अवश्य प्राप्त कर लेते है ॥ १६० ॥ हे साधो! यदि तुझे भोगोके विषयमे अभिलाषा है तो तू कुछ समयके लिये व्रतादिके आचरणसे होनेवाले थोडे-से कष्टको सहन कर। ऐसा करनेसे तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा, वे भोग वहापर ही है। तू पाककी प्रतीक्षा करता हुआ पानी आदिको पी करके क्यों भोजनको नष्ट करता है? ॥ **विशेषार्थ**– जो साधु बाह्य विषयभोगोंकी अभिलाषा करता है उसको लक्ष्यमें रखकर यहा यह कहा गया है कि यदि तुझे विषयभोगोंकी ही अभिलाषा है तो तू कुछ समय के लिये व्रतादिके आचरणसे जो थोडा-सा कष्ट होनेवाला है उसे स्थिरतासे सहन कर। कारण यह कि ऐसा करनेसे तुझे तेरी ही इच्छाके अनुसार स्वर्गमे उन

---

१ मु स्थितिस्तुष्यसि ।

**तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो सहस्वाल्पं स्वरेव ते।**
**प्रतीक्ष्य पाकं किं पीत्वा पेयं भुक्तिं विनाशयेः ॥ १६१ ॥**
**निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम् ।**
**किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ॥ १६२ ॥**

---

यावत् । स्वरेव स्वर्ग एव । ते भोगा ॥ १६१ ॥ कर्मणा चेन्द्रियसौख्यानि जीवितं च विधीयते । ये चैवविधा मुनयस्तेषा किं करोति कर्मेति दर्शयन्निर्धनत्वमित्याह्– निर्धनत्वमित्यादि। निर्धनत्व नि सगता। धन विभूति अभिप्रेतप्रयोजनप्रसाधकत्वात् । मृत्युरेव हि सन्यासेन प्राणत्याग । जीवित प्रीतिकर विशिष्टजीवितहेतुत्वात् ॥१६२॥

---

विषयभोगोकी प्राप्ति हो जावेगी। फिर तू सागरोपम कालतक उस विषयसुखका अनुभव करते रहना। और यदि तू ऐसा नही करता है-तो फिर तेरी ऐसी अवस्था होगी जैसी कि अवस्था उस मनुष्यकी होती है जो कि थोडे-से कालके लिये भोजनके परिपाककी प्रतीक्षा न करके भूखसे पीडित होता हुआ पानी आदिको पी करके ही उस भूखको नष्ट करके भोजनके आनन्दको भी नष्ट कर देता है। अभिप्राय यह है कि जो विषयतृष्णाके वशीभूत होकर व्रतादिके आचरणको छोड देता है उसे मोक्षसुख मिलना तो दूर ही रहा, किन्तु वह विशिष्ट विषयसुख भी उसे प्राप्त नही होता जो कि स्वर्गादिमे जाकर प्राप्त किया जा सकता था ॥ १६१ ॥ जिन साधुओके निर्धनता ( उत्तम आकिंचन्य ) ही धन है तथा मृत्यु ही जिनका जीवन है उन ज्ञानरूप अद्वितीय नेत्रको धारण करनेवाले साधुओका भला कर्म क्या अनिष्ट कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी नही कर सकता है ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार अन्य जनोको प्राणोंसे अधिक धन प्रिय होता है उसी प्रकार साधुओको भी निर्धनता ( दिगम्बरत्व ) अधिक प्रिय होती है। कारण कि उनका वही एक अपूर्व धन है, जिसकी कि वे सदा से रक्षा करते है। ऐहिक सुखकी अभिलाषा करनेवाले प्राणियोको जैसे जीवन प्रिय होता है वैसे ही परमार्थिक सुखकी अभिलाषा करनेवाले साधु पुरुषोको मरण प्रिय होता है। वे वृद्धत्व एव किसी असाध्य-रोग आदिके उपस्थित होनेपर धर्मका रक्षण करते हुए प्रसन्नतासे समाधिमरणको स्वीकार करते हैं। उन

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः ।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥ १६३ ॥
परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयोः ।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया ॥ १६४ ॥

---

केषां तर्हि विधिः स्वकार्यंकर्ता स्यादित्याह– जीविताशेत्यादि । विधिर्विधिः विधि. कर्म, विधिः स्रष्टा । आशानिराशता 'आशाया' निराशता 'निःकाङ्क्षता, सर्वथा विषयाशारहितत्वेत्यर्थः ॥ १६३ ॥ साम्राज्य त्यक्त्वा आशानिराशतामवलम्बमानस्य, तपश्च त्यक्त्वा साम्राज्यमाश्रयत फलमादर्शयन् परामित्यादिश्लोकद्वयमाह– परां कोटिं परमप्रकर्षम् । तपसे तपोनिमित्तम् । चक्र चक्रवर्तित्वम् ॥ १६४ ॥

---

मनस्वियोंको किंचित् भी मरणका भय नही होता। उसका भय तो केवल अज्ञानी जीवोंको ही हुआ करता है। ऐसी अवस्थामे दैव भला उनका क्या अनिष्ट कर सकता है? कुछ भी नही। कारण यह कि दैव यदि कुछ अनिष्ट कर सकता है तो यही कर सकता है कि वह धनको नष्ट कर देगा, इससे भी अधिक कुछ अनिष्ट वह कर सकता है तो प्राणोका अपहरण कर लेगा। सो यह उक्त मनस्वी जीवोको इष्ट ही है। तब उसने उनका अनिष्ट किया ही क्या? कुछ नही ॥ १६२ ॥ जिन जीवोके जीवनकी अभिलाषा और धनकी अभिलाषा रहती है उन्ही जीवोंका कर्म कुछ अनिष्ट कर सकता है– वह उनके प्रिय जीवन और धनको नष्ट करके हानि कर सकता है। परन्तु जिन जीवोकी आशा–जीनेकी इच्छा और विषयतृष्णा–निःशेषतया नष्ट हो चुकी है उनका वह कर्म भला क्या अनिष्ट कर सकता है? कुछ भी नही–यदि वह उनके जीवन और धनका अपहरण करता है तो वह उनके अभीष्टको ही सम्पादित करता है ॥ १६३ ॥ जो मनुष्य तपके लिये चक्रवर्तीकी विभूतिको छोडता है तथा इसके विपरीत जो विषयोकी अभिलाषासे उस तपको छोडता है वे दोनों ही क्रमशः स्तुति ओर निन्दाकी उत्कृष्ट सीमापर पहुंचते हैं ॥ विशेषार्थ–जो विवेकी जीव चक्रवर्ती जैसी विभूतिको पाकर भी उसे आत्महितमे बाधक जानकर तुच्छ तृणके समान छोड देता है और निर्ग्रन्थ होकर दुर्धर तपको स्वीकार करता है वह

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्यं ततो न तदद्भुतम् ।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भो क्तुं जहाति महत्तपः ॥ १६५ ॥
शय्यातलादपि तुकोऽपि भयं प्रपातात्
तुङ्गात्ततः खलु विलोक्य किलात्मपीडाम् ।

---

त्यजत्वित्यादि । स्वोत्थं विषयनिरपेक्ष कर्मविविक्तात्मस्वरूपप्रभवम् । विष विषयात्मक विषयरूप विषम् । जहाति त्यजति॥१६५॥ तपस्त्यजता च विस्मय कुर्वन्नाह- शय्यातलादिति । तुकोऽपि बालोऽपि । भय गच्छति । कस्मात् । प्रपातात् प्रपतनात् ।

---

सबसे-अधिक प्रशसाके योग्य है । इसके विपरीत जो कारण पाकर विर-क्तिको प्राप्त होता हुआ प्रथम तो राज्यवैभवको छोडकर तपको स्वीकार करता है, और फिर पीछे उन्ही पूर्वभुक्त भोगोकी अभिलाषासे उस दुर्लभ तपको छोडकर पुन उस सम्पत्तिका उपभोग करने लगता है, वह सबसे अधिक निन्दाका पात्र है-- उसकी अज्ञानताको धिक्कार है ॥ १६४ ॥ चूकि तपका फल जो सुख है वह सुख अनुपम-- समस्त संसारी जीवोको दुर्लभ, कर्मकी अपेक्षा न करके केवल आत्ममात्रकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला, और सदा रहनेवाला ( अविनश्वर ) है, इसीलिये यदि चक्रवर्ती उस तपके लिये साम्राज्यको छोड देता है तो वह कुछ आश्चर्यकी बात नही है । आश्चर्य तो महान् इस बातका है कि जो बुद्धिमान् पूर्वमें विषयोको विषके समान घातक समझकर छोड देता है और तत्पश्चात् उन्ही छोडे हुए विषयोको फिरसे भोगनेके लिये ग्रहण किये हुए उस महान् तपको भी छोड देता है ॥ १६५ ॥ देखो, बालक भी ऊचे शय्यातल (पलंग) से गिर जानेपर होनेवाली अपनी पीडाको देखकर निश्चयत' उससे भयको प्राप्त होता है । परन्तु आश्चर्य है कि बुद्धिमान् साधु तीन-लोकके शिखरसे भी अतिशय ऊंचे ( महान् ) उस तपसे स्वय च्युत होता हुआ भयको प्राप्त नही होता है ॥ विशेषार्थ-- तप तीनों लोकोमे अतिशय पूज्य एव अविनश्वर सुखका कारण है, इसीलिये उसे तीन लोकके शिखरसे भी उन्नत बतलाया गया है । जो बालक

चित्रं त्रिलोकशिखरादपि दूरतुङ्गाद्
धीमान् स्वयं न तपसः पतनाद्बिभेति ॥ १६६ ॥
विशुद्धयति दुराचारः सर्वोऽपि तपसा ध्रुवम् ।
करोति मलिनं तच्च किल सर्वाधरः परः[1] ॥ १६७ ॥

---

तुङ्गात् महत.। तत शय्यातलात्। दूरतुङ्गात् अतिशयेन महत इन्द्रादिभिर्वन्द्यात् तपसः ॥ १६६ ॥ येन च तपसा महापापप्रक्षालन भवति तदपि मलिनता नयन्ति नीचा इत्याह— विशुद्धयतीत्यादि। दुराचार. ब्रह्महत्यादिविधायी। ध्रुव निश्चितम्। तच्च तप.। मलिन सातिचारम्। किल इत्याश्चर्ये। सर्वाधर. निकृष्ट.। पर. अपरः अन्यः' ॥ १६७ ॥ आश्चर्यहेतूना मध्ये तपस्त्यागिन. अत्याश्चर्यहेतुत्व दर्शयन्नाह—

---

हिताहितके विवेकसे रहित होता है वह भी जब ऊचे किसी पलग या पालने आदिमे स्थिर होता है तब वहासे गिर पडनेकी आशकासे भयभीत होता है। परन्तु जो साधु विवेकी है और इसीलिये जिसने विषयतृष्णाको छोडकर तपको स्वीकार किया था वह फिरसे भी उस उच्छिष्टके समान विषयसुखके उपभोगके लिये आतुर होता हुआ ग्रहण किए हुए उस तपको छोडकर दुर्गतिमें पडनेसे भयभीत नही होता, यह कितने आश्चर्यकी बात है। ऐसे साधुको उस अज्ञान बालकसे भी अधिक मूर्ख समझना चाहिये ॥ १६६ ॥ जिस तपके द्वारा नियमत. सब ही दुष्ट आचरण शुद्धिको प्राप्त होता है उस तपको भी दूसरा निकृष्ट मनुष्य मलिन करता है ॥ **विशेषार्थ—** जो जल वस्तुकी मलिनता को दूरकर उसे शुद्ध करता है उस जलको ही यदि कोई गदला करता है तो वह जिस प्रकार निन्दाका पात्र होता है, उसी प्रकार जो तप पूर्वोपार्जित पापको नष्ट करके आत्माको शुद्ध करनेवाला है उसे ही यदि कोई दुश्चरित्र साधु अपने पापाचरणसे मलिन करता है तो वह सबसे नीच ही कहा जावेगा। इस प्रकारके दुराचरणसे न जाने उसको कितने महान् दु ख सहने पडेगे ॥ १६७ ॥ लोकमें आश्चर्यजनक सैकडों कौतुक हैं, परन्तु उनमेसे ये दो कार्य हमे अतिशय आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं।

---

१ मु सर्वाधरोऽपर.।

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किं तु
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः ।
पीत्वामृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति ॥ १६८ ॥
इह विनिहतबह्वारम्भबाह्योरुशत्रो-
रुपचितनिजशक्तेर्नापरः कोऽप्यपायः ।

---

सन्त्येवेत्यादि । विस्मापक विस्मयजनकम् । न. अस्माकम् । तत् कौतुकम् । अलम् अत्यर्थेन । इह जगति । एतद्वक्ष्यमाणद्वयम् । विसृष्टपुण्याः परित्यक्तपुण्या ॥१६८॥ तस्मात्सयमनिधिम् अपरित्यजन्त सर्वसगपरित्याग कृत्वा रागनिर्मूलनाय यतन्तामिति शिक्षा प्रयच्छन्नाह-इहेत्यादि । तव नापरः कोऽप्यपायः दुःखहेतुकः । कथमूतस्येत्याह–

---

प्रथम तो आश्चर्य हमको उनपर होता है जो कि पहिले तो अमृतका पान करते हैं और फिर पीछे वमन करके उसे निकाल देते है । दुसरा आश्चर्य उनके ऊपर होता है जो कि पूर्वमे तो विशुद्ध सयमरूप निधिको ग्रहण करते है और तत्पश्चात् उसे छोड भी देते है । अभिप्राय यह है कि पूर्वमे तप संयमादिको स्वीकार करके भी जो पीछे फिरसे विषयोमे अनुरक्त होकर उसे छोड देता है इस प्रकारका हीन मनुष्य समझना चाहिये जो कि पूर्वमे अमृतको पी करके फिर पीछे उसे वमन द्वारा बाहिर निकाल देता है ॥ १६८ ॥ हे भव्य ! बहुत पापकर्मके आरम्भरूप बाहिरी शत्रुको नष्ट करके अपनी आत्मीक शक्तिको बढा लेनेवाले तेरे लिये अन्य कोई भी दुःखका कारण नही हो सकता है । तू राग-द्वेषादि-रूप आन्तरिक शत्रुओको नष्ट करनेका अभिलाषी होकर भोजन, शयन, गमन एव स्थिति आदि क्रियाओके विषयमे सावधान होता हुआ अपने सयमकी रक्षा कर ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार राजाको राज्यको भ्रष्ट कर देनेवाले बाह्य और अभ्यन्तर दो प्रकारके शत्रु होते है उसी प्रकार मुनियोको भी उस पदसे भ्रष्ट कर देनेवाले वे ही दो प्रकारके शत्रु होते हैं । यदि राजा बुद्धिमान है तो वह जिस प्रकार अपने बाह्य शत्रुओको-विद्वेषी अन्य राजा आदिकों– अपने अधीन रखता है, उसी प्रकार वह अपने काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष रूप अन्तरग शत्रुओ

अशनशयनयानस्थानदत्तावधानः
कुरु तव परिरक्षामान्तरान् हन्तुकामः ॥ १६९ ॥
अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचःपर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।

---

विनिहतेत्यादि । बहो. सावद्यकर्मणः आरम्भ बह्वारंभ विनिहतो बह्वारम एव बाह्य उरुर्महान् शत्रुर्येन । उपचितनिजशक्ते उपचिता पुष्टिं नीता सयमानुष्ठानेन निजा शक्तिर्येन । दत्तावधान. प्रयत्नपरः सन् । कुरु परिरक्षा सयमस्य । आन्तरान् रागादीन् ॥१६९॥ मनसो नियन्त्रणे चात्मनो रक्षा रागादिप्रक्षयश्च स्यात् । तस्य च नियन्त्रणमित्थ कर्तव्यमित्याह– अनेकान्तेत्यादि । अनेकान्तो धर्म आत्मा स्वरूप येषा ते च ते अर्थाश्च ते एव प्रसवफलानि पुष्पफलानि, तेषा भारः सघातस्तेन विनते ।

---

( अयुक्तितः प्रणीताः काम–क्रोध–लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानाम-न्तरङ्गोऽरिषड्वर्ग. । नीः वा. अरिषड्वर्गसमुद्देश १. ) को भी वशमे रखता है । इस प्रकारसे उसका राज्य नि सन्देह सुरक्षित रहता है । इसी प्रकारसें जो विवेकी साधु मुनिपदसे भ्रष्ट करनेवाले हिंसाजनक आर–म्भादिरूप बाह्य शत्रुओसे रहित होकर राग-द्वेषादिरूप अन्तरग शत्रुओंको भी जीतनेके लिये भोजन-शयनादि क्रियाओमे सदा सावधान रहता है– सयम व तपसे भ्रष्ट नही होता है वह भी निश्चयसे अपने साधुपदको सुरक्षित रखकर निराकुल सुखको प्राप्त करता है ॥ १६९ ॥
जो श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एव फलोंके भारसे अतिशय झुका हुआ है, वचनोरूप पत्तोसे व्याप्त है, विस्तृत नयोरूप सैकडो शाखाओसे युक्त है, उन्नत है, तथा समीचीन एवं विस्तृत मति-ज्ञानरूप जडसे स्थिर है उस श्रुतस्कन्धरूप वृक्षके ऊपर बुद्धिमान साधुके लिये अपने मनरूपी बदरको प्रतिदिन रमाना चाहिये ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार बदर स्वभावसे यद्यपि अतिशय चंचल होता है, परतु यदि उसे फल-फूलोंसे परिपूर्ण कोई विशाल वृक्ष उपलब्ध हो जाता है तो वह उपद्रव करना छोडकर उसके ऊपर रम जाता है । इसी प्रकार प्राणियोका मन भी अतिशय चंचल होता है, उसके निमित्तसे ही प्राणी बाह्य पर पदार्थोंमे इष्टानिष्टकी कल्पना करके राग-द्वेषको प्राप्त होते है । साधारण

**समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं**
**श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥ १७० ॥**

---

वच. पर्णाकीर्णे वचासि संस्कृतप्राकृतवचनानि तान्येव पर्णानि तै आकीर्णे युक्ते । विपुलेत्यादि– विपुलाः प्रचुराः ते च ते नयाश्च ते एव शाखाशतानि तै युक्ते सयुक्ते । समुत्तुङ्गे बृहति । सम्यक्प्रततमतिमूले सम्यक् समीचीना प्रतता विस्तीर्णा चासौ मतिश्च सा मूल कारण यस्य 'मतिपूर्वंश्रुतम्' इत्यभिधानात् । अथ वा समीचीन प्रतत प्रसृत मतिरेव मूल यस्य ॥ १७० ॥ श्रुतस्कन्धे मनो रमयन् इत्थ

---

मनुष्योकी तो बात ही क्या, किन्तु कभी कभी साधुओका भी मन चंचल हो उठता है–वे भोजनादिके विषयमे राग-द्वेषका अनुभव करने लगते हैं। इसीलिये यहा ऐसे हीं साधुको लक्ष्य करके यह उपदेश दिया गया है कि वह बन्दरके समान चचल अपने मनको श्रुतरूप वृक्षके ऊपर रमावे–उसके चिन्तनमे प्रवृत्त करे। जिस प्रकार वृक्ष फूलों और फलोके भारसे झुका हुआ होता है उसी प्रकार वह श्रुतरूप वृक्ष भी अनेक धर्मात्मक पदार्थोके भारसे ( विचारसे ) नम्रीभूत हैं, वृक्ष यदि पत्रोसे व्याप्त होता है तो यह श्रुतरूप वृक्ष भी पत्तोके समान अर्धमागधी आदि भाषाओरूप वचनोसे व्याप्त है, वृक्षमे जहा अनेको शाखाओंका विस्तार होता है वहा इस श्रुतरूप वृक्षमे भी उन शाखाओके समान नयोका विस्तार अधिक है, जैसे वृक्ष उन्नत ( ऊंचा ) होता है वैसे ही श्रुतवृक्ष भी उन्नत ( महान्–साधारण जनोको दुर्लभ ) है, तथा जिस प्रकार वृक्षको स्थिर रखनेवाली उसकी कितनी ही जडे फैली होती हैं, तथा उसी प्रकार अनेक ( ३३६ ) भेदोरूप जो विस्तृत मतिज्ञान है वह इस श्रुतरूप वृक्षकी गहरी जडके समान है जिसके कि निमित्तसे वह स्थिर होता है। इस प्रकार उस चचल मनको बाह्य विषयोकी ओरसे खीचकर इस श्रुतरूप वृक्षके ऊपर रमानेसे– श्रुतके अभ्यासमे लगानेसे–उसके निमित्तसे होनेवाली राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इससे कर्मोकी संवरपूर्वक निर्जरा होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है॥

जीवादिरूप वस्तु तदतत्स्वरूप अर्थात् नित्य ।न९ ९
होकर विरामको नही प्राप्त होती है, इस

**तदेव तदतद्रूपं प्राप्नुवन्न विरंस्यति ।**
**इति विश्वमनाद्यन्तं चिन्तयेद्विश्ववित् सदा ॥ १७१ ॥**

---

तत्व भावयेत् इत्याह– तदेवेत्यादि। तदेव जीवादिलक्षण वस्तु। तदतद्रूप नित्यानित्यरूप सदसदादिरूप वा[1]। प्राप्नुवन् न विरस्यति सावधि न भविष्यति न[2] विनश्यति वा। इति एव। विश्व जीवादिवस्तुप्रपञ्च.[3]। अनाद्यन्तम् आद्यन्तविहीनम् ॥ १७१ ॥ भ्रान्तमिद ज्ञान भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकुर्वन्नाह– एकमित्यादि। एक

---

जानकार विश्वकी अनादिनिधनताका विचार करे ॥ विशेषार्थ– पूर्व श्लोकमे यह निर्देश किया था कि साधुके लिये अपने चचल मनको श्रुतके अभ्यासमे लगाना चाहिये। इसीका स्पष्टीकरण करते हुए यहां यह बतलाया है कि आगममें वर्णित जीवजीवादि पदार्थोमेसे प्रत्येक विवक्षाभेदसे भिन्न भिन्न स्वरूपवाला है। जैसे– एक ही आत्मा जहा द्रव्यकी प्रधानतासे नित्य है वहा वह पर्यायकी प्रधानतासे अनित्य भी है। कारण यह कि आत्माका जो चैतन्य द्रव्य है उसका कभी नाश सम्भव नही है, वह उसकी समस्त पर्यायमे विद्यमान रहता है। जैसे– सुवर्णसे उत्तरोत्तर उत्पन्न होनेवाली कडा, कुण्डल एव सांकल आदि पर्यायोमे सुवर्णसामान्य विद्यमान रहता है। अतएव वह द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे नित्य कहा जाता है। परन्तु वही चूकि पर्यायकी अपेक्षा अनेक अवस्थाओमे भी परिणत होता हे–एकरूप नही रहता, इसीलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उक्त आत्माको अनित्य भी कहा जाता है। लोकव्यवहारमे भी कहा जाता है कि अमुक मनुष्य मर गया है, अमुकके यहा पुत्रजन्म हुआ है, आदि। यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनो ही धर्म परस्पर विरुद्ध अवश्य दिखते है तो भी विवक्षाभेदसे उनके माननेमे कोई विरोध नही आता। जैसे– एक ही देवदत्त नामका व्यक्ति अपने पुत्रकी अपेक्षा जिस प्रकार पिता कहा जाता है उसी प्रकार वह अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र भी कहा जाता है। इस प्रकारका व्यवहार लोकमे स्पष्टतया देखा जाता है, इसमे किसीको भी विरोध प्रतीत नही

---

१ प तदतद्रूप नित्यानित्यस्वरूप वा। २ प 'न' इत्येतन्नास्ति। ३ प प्रपच।

एकमेकक्षणे सिद्ध ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम् ।
अबाधितान्यतत्प्रत्ययान्यथानुपपत्तितः ।। १७२ ।।

---

जीवादि वस्तु । एकक्षणे एकस्मिन् समये । ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मका सिद्धम्- सिद्ध निर्णीतं ध्रौव्यात्मकं द्रव्यापेक्षया, उत्पाद-व्ययात्मकं पर्यायापेक्षया । कुतस्तदात्मक तत्सिद्धम् इत्याह- अबाधितेत्यादि । अबाधितौ च तौ अन्यतत्प्रत्ययौ च भेदाभेदप्रत्ययौ तयो अन्यथानुपपत्तित. । उक्त च- "भेदज्ञानात् प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि । अभेदज्ञानत' सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ।।" ।।१७२।। ननु ध्रौव्यादित्रितयात्मकत्व

---

होता । परन्तु हा, यदि कोई जिस पुत्रकी अपेक्षा किसीको पिता कहता है उसी पुत्रकी ही अपेक्षासे यदि उसे पुत्र भी कहता है तो उसका वैसा कहना निश्चित ही विरुद्ध होगा और इसीलिये वह निन्दाका पात्र होगा ही । इसी प्रकार जिस द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुको नित्य माना जाता है उसी द्रव्यकी अपेक्षा यदि कोई उसे अनित्य समझ ले तो उसके समझनेमे अवश्य ही विरोध रहेगा । परन्तु एक ही वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य माननेमे किसी प्रकारके भी विरोधकी सम्भावना नही रहती । इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुको अपेक्षाभेदसे सत् और असत्, एक और अनेक तथा भिन्न और अभिन्न आदि स्वरूपोके माननेमें किसी प्रकारका विरोध नही होता, बल्कि इसके विपरीत उसे दुराग्रहवश एक ही स्वरूप माननेमे अवश्य विरोध होता है । इस प्रकार साधुको श्रुतके चिन्तनमें- वस्तुस्वरूपके विचारमे- अपने मनको लगाना चाहिये । ऐसा करनेसे वह साधु निठल्ले मनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली राग-द्वेपमय प्रवृत्तिसे अवश्य ही रहित होगा ।। १७१ ।। एक ही वस्तु विवक्षित एक ही समयमे ध्रौव्य, उत्पाद और नाशस्वरूप सिद्ध है; क्योंकि इसके विना उक्त वस्तुमे जो भेद और अभेदरूप निर्बाध ज्ञान होता है वह घटित नही हो सकता है ।। विशेषार्थ- बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तको पाकर जीव और अजीव द्रव्य अपनी जातिको न छोडते हुए जो अवस्थान्तरको प्राप्त होते है, इसका नाम उत्पाद है -जैसे

---

अपनी पुद्गल जातिको न छोडकर मिट्टीके पिण्डक घट पर्यायको प्राप्त करना । उक्त दोनों ही कारणोसे द्रव्यकी जो पूर्व अवस्थाका नाश होता है इसे व्यय ( नाश ) कहा जाता है– जैसे उस घटकी उत्पत्तिमे उसी मिट्टीके पिण्डकी पिण्डरूप पूर्व पर्यायका नाश । अनादि पारिणामिक स्वभावसे वस्तुका उत्पाद और नाशसे रहित होकर स्थिर रहनेका नाम ध्रौव्य है । ये तीनो ही अवस्थाये प्रत्येक वस्तुमे प्रति समय रहती हैं। कारण यह कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, अतएव जहा विशेषरूपसे वस्तु (घट) का उत्पाद होता है वही उसका (मृत्पिण्डका) नाश भी होता है। परन्तु सामान्य (पौद्गलिकत्व) स्वरूपसे न वस्तुका उत्पाद होता है और न नाश भी–वह सामान्य (पुद्गल) स्वरूपसे दोनो ( घट और मृत्पिण्ड ) ही अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है । इस बातका समर्थन स्वामी सन्मतभद्राचार्यने निम्न दृष्टान्तके द्वारा किया है-घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ अर्थात् किसी सुनारने सुवर्णके घटको तोडकर उससे मुकुटको बनाया । इसको देखकर जो व्यक्ति घटको चाहता था वह तो पश्चात्ताप करता है, जो मुकुटको चाहता था वह हर्षित होता है, और जो सुवर्ण मात्रको चाहता था वह हर्ष-विषाद दोनोंसे रहित होकर मध्यस्थ ही रहता है ॥ आ मी. ५९. इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक समयमे उत्पाद, व्यय और ध्रोव्यस्वरूप है । ऐसा माननेपर ही उसके विषयमें होनेवाली भेदबुद्धि और अभेदबुद्धि सगत होती है, अन्यथा वह घटित नही हो सकती है; और वैसी बुद्धि होती अवश्य है । तभी तो भेदबुद्धिके कारण घटको टूटा हुआ देखकर उसका अभिलाषी दुःखी और मुकुटका अभिलाषी हर्षित होता है । किन्तु उन दोनो ही अवस्थाओमे अभेदबुद्धिके रहनेसे सुवर्णका अभिलाषी न दुःखी होता है और न हर्षित भी । इसलिये प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है; ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ १७२ ॥
जीव-अजीव आदि कोई भी वस्तु न सर्वथा स्थिर रहनेवाली ( नित्य )

**न स्थास्नु न क्षणविनाशि न बोधमात्रं**
**नाभावमप्रतिहतप्रतिभासरोधात् ।**

---

वस्तुनोऽनुपपन्नम् सर्वथा[1] नित्याद्येकैक रूपत्वात्तस्येत्याशङ्का निराकुर्वन्नाह–नेत्यादि। न स्थास्नु न सर्वथा नित्यैकरूप साख्यादिकल्पित जीवादितत्त्वम् । न क्षणविनाशि न सर्वथा क्षणिकरूप बौद्धकल्पितम् । न बोधमात्र ज्ञानाद्वैतवादिकल्पितम् । नाभाव न अभावमात्रं सकलशून्यवादिकल्पित तत्त्वम् । कुत । अप्रतिहतप्रतिभासरोधात्

---

है, न क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाली ( अनित्य ) है, न ज्ञानमात्र है और न अभावस्वरूप ही है; क्योंकि वैसा निर्बाध प्रतिभास नही होता है। जैसा कि निर्बाध प्रतिभास होता है, तदनुसार वह वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले तदतत् स्वरूप अर्थात् नित्य-अनित्यादिस्वरूपसे संयुक्त व अनादिनिधन है। जिस प्रकार एक तत्त्व नित्यानित्य, एक-अनेक एवं भेदाभेद स्वरूपवाला है उसी प्रकार समस्त तत्त्वोंका भी स्वरूप समझना चाहिये ।। विशेषार्थ– (१) साख्य दर्शनमें वस्तुको सर्वथा नित्य स्वीकार किया है उसका निराकरण करते हुए यहां यह कहा गया है कि वस्तु सर्वथा नित्य नही है, क्योकि वैसी निर्बाध प्रतीति नही होती है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही होती तो वह सदा एक स्वरूपमे ही देखनेमें आना चाहिये थी, परन्तु ऐसा है नही समयानुसार वह परिवर्तित रूपमे ही देखी जाती है। जो पूर्वमे दूध था वह कारण पाकर दहीके रूपमे परिणत देखा जाता है तथा जो पूर्वमे बालक था वह समयानुसार कुमार, युवा एव वृद्ध भी देखा जाता है। यह अनुभूयमान परिवर्तन कूटस्थ नित्य अवस्थामे सम्भव नही है। वैसी अवस्थामे तो जो वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार जितने प्रमाणमे हैं उतने ही प्रमाणमे सदा उपलब्ध होनी चाहिये, सो वैसा है नही। अतएव वस्तु सर्वथा नित्य नही है। (२) बौद्ध प्रत्येक वस्तुको क्षणनश्वर स्वीकार करते है। उनका कहना है कि वस्तु प्रत्येक क्षणमे भिन्न ही होती है, पूर्व पर्यायसे उत्तर पर्यायका कुछ भी सम्बन्ध नही है। बौद्ध दर्शनमे पूर्वोत्तर पर्यायोमे अन्वयस्वरूपसे प्रतिभासमान

---

१ प नित्याद्येक ।

**ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः ।**
**तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥**

---

यद्भाव्यमान तस्य मुक्ति प्रसाधयेदित्याह– ज्ञानस्वभा इत्यादि । स्वभावावाप्ति· कर्मापाये प्रादूर्भूतानन्तचतुष्टयस्वरूपप्राप्ति. । अच्युति· मुक्ति. ॥ १७४ ॥ ननु ज्ञाने

---

होता है। इस मतका खण्डन करते हुए यहा यह कहा है कि तत्त्व अभावस्वरूप भी नही है, क्योकि वैसी निर्बाध प्रतीति नही होती है। किंतु वह प्रतीति उसके विपरीत ही होती है-प्रत्यक्षमे देखे जानेवाले समस्त पदार्थ और उनके निमित्तसे होनेवाला सारा लोकव्यवहार यथार्थ ही प्रतीत होता है, न कि स्वप्नके समान अयथार्थ। यदि जगत्को सर्वथा शून्य ही माना जावे तो फिर शून्यैकान्तवादी न तो अपनेही अस्तित्वको सिद्ध कर सकेगे और न अन्य श्रोताओके भी। ऐसी अवस्थामें जगत्की उस शून्यताको कौन और किसके प्रति सिद्ध करेगा, यह सब ही सोचनीय हो जाता है। इस प्रकार युक्तिसे विचार करनेपर तत्त्वको सर्वथा अभावस्वरूप स्वीकार करना भी उचित नही प्रतीत तत्त्वकी यथार्थ व्यवस्था तो अनेकान्तके आश्रयसे-विविक्षा भेदके अनुसार-ही हो सकती है, न कि सर्वथा एकान्तस्वरूपसे ॥ १७३ ॥

आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है और उस अनतज्ञानादि स्वभावकी जो प्राप्ति है, यही उस आत्माकी अच्युति अर्थात् मुक्ति है। इसलिये मुक्तिकी अभिलाषा करनेवाले भव्यको उस ज्ञानभावनाका चिन्तन करना चाहिये ॥ **विशेषार्थ**– पूर्व श्लोकमे यह बतलाया था कि जितने भी जीवाजीवादि पदार्थ है वे सब ही विवक्षाभेदसे नित्यानित्यादि अनेक स्वभाववाले है। यह कथचित् नित्यानित्यदिरूपता उक्त सब ही पदार्थोका साधारण स्वरूप है। इसपर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यह समस्त पदार्थोका साधारण स्वरूप है तब आत्माका असाधारण स्वरूप क्या है जिसका कि चिन्तन किया जा सके। इसके उत्तर स्वरूप यहा यह बतलाया है कि आत्माका असाधारण स्वरूप ज्ञान है और वह अविनश्वर है। जो भी जिस पदार्थका असाधारण स्वरूप होता है वह सदा उसके साथ ही रहता है– जैसे कि अग्निका उष्णत्व स्वरूप। इस

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥ १७५ ॥

---

श्रुतभावनास्वभावे पृथक्त्वैकरूपशुक्लध्यानात्मके च भाव्यमाने किं फलं स्यादित्याशङ्क्याह[1]– ज्ञानमित्यादि । अनश्वरम् अनन्तम् । अन्यदपि अणिमामहिमादि लाभपूजादि वा । अत्र ज्ञाने ॥ १७५ ॥ श्रुतज्ञानभावनाया प्रवृत्तयोर्भव्याभव्ययो' किं

---

प्रकार यद्यपि आत्माका स्वरूप ज्ञान है और वह अविनश्वर भी है तो भी वह अनादि कालसे ज्ञानावरण एवं मोहनीय आदि कर्मोके निमित्तसे विकृत ( राग-द्वेषबुद्धिस्वरूप ) हो रहा है– जैसे कि अग्निके सयोगसे जलका शीतल स्वभाव विकृत होता है। अग्निका संयोग हट जानेपर जिस प्रकार वह जल अपने स्वभावमे स्थित हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोके हट जानेपर आत्मा भी अपने स्वाभाविक अनन्तचतुष्टयमें स्थित हो जाता है। बस इसीका नाम मोक्ष है। इसीलिये यहा मुमुक्षु जनसे यह प्रेरणा की गई है कि आप लोग यदि उस मोक्षकी अभिलाषा करते है तो आत्माका स्वरूप जो ज्ञान है उसीका बार बार चिन्तन करें, क्योंकि एक मात्र वही अविनश्वर स्वभाव उपादेय है– शेष सब विनश्वर पर पदार्थ (स्त्री-पुत्र एवं धन आदि) हेय है। इस प्रकारकी भावनासे उस मोक्षकी प्राप्ति हो सकेगी ॥ १७४ ॥

ज्ञानस्वभावका विचार करनेपर प्राप्त होनेवाला उसका फल भी वही ज्ञान है जो कि प्रशंसनीय एव अविनश्वर है। परन्तु आश्चर्य है कि अज्ञानी प्राणी उस ज्ञानभावनाका फल ऋद्धि आदिकी प्राप्ति भी खोजते है, यह उनके उस प्रबल मोहकी महिमा है॥ **विशेषार्थ**– उक्त ज्ञानभावनाके चिन्तनसे क्या फल प्राप्त होता है, इस जिज्ञासाकी पूर्तिस्वरूप यहा यह बतलाया है कि उक्त ज्ञानभावना (श्रुतचिन्तन) का फल भी उसी ज्ञानकी प्राप्ति है। कारण यह कि श्रुतज्ञानका विचार करनेपर साक्षात् फल तो उन उन पदार्थोके विषयमे जो अज्ञान था वह नष्ट होकर तद्विषयक ज्ञानकी परिप्राप्ति है, तथा उसका पारम्परित फल निर्मल एवं

---

१ प स्यादित्याह ।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।
अङ्गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥ १७६ ॥

---

फल स्यादित्याह– शास्त्रेत्यादि । शास्त्रमेव अग्नि यथावद्वस्तुस्वरूपप्रकाशकत्वात् ससाराटवीदाहहेतुत्वाच्च । मणिवत् पुष्परागादिरत्नवत् । विशुद्धो निर्मलो । भाति शोभते । निर्वृत सुखीभूतो मुक्तो वा सन् । खल अभव्य. । दीप्त. शास्त्राग्निना प्रकाशमान' । मली मिथ्याज्ञानेन मलिन । उभयत्र वा-शब्दः परस्परसमुच्चये । भस्म दर्शनमोहोदये ( न ) अनन्तानुवन्धिक्रोधाद्युदयेन च भस्म वा भवेत् पदार्थप्रकाशशून्यो भवेदित्यर्थः ॥ १७६ ॥ ध्यानसामग्री दर्शयन्नाह- मुहुरित्यादि ।

---

अविनश्वर केवलज्ञानकी प्राप्ति है । इस तरह दोनों भी प्रकारसे उसका फल ज्ञानकी ही प्राप्ति है । उसका फल जो ऋद्धि-सिद्धि आदि माना जाता है वह अज्ञानतासे ही माना जाता है । कारण यह कि जिस प्रकार खेतीका वास्तविक फल अन्नका उत्पादन होता है, न कि भूसा आदि-वह तो अन्नके साथमें अनुषगस्वरूपसे होनेवाला ही है । इसी प्रकार श्रुतभावनाका भी. वास्तविक फल केवलज्ञानकी प्राप्ति ही है, उनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली ऋद्धियो आदिकी प्राप्ति तो उक्त भूसेके समान उसका अनुषंगिक फल है । अतएव जिस प्रकार कोई भी किसान भूसप्राप्तिके विचारसे कभी खेती नही करता है, किन्तु अन्नप्राप्तिके ही विचारसे करता है; उसी प्रकार विवेकी जनोको भी उक्त केवलज्ञानकी प्राप्तिके विचारसे ही श्रुतभावनाका चिन्तन करना चाहिये, न कि ऋद्धि आदिकी प्राप्ति इच्छासे ॥१७५॥ शास्त्ररूप अग्निमे प्रविष्ट हुआ भव्य जीव तो मणिके समान विशुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है । किन्तु दुष्ट जीव ( अभव्य ) उस शास्त्ररूप अग्निमें प्रदीप्त होकर मलिन व भस्मस्वरूप हो जाता है ॥ विशेषार्थ- जिस प्रकार पद्मरागादि मणिको अग्निमें रखनेपर वह मलसे रहित होकर अतिशय निर्मल हो जाता है और सदा वैसा ही रहता है उसी प्रकार श्रुतभावनाका विचार करनेपर भव्य जीव भी राग-द्वेषादिरूप मलसे रहित होकर विशुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है और सदा उसी अवस्थामे प्रकाशमान रहता है । इसके विपरीत जिस प्रकार अग्निके मध्यमें स्थित अंगार यद्यपि उस समय अतिशय दैदीप्यमान होता है तो

मुहुः प्रसार्य संज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥

---

मुहु. प्रसार्य पुन. विस्तीर्य[1] प्रीत्यप्रीती रागद्वेपौ । अध्यात्मवित् आत्मस्वरूपवेदको मुनि. ॥ १७७ ॥ प्रीत्यप्रीती निराकृत्य कुतो ध्यायेदिति चेत् तयो. ससारनिवन्धन-

---

भी पीछे वह मलिन कोयला अथवा भस्म वन जाता है उसी प्रकार उक्त श्रुतभावनाके विचारसे अभव्य जीव भी यद्यपि उस समय ज्ञानादिके प्रभावसे प्रकाशमान होता है तो भी वह मिथ्याज्ञानसे पदार्थोंको जान करके मलिन तथा मिथ्यादर्शन व अनन्तानुवन्धीके प्रभावमें उनमें राग-द्वेषवुद्धिको प्राप्त होकर भस्मके समान पदार्थज्ञानसे रहित हो जाता है । यहा शास्त्रमे जो अग्निका आरोप किया गया है वह इसलिये किया गया है कि जिस प्रकार अग्नि वस्तुको प्रकाशित करती है और इन्धनको जलाती भी है उसी प्रकार शास्त्र भी वस्तुस्वरूपको प्रकाशित करता है और कर्मरूप इन्धनको जलाता भी है। इस प्रकार उन दोनोमें प्रकाशकत्व एव दाहकत्वरूप समान धर्मोको देखकर ही वैसा आरोप किया गया है ॥१७६॥ आत्मतत्त्वका जानकर मुनि वार वार सम्यग्ज्ञानको फैलाकर जैसा कि पदार्थोका स्वरूप है उसी रूपसे उनको देखता हुआ राग और द्वेषको दूर करके ध्यान करे ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि आत्महितैषी जीवको सबसे पहले सम्यग्ज्ञानके द्वारा जीवाजीवादि पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये । ऐसा होनेपर आत्मस्वरूपकी जानकारी हो जानेसे उसकी उस ओर रुचि होगी । इसके अतिरिक्त वाह्य पर पदार्थोंमें इष्टानिष्टवुद्धिके न रहनेसे रागद्वेषरूप प्रवृत्ति भी नष्ट हो जावेगी जिससे कि वह एकाग्र चित्त होकर ध्यानमे लीन हो सकेगा । कारण यह कि राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिके होते हुए उस ध्यानकी सम्भावना नही है ॥ १७७ ॥ मथनीका अनुकरण करनेवाले

---

[1] ष विस्तार्य ।

वेष्टनोद्वेष्टने यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवार्णवे ।
आवृत्तिपरिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥ १७८ ॥

---

कर्मोपार्जनहेतुत्वात् एतदेवाह– वेष्टनेत्यादि । वेष्टनोद्वेष्टने कर्मणो बन्ध-निर्जरे मन्थवत्प्रसिद्ध (द्धे) प्रीत्यप्रीतिवशान् खलु कर्मण उपार्जननिर्जरे । ते वेष्टनोद्वेष्टने यावत् तावत् जन्तो भ्रान्ति. भ्रमणम् । भवार्णवे ससारसमुद्रे । काभ्याम् । आवृत्तिपरिवृत्तिभ्या गमनागमनाभ्याम् आकर्षण-मोचनाभ्याम् इत्यन्यत् ॥ १७८ ॥

---

जीवके जबतक रस्सीके बंधने और खुलनेके समान कर्मोका बन्ध और निर्जरा ( सविपाक ) होती है तबतक उक्त रस्सीके खीचने और ढीली करनेके समान राग और द्वेषसे उसका ससाररूप समुद्रमे परिभ्रमण होता ही रहेगा ॥ विशेषार्थ– यहा जिवको मन्थनदण्ड ( मथानी ) के समान बतलाया है । उससे सम्बद्ध कर्म उस मन्थनदण्डके ऊपर लिपटी हुई रस्सीके समान है, उसकी राग और द्वेषमय प्रवृत्ति उक्त रस्सीको एक ओरसे खीचने और दूसरी ओरसे कुछ ढीली करनेके समान है, तथा उससे होनेवाला बन्ध और सविपाक निर्जरा उस रस्सीके बधने और उकलनेके समान है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मथानीमे लिपटी हुई रस्सीको एक ओरसे खीचने और दूसरी ओरसे ढीली करनेपर वह रस्सी बधती व उकलती ही रहती है तथा इस प्रकारसे वह मन्थनदण्ड बराबर घूमता ही रहता है– उसे विश्रान्ति नही मिलती । हां, यदि उस रस्सीको एक ओरसे सर्वथा छोडकर दूसरी ओरसे पूरा ही खीच लिया जाय तो फिर उसका इस प्रकारसे बंधना और उकलना चालू नही रह सकेगा । तब मन्थनदण्ड स्वयमेव स्थिर– परिभ्रमणसे रहित हो जावेगा । ठीक इसी प्रकारसे जबतक जीवकी राग-द्वेषरूप प्रवृत्ति चालू रहती है तबतक वह कर्मोका बन्ध करके और उनका फल भोगकर निर्जरा भी करता ही रहता है । कारण यह कि रागद्वेषसे जिन नवीन कर्मोका बन्ध होता है उनके उदयमे आनेपर जीव तत्कृत सुखदु.खरूप फलको भोगता हुआ फिर भी राग-द्वेषरूप परिणमन करता है । इस प्रकारसे यह क्रम जबतक चालू रहता है तबतक प्राणी चतुर्गतिरूप इस ससारमें परिभ्रमण करता ही रहता है । परन्तु यदि वह रागद्वेषसे बाधे गये उन कर्मोको तपश्चरणादिके द्वारा अविपाक निर्जरास्वरूपसे नष्ट कर देता है तो फिर राग-द्वेषरूप परिणतिसे रहित हो जानेके कारण उसके नवीन

मुच्यमानेन पाशेन भ्रान्तिर्बन्धश्च मन्थवत् ।
जन्तोस्तथासौ मोक्तव्यो येनाभ्रान्तिरबन्धनम् ॥ १७९ ॥

---

उद्वेष्टन किंचिज्जिन्तोर्भ्रान्तेर्बन्धस्य च कारण किंचिन्नेति दर्शयन्नाह– मुच्यमानेनेत्यादि। मुच्यमानेन उद्वेष्ट्यमानेन[1] निर्जीर्यमाणेनेत्यर्थः। पाशेन कर्मबन्धेन। भ्रान्तिर्बन्धश्च भ्रान्ति ससारे पर्यटन बन्धश्च पूर्वकर्मोपार्जनं रागद्वेषसद्भावात् प्रसिद्ध अन्यत्र तथा[2] रागद्वेषपरिहारत. सवरविधानेन। असौ पाश॥ ॥ १७९ ॥ कथ पुनर्जन्तोर्बन्धोऽबन्धश्चेत्याह– रागेत्यादि। प्रवृत्त्यवृत्तिभ्या[3] प्रवृत्ति

---

कर्मोका बन्ध नही होता है। और तब संवर एवं निर्जराके आश्रयसे उसका ससारपरिभ्रमण भी नष्ट हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जबतक प्राणी राग-द्वेषरूप परिणमन करता है तबतक उसका चित्त स्थिर नही रह सकता है, और जबतक चित्त स्थिर नही होता है तबतक ध्यानकी प्राप्ति नही हो सकती है। अतएव ध्यानकी प्राप्तिके लिये राग-द्वेषसे रहित होना अनिवार्य है ॥ १७८ ॥ छोडी जानेवाली रस्सीकी फासीके द्वारा मथानीके समान जीवके नवीन बन्ध और परिभ्रमण चालू रहता है। अतएव उसको इस प्रकारसे छोडना चाहिये कि जिससे फिरसे बन्धन और परिभ्रमण न हो सके ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार मथानीमे फासीके समान लिपटी हुई रस्सी यदि एक ओरसे खीचनेके साथ दूसरी ओरसे ढीली की जाती है तब तो मथानीका बधना व घूमना बराबर चालू ही रहता है। किन्तु यदि उस रस्सीको दोनो ओरसे ही ढीला कर दिया जाता है तो फिर मथानीके घूमनेकी क्रिया सर्वथा बन्द हो जाती है। ठीक इसी प्रकारसे जीवको फासी स्वरूप सम्बद्ध कर्मको यदि सविपाक निर्जराके द्वारा राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिके साथ छोडते है– निर्जीर्ण करते है– तब जो जीवके नवीन कर्मोका बन्ध और ससार परिभ्रमण पूर्ववत् बराबर चालू रहता है। परन्तु यदि उक्त कर्मरूप फासीको अविपाक निर्जरापूर्वक राग-द्वेषसे रहित होकर छोडा जाता है तो फिर उसके नवीन कर्मोका बन्ध और ससारपरिभ्रमण दोनों ही रुक जाते है। अतएव सविपाक निर्जरा हेय और अविपाक निर्जरा उपादेय है, यह अभिप्राय यहा ग्रहण करना चाहिये ॥ १७९ ॥ राग

---

१ ज स 'उद्वेष्ट्यमानेन' इति नास्ति। २ प 'तथा' इति नास्ति।
३ ज स प्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्या।

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम्
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः ॥ १८० ॥
द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम् ।
तद्विपरीता पुण्यं तदुभयरहितं तयोर्मोक्षम् ॥ १८१ ॥

---

: स्त्र्यादौ व्रतग्रहणादौ वा रागेण, अप्रवृत्ति तत्रैव भोजनादौ च द्वेषेण। तत्त्वज्ञानकृताभ्या ताभ्याम् एव प्रवृत्त्यवृत्तिभ्यामेव। तत्कृता हि प्रवृत्तिः व्रतसमितिगुप्त्यादौ अप्रवृत्ति. पुन. अव्रतादौ ॥ १८० ॥ ननु बन्धो भवति पापरूप पुण्यरूपश्च, स च कुतो जायते कुतो वा तदुभयाभाव' इत्याशङ्क्याह– द्वेषेत्यादि। गुणे सम्यग्दर्शनादौ द्वेषबुद्धि त्यागबुद्धि कृता, मिथ्यादर्शनादौ अनुरागबुद्धि. उपादानबुद्धि कृता। तद्विपरीता गुणेऽनुरागबुद्धि दोषे द्वेषबुद्धि। तदुभयरहिता राग-द्वेषरहिता। तयोः पुण्यपापयो। मोक्षम् आस्रवनिरोध निर्जरा च ॥ १८१ ॥

---

और द्वेषके द्वारा की गई प्रवृत्ति और निवृत्तिसे जीवके बन्ध होता है तथा तत्वज्ञानपूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्तिके द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है। विशेषार्थ– जीव जबतक बाह्य पर पदार्थोंमें इष्ट और अनिष्टकी कल्पना करता है तबतक उसके जिस प्रकार इस पदार्थके सयोगमे हर्ष और उसके वियोगमें विषाद होता है उसी प्रकार अनिष्ट पदार्थके सयोगमे द्वेष और उसके वियोगमे हर्ष भी होता है। इस प्रकारसे जबतक उसकी इष्ट वस्तुके ग्रहणादिमे प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तुके विषयमें निवृत्ति होती है तबतक उसके कर्मोका बन्ध भी अवश्य होता है। इसके विपरीत जब वह तत्वज्ञानपूर्वक अनिष्ट हिंसा आदिके परिहार और इष्ट (तप-सयम आदि) के ग्रहणमे प्रवृत्त होता है तब उसके नवीन कर्मोके बन्धका अभाव (सवर) और पूर्वसचित कर्मोकी निर्जरा होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसलिये यह ठीक ही कहा गया है कि 'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।' अर्थात् रागी जीव तो कर्मको बाधता है और वीतराग उससे मुक्त होता है– निर्जरा करता है इसी प्रकार पुरुषार्थसिद्धचुपाय (२१२–२१४) में भी रागको बन्धका कारण और रत्नत्रयको बन्धाभावका कारण बतलाया गया है॥ १८० ॥ गुणके विषयमे की गई द्वेषबुद्धि तथा दोषके विषयमे की गई

---

अनुरागबुद्धि, इनसे पापका उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुणके विषयमे होनेवाली अनुरागबुद्धि और दोषके विषयमे होनेवाली द्वेषबुद्धिसे पुण्यका उपार्जन होता हे। तथा उन दोनोंसे रहित-अनुरागबुद्धि और द्वेषबुद्धिके विना-उन दोनो (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् सवरपूर्वक निर्जरा होती है ॥ **विशेषार्थ**— जीवकी प्रवृत्ति तीन प्रकारकी होती है— अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमे अशुभ प्रवृत्ति व्रत-सयमादिसे द्वेष रखकर दुर्व्यसनादिमे अनुराग रखनेसे होती है और वह पापबधनकी कारण होती है। इसके विपरीत शुभ प्रवृत्ति उन दुर्व्यसनादिको अनिष्ट समझकर व्रत-सयमादिमें अनुराग रखनेसे होती है और वह पुण्यबन्धकी कारण होती है। इनके अतिरिक्त राग और द्वेष इन दोनोसे ही रहित होकर जो आत्मध्यानरूप जीवकी प्रवृत्ति होती है वह है उसकी शुद्ध प्रवृत्ति और वह उपर्युक्त पाप और पुण्य दोनोके ही नाशका कारण होती है। यह अन्तिम प्रवृत्ति (शुद्धोपयोग) ही जीवको उपादेय है। परतु जबतक वह शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति सम्भव नही है तबतक जीवके लिये उस अशुभ प्रवृत्तिको छोडकर शुभप्रवृत्तिको अपनाना भी योग्य है। परतु अशुभ प्रवृत्ति तो सर्वथा और सर्वदा हेय ही है। उदाहरणके रूपमे जैसे ब्रह्मचर्य सर्वदा और सर्वथा ही उपादेय है। परंतु जो उसका सर्वथा पालन नही कर सकता है उसके लिये यह भी अच्छा है कि किसी योग्य कन्याको सहधर्मिणीके रूपमे स्वीकार करके अन्य स्त्रियोकी ओरसे विरक्त होता हुआ केवल उसीके साथ अनासक्तिपूर्वक विषयसुखका अनुभव करे। इसके विपरीत स्वस्त्री और परस्त्री आदिका भेद न करके स्वेच्छाचारितासे आसक्तिके साथ विषयभोग करना, यह सर्वथा निन्द्य ही समझा जाता है— उसकी प्रशसा कभी भी किसीके द्वारा नही की जाती है। यही भाव यहां अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोगके भी विषयमे समझना चाहिये ॥ १८१ ॥ जिस प्रकार बीजसे जड और अकुर उत्पन्न

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥
पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरुक् ।
त्यागजात्यादिना मोहव्रणः शुद्धयति रोहति ॥ १८३ ॥

---

यदि राग-द्वेषयोः उक्तप्रकार- बन्धहेतुत्व तदा कुतस्तयो प्रादुर्भाव इत्याह-मोह इत्यादि । मोह एव बीज कारण तस्मात् । तत् मोहबीज[1] एतौ रति-द्वेषौ । निर्दिधिक्षुणा दग्धुमिच्छुना ॥ १८२ ॥ स च अनयोर्बीजभूतो मोहं. कीदृश. किं च तद्विनाशे कारणमित्याह-पुराण इत्यादि । मोह एव व्रणो मोहव्रण ।' कीदृश । पुराणः अनादिकालीनो बहुकालीनश्च । ग्रहदोषोत्थ – मोहपक्षे परिग्रहग्रहणलक्षण-दोषादुत्थान यस्य व्रणपक्षे तु ग्रहदोषै. उत्था उत्थान प्रादुर्भावो यस्य । गम्भीरः महान् । सगतिः नरकादिगतियुक्त अन्यत्र नाडीयुक्त । सरुक् पीडायुक्तः । त्याग. सर्वसगपरित्याग स एव जात्यादि घृत तेन मोहव्रण शुद्धयति रोहति, व्रणस्तु जात्यादिघृतेन ॥ १८३ ॥ मोहव्रण शोषयितु चेच्छता विपन्नेष्वपि बन्धुषु शोको न

---

होते हैं उसी प्रकार मोहरूप बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिये जो इन दोनो ( राग-द्वेष ) को जलाना चाहता है उसे ज्ञानरूप अग्निके द्वारा उस मोहरूप बीजको जला देना चाहिये ।। **विशेषार्थ**- जिस प्रकार वृक्षकी जड और अकुरका कारण बीज है उसी प्रकार राग और द्वेषकी उत्पत्तिका कारण मोह ( अविवेक ) है अतएव जो वृक्षके अंकुर और जडको नही उत्पन्न होने देना चाहता है वह जिस प्रकार उक्त वृक्षके बीजकोही जला देता है । उसी प्रकार जो आत्महितैषी उन राग और द्वेषको नही उत्पन्न होने देना चाहता है उसे उनके कारणभूत उस मोहको ही सम्यग्ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जलाकर नष्ट कर देना चाहिये। इस प्रकारसे वे राग-द्वेष फिर न उत्पन्न हो सकेंगे ।। १८२ ।। मोह एक प्रकारका घाव है, क्योकी वह घाव की समान ही पीडाकारक है । जिस प्रकार पुराना ( बहुत समयका ), शनि आदि ग्रहके दोषसे उत्पन्न हुआ, गहरा, नससे सहित और पीडा देनेवाला घाव औषधयुक्त घी (मलहम) आदिसे शुद्ध होकर- पीव आदिसे रहित होकर- भर जाता है उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादिकालसे जीवके साथ रहनेवाला, परिग्रहके

---

[1] प तस्माद् मोहबीज ।

सुहृदः सुखयन्तः स्युर्दुःखयन्तो यदि द्विषः ।
सुहृदोऽपि कथं शोच्या द्विषो दुःखयितुं मृताः ॥ १८४ ॥
अपरमरणे मत्वात्मीयानलङ्घ्यतमे रुदन्
विलपति तरां स्वस्मिन् मृत्यौतथास्य जडात्मनः ।

---

कर्तव्य इत्याह– सुहृद इत्यादि । सुहृदः मित्राणि । सुखयन्तः सुख कुर्वन्तः । दुःखयन्तः दुःख कुर्वन्तः । द्विषः शत्रवः । द्विषो दुःखयितु मृताः दुःख कर्तु मृताः सन्तो द्विषः ॥ १८४ ॥ सुहृदा मरणे शोकप्रदुःखो भवान् किं करोतीत्याह– अपरेत्यादि । अपरेषा मित्र-पुत्रकलत्रादीना मरणे । कथंभूते अलङ्घ्यतमे अतिशयेन अशक्यप्रतिविधाने । मत्वा आत्मीयान् मदीया एते इति मत्वा । रुदन् । तथा

---

ग्रहणरूप दोपसे उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्), नरकादि दुर्गतिका कारण और आकुलतारूप रोगसे सहित ऐसा वह घावके समान कष्टदायक मोह भी उक्त परिग्रहके परित्यागरूप मलहमसे शुद्ध होकर ( नष्ट होकर ) ऊर्ध्वगमन (मुक्तिप्राप्ति) मे सहायक होता है ॥१८३॥ यदि सुखको उत्पन्न करनेवाले मित्र और दु खको उत्पन्न शत्रु माने जाते है तो फिर जब मित्र भी मर करके वियोगजन्य दुखको करनेवाले हैं तव वे भी शत्रु ही हुए। फिर उनके लिये शोक क्यो करना चाहिये? नही करना चाहिये ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जो प्राणिको सुख देता है वह मित्र माना जाता हैं और जो दुःख देता है वह शत्रु माना जाता है। यह लोकप्रसिद्ध वात है। अब यदि विचार करे तो प्राणी जिन पिता, पुत्र एव बन्धु आदिको मित्रके समान सुखदायक मानता है वे भी सदा सुख देनेवाले नही होते। कारण कि जब उनका मरण होता है तब उनके वियोगमें वह अत्यधिक दुःखी होता है। ऐसी अवस्थामे वे मित्र कैसे रहे– दु.खदायक होनेसे वे भी शत्रु ही हुए। फिर उनके निमित्त जो यह प्राणी शोकसतप्त होता है वह अपनी अज्ञानताके कारण ही होता है। अतएव अज्ञानताके कारणभूत उस मोहको ही नष्ट करना चाहिये ॥ १८४॥ जो जडबुद्धि जीव दूसरे स्त्री, पुत्र एव मित्र आदिके अपरिहार्य मरणके होनेपर उन्हें अपना समझ करके रोता हुआ अतिशय विलाप करता है तथा अपने मरणके भी उपस्थित होनेपर जो उसी प्रकारसे विलाप करता है उस

**विभयमरणे भूयः साध्यं यशः परजन्म वा**
**कथमिति सुधीः शोकं कुर्यान्मृतेऽपि न केनचित् ॥ १८५ ॥**
***हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम् ।***
**तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः ॥ १८६ ॥**

---

स्वस्मिन् मृत्यौ सति विलपति तराम् अतिशयेन आक्रन्दति विभयमरणे गलर्गजित कृत्वा (आक्रन्दति गलर्गजित कृत्वा । विभयमरणे) सन्यासमरणे सति । यत्साध्य भूयो महत् यश परजन्म वा तत्कथम् अस्य जडात्मन स्यात् । इति हेतो । सुधी शोक न कुर्यात् । केनचित् केनापि प्रकारेण ॥ १८५ ॥ मृतेऽपि कस्मिश्चिदात्मीये कुतश्चाय शोको जायते किंहेतुश्चेत्याह[1]– हानेरित्यादि । सुखी स्यात्सर्वदा सुधी· सुविवेकी सर्वदा अभिलषितार्थाना सपत्तिविपत्त्यवस्थयो सुखी स्यात् ॥ १८६ ॥ य

---

जडबुद्धिके निर्भयतापूर्वक मरण ( समाधिमरण ) को प्राप्त होनेपर जिस महती कीर्ति और परलोककी सिद्धि हो सकती थी वह कैसे हो सकती है? अर्थात् नही हो सकती है। अतएव बुद्धिमान मनुष्यको मरणके प्राप्त होनेपर किसी प्रकारसे शोक नही करना चाहिये ॥ **विशेषार्थ**– जिसने जन्म लिया है वह मरेगा भी अवश्य– कोई भी उसके मरणको रोक नही सकता है। इस प्रकार जब यह एक निश्चित सिद्धान्त है तब जो स्त्री, पुत्र एव मित्र आदि प्रत्यक्षमे अपनेसे भिन्न है– अपने नही है– उन्हे अपना मानकर यह प्राणी उनका मरण होनेपर क्यो रोता व शोक करता है, यह शोचनीय है। इसी प्रकार जब वह स्वयं भी मरणोन्मुख भी विलाप करता है। इससे उसकी अपकीर्ति तो होती ही है, साथ ही परलोक भी बिगडता है। अतएव यदि वह निर्भयतापूर्वक समाधिमरणको स्वीकार करता है तो इससे उसकी कीर्तिका भी प्रसार होगा, साथ ही परलोकमे स्वर्गादि अभ्युदयकी भी सिद्धि अवश्य होगी। इसीलिये विवेकी जनका यह कर्तव्य है कि जब मरण सबका अनिवार्य है तव वह अपने और अन्य किसी सम्बन्धीके भी मरणके समय शोक न करे ॥ १८५ ॥ इष्ट वस्तुकी हानिसे शोक और फिर उससे दुःख होता है तथा उसके लाभसे राग और फिर उससे सुख होता है। इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्यको इष्टकी हानिमे शोकसे रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिये ॥ **विशेषार्थ**– दु.खका कारण शोक और उस शोकका भी कारण

---

[1] ज.कस्याय हेतुश्च° ।

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ॥ १८७ ॥

---

अत्र सुखी स अन्यत्र कीदृश इत्याह- सुखीत्यादि। समश्नुते प्राप्नोति । सकलसन्यास सर्वसगपरित्याग । तस्य विपर्यय सर्वसगपरित्यागाभावः ॥ १८७ ॥ ननु

---

इष्टसामग्रीका अभाव है। इसी प्रकार सुखका कारण राग और उस रागका भी कारण उक्त इष्टसामग्रीकी प्राप्ति है। परन्तु यथार्थमे यदि विचार करे तो कोई भी बाह्य पदार्थ न तो इष्ट है और न अनिष्ट भी- यह तो अपनी रुचिके अनुसार प्राणीकी कल्पना मात्र है। कहा भी है- अनादौ सति ससारे केन कस्य न बन्धुता। सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥ अर्थात् ससार अनादि है। उसमे जो किसी समय वन्धु रहा है वही अन्य ससारमें शत्रु भी रह सकता है। इससे यही निश्चित होता है कि इस अनादि ससारमे न तो वास्तवमे कोई मित्र है और न कोई शत्रु भी। यह सब प्राणीकी कल्पना मात्र है ॥ क्ष. चू. १-६१ इसीलिये विवेकी जन ममत्वबुद्धिसे रहित होकर इष्टकी हानिमे कभी शोक नही करते। इससे वे सदा ही सुखी रहते है ॥ १८६ ॥ जो प्राणी इस लोकमे सुखी है वह परलोकमे भी सुखको प्राप्त होता है तथा जो इस लोकमें दु.खी है वह परलोकमे भी दु.खको प्राप्त करता है। कारण यह कि समस्त इन्द्रियविषयोसे विरक्त होनेका नाम सुख और उनमे आसक्त होनेका नाम ही दु.ख है ॥ **विशेषार्थ-** आकुलताका नाम दु.ख और उसके अभावका नाम सुख है। जो प्राणी विषयभोगोकी तृष्णासे युक्त होकर अपनी इच्छानुसार उन्हे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है वह व्याकुल होकर जैसे इस लोकमे परिश्रमजन्य दु.खको सहता है वैसे ही वह उक्त विषयोके लाभालाभमे हर्ष व विषादको प्राप्त होता हुआ पापकर्मको उपार्जित करके परलोकमे भी दुर्गतिके दु.खको सहता है। इसके विपरीत जो स्वेच्छासे उन विषय-भोगोकी अभिलाषा न करके उन्हे छोड देता है और तप-सयमको स्वीकार करता है वह निराकुल रहकर जैसे इस लोकमे सुखका अनुभव करता है वैसे ही वह राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण पाप कर्मसे रहित होकर परलोक ( स्वर्गादि ) मे भी सुखका अनुभव करता है ॥ १८७ ॥ यहां ससारमे एक मरणसे

मृत्योर्मृत्यन्तरप्राप्तिरुत्पत्तिरिह देहिनाम् ।
तत्र प्रमुदितान् मन्ये पाश्चात्ये पक्षपातिनः ॥ १८८ ॥
अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो
यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ।

---

पुत्रादिमृत्यो. शोक तदुत्पत्तेस्तु प्रमोदस्तत्र केयमुत्पत्तिनमित्याह– मृत्योरित्यादि । मृत्यो. पूर्वशरीरत्यागात् । मृत्यन्तरप्राप्तिः उत्पत्ति– उत्पत्ते. उत्तरमृत्युना अविनाभावित्वादुपचारादुत्पत्तिरेव मृत्यन्तरशब्देनोच्यते, तस्य प्राप्ति । तस्मिन् मृत्यन्तरे । पाश्चात्ये पश्चाद्भवे ॥ १८८ ॥ अथेदानी सर्वसगत्यागिनो मृत्यूत्पत्त्योः

---

जो दूसरे मरणकी प्राप्ति है, यही प्राणियोकी उत्पत्ति है । इसलिये जो जीव उत्पत्तिमे हर्षको प्राप्त होते हैं वे पीछे होनेवाली मृत्युके पक्षपाती हैं, ऐसा मै समझता हू ॥ **विशेषार्थ**– लोकमे जब किसीके यहा पुत्रादिका जन्म होता है तब तो कुटुम्बी जन अतिशय हर्षको प्राप्त होकर उत्सव मनाते है और जब किसी इष्टका मरण होता है तब वे दुःखी होकर रुदन करते है । वे यह नही विचार करते कि वह जन्म क्या है,-आखिर आगे होनेवाली मृत्युका ही तो वह निमन्त्रण है । फिर जब वे पुत्रादिके जन्ममे उत्सव मनाते हैं तो यही क्यो न समझा जाय कि वे आगे होनेवाली उसकी मृत्युका ही उत्सव मना रहे हैं । कारण यह कि जब वह उत्पन्न हुआ है तो मरेगा भी अवश्य ही । कहा भी है– सयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः । किमन्यैरङगतोऽप्यङगी निसगो हि निवर्तते ॥ अर्थात् जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग भी अवश्यंभावी है । अन्यकी तो बात ही क्या है, किन्तु प्राणी सब कुछ यहीपर छोडकर इस शरीरसे भी अकेला ही निकलकर जाता है ॥ क्ष. चू. १–६० अभिप्राय यह है कि प्राणीकी मृत्यु और जन्म ये दोनो परस्पर अविनाभावी हैं । अतएव विवेकी जीवको न तो जन्ममे हर्षित होना चाहिये और न मरणसे दुःखी भी । अन्यथा वह इस भवमे तो दुःखी है ही, साथ ही इस प्रकारसे असातावेदनीय आदिका बन्ध करके परभवमे भी दुःखी ही रहनेवाला है ॥ १८८ ॥ समस्त आगमका अभ्यास और

छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ १८९ ॥
तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिह लोकपंक्ति विना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।

---

समानचेतस सर्वशास्त्रविद. दुर्धरतपोऽनुष्ठायिनो मुने. शिक्षां प्रयच्छन्नधीत्येत्यादि-श्लोकद्वयमाह- अधीत्येत्यादि । उपास्य आराध्य । घोर दुष्करम् । तयोः तप.श्रुतयो. । प्रसव पुष्पम् कथम् । न कथमपि । अस्य प्रसवस्य ॥ १८९ ॥ तथेत्यादि । पङ्क्ति

---

चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनोका फल तू यहां सम्पत्ति आदिका लाभ और प्रतिष्ठा यदि चाहता है तो समझना चाहिये कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्षके फूलको ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्थामे तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फलको कैसे प्राप्त कर सकेगा ? नही कर सकेगा ॥ विशेषार्थ- जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्षको लगता है, जलसिंचन आदिसे उसे बढाता है, और आपत्तियोंसे उसका रक्षण भी करता है । परन्तु समयानुसार जब उसमे फूल आते है तब वह उन्हे तोड लेता है और इसीमे सतोषका अनुभव करता है । इस प्रकारसे वह मनुष्य भविष्यमे आनेवाले उसके फलोसे वचित ही रहता है । कारण यह कि फलोकी उत्पत्तिके कारण तो वे फूल ही थे जिन्हे कि उसने तोडकर नष्ट कर दिया है । ठीक इसी प्रकारसे जो प्राणी आगमका अभ्यास करता है और घोर तपश्चरण भी करता है परंतु यदि वह उनके फलस्वरूप प्राप्त हुई ऋद्धियो एव पूजा-प्रतिष्ठा आदिमे ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसको उस तपका जो यथार्थ फल स्वर्ग मोक्षका लाभ था वह कदापि नही प्राप्त हो सकता है। अतएव तपरूप वृक्षके रक्षण एव सवर्धनका परिश्रम उसका व्यर्थ हो जाता है । अभिप्राय यह हुआ कि यदि तपसे ऋद्धि आदिकी प्राप्तिरूप लौकिक लाभ होता है तो इससे साधुको न तो उसमे अनुरक्त होना चाहियें और न किसी प्रकारका अभिमान भी करना चाहिये । इस प्रकारसे उसे उसके वास्तविक फलस्वरूप उत्तम मोक्षसुखकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥ १८९ ॥ हे भव्यजीव ! तू लोकपक्तिके विना अर्थात्

कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः ॥ १९० ॥
दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥ १९१ ॥

---

व्यवहार वञ्चना वा। प्रथितानि प्रसिद्धानि। कषायविषयद्विष· कषायाश्च विषयाश्च त एव द्विष शत्रव·। शम रागाद्युपशमम्। आमनन्ति प्रतिपादयन्ति ॥ १९० ॥ ननु सशृङ्गारलोकावलोकनाद्विषयाभिलाषोत्पत्ते कथ कषायादिविजयः स्यादित्याह- दृष्ट्वेत्यादि। असौ विषयाभिलाष। महदिति क्रियाविशेषणम्। स्नेहाद्युपक्रमजुष स्नेहादेः अनुवासादेर्दधिदुग्धघृतादेर्वा। उपक्रमस्य आरम्भस्य। जुषः प्रीत्या सेवकस्य। निषिद्धाचरण निषिद्धानुष्ठानम्। इतरस्य यथेष्टवृत्तस्य[1] ॥ १९१ ॥ अपकारके च

---

प्रतिष्ठा आदिकी अपेक्षा न करके निष्कपटरूपसे यहा इस प्रकारसे निरन्तर शास्त्रका अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपोके द्वारा शरीरको भी इस प्रकारसे सुखा कि जिससे तू दुर्जय कषाय एव विषयरूप शत्रुओको जीत सके। कारण कि मुनिजन राग-द्वेषादिकी शान्तिको ही तप और शास्त्राभ्यासका फल बतलाते हैं ॥ **विशेषार्थ**- अभिप्राय इतना ही है कि प्राप्त हुए विशिष्ट आगमज्ञान एव तपके निमित्तसे किसी प्रकारके अभिमान आदिको न प्राप्त होकर जो राग-द्वेष एव विषयवाछा आदि परमार्थ सुखकी प्राप्तिमे बाधक है उन्हें ही नष्ट करना चाहिये। यही उस आगमज्ञान एव तपका फल है ॥ १९० ॥ हे भव्य! तू विषयी जनको देखकर स्वय विषयकी अभिलाषाको क्यों प्राप्त होता है? कारण कि थोडी-सी भी वह विषयाभिलाषा तेरे अधिक अनर्थ (अहित) को उत्पन्न करती है। ठीक ही है- जिस प्रकार कि तेल आदि स्निग्ध पदार्थोका सेवन करनेवाले रोगी मनुष्यके लिये दोषजनक होनेसे उनका सेवन करना निषिद्ध नही है उस प्रकार वह दूसरेके लिये नही है ॥ **विशेषार्थ**- जो विषयोसे विरक्त होकर तपमें

---

१ प यथेष्टाप्रवृत्तस्य।

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१९३॥

---

कुरुते भवास्तदा कीदृशोऽन्यदा च कीदृशः इत्याह– आत्मन्नित्यादि । आत्मन् । आसी. त्व दुरात्मा बहिरात्मा[1] चिरम् । कै. कृत्वा । आत्मविलोपनात्मचरितैं आत्मा विशेषण लोप्यते निजस्वरूपात्प्रच्याव्यते . तानि च तानि आत्मचरितानि, आत्मचरितानि च विषयादिप्रवृत्तयः तैं । स्वात्मा स्या· शोभन आत्मा अन्तरात्मा स्याः भवेःत्वम् । कै. कृत्वा । सकलात्मनीनचरितै· आत्मने हितानि आत्मनीनानि, तानि च तानि सकलानि च तानि आत्मचरितानि च तैं । आत्मीकृतै. । कस्य सबन्धिभि तैं । आत्मन स्वस्य । आत्मेत्या आत्मना प्राप्यम् । प्रतिपतन् गच्छन् । प्रत्यात्मविद्यात्मकः केवलज्ञानरूप । स्वात्मोत्थात्मसुख स्वात्मोत्थ न विषयोत्थम् आत्मसुख निजसुख यस्य । निषीदसि सुखी भवसि । लसन् शोभमानः । अध्यात्मनि स्वस्वरूपे । आध्यात्मना विशुद्धात्मस्वरूपेण ॥ १९३ ॥ सा च परमात्मता

---

कैसे सेवन करता है ? ॥ विशेषार्थ– जो मनुष्य हिताहितके विवेकसे रहित होकर विषयोमे अनुरक्त रहता है वह भी यदि कभी अपनी प्यारी स्त्रीके विषयमे कुछ दुराचरण आदिको सुनता है तो उस स्त्रीका परित्याग कर देता है । परन्तु आश्चर्य है कि जो विद्वान् आत्महितमें तत्पर है तथा जिसने एक भवमे ही नही, बल्कि अनेक भवोमें विषयोसे उत्पन्न होनेवाले दोषोका प्रत्यक्षमे अनुभव भी कर लिया है, वह विषके समान अनिष्ट उन विषयोंको नही छोडता है । इससे अधिक लज्जाकी बात भला और क्या हो सकती है ॥ १९२ ॥ हे आत्मन्! तू आत्मस्वरूपको नष्ट करनेवाले अपने आचारोंके द्वारा चिर कालसे दुरात्मा अर्थात् बहिरात्मा रहा है अब तू आत्माका हित करनेवाले ऐसे अपने समस्त आचरणोको अपनाकर उनके द्वारा उत्तम आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा हो जा । इससे तू अपने आपके द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा अवस्थाको प्राप्त हो करके केवलज्ञानस्वरूपसे संयुक्त, विषया-दिकी अपेक्षा न करके केवल अपनी आत्माके आश्रयसे ही उपन्न हुए

---

[1] ज 'बहिरात्मा' नास्ति ।

**अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्वाहित-**
**स्ततोऽनशनसाभिभक्तरसवर्जनादिक्रमैः ।**

---

सिद्धावस्थालक्षणा शरीराभावे भविष्यति, अत सर्वदा अपकारकस्य शरीरस्य आगमोक्तविधिना अभावविधानाय यत्न. कर्तव्य इति दर्शयन्नाह– अनेनेत्यादि ।

---

आत्मिक सुखका अनुभव करनेवाला और अपनी आत्माद्वारा प्राप्त किये गये निज स्वरूपसे सुशोभित होकर सुखी हो सकता है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि यह प्राणी अनादि कालसे बहिरात्मा आत्म-अनात्मके विवेकसे रहित रहा है। इसीलिये उस समय उसका समस्त आचरण आत्मस्वरूपका घातक– हेय-उपादेयके विचारसे रहित– होकर राग-द्वेषादिसे परिपूर्ण रहा है। जब इसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब उसके आत्मपरका विवेक उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये उसके आचरणमे भी परिवर्तन हो जाता है। तब वह ऐसी ही क्रियाओको करता है जिनसे कि आत्माका हित होनेवाला है। यद्यपि चारित्रमोहनीयका उदय विद्यमान रहनेसे वह जब तब विषयोपभोगमे भी प्रवृत्त होता है, फिर भी वह उसे हेय ही समझता है– उपादेय नही समझता और न आसक्तिके साथ भी वह उन विषयोमे प्रवृत्त होता है। तब उसकी अन्तरात्मा सज्ञा हो जाती है। यही अन्तरात्मा जब ससारके कारणभूत विषयोसे पूर्णतया विरक्त होकर यम-संयमको स्वीकार करता है तब वह उनके द्वारा सवर और निर्जराको प्राप्त होता हुआ चार घातिया कर्मोका क्षय करके आर्हन्त्य अवस्थाको प्राप्त करता है। उस समय वह सकल परमात्मा कहा जाता है। तत्पश्चात् वह शेष चार घातिया कर्मोको भी नष्ट करके निकल परमात्मा (सिद्ध) हो जाता है। इस समय जो निराकुल सुख उसे प्राप्त होता है वह आत्माके द्वारा आत्मामे ही उत्पन्न किया गया आत्मिक सुख है जो शाश्वतिक (अविनश्वर) है। इस प्रकार यहा यह उपदेश दिया गया है कि हे आत्मन् ! तू अनादि कालसे बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) रहा है। उस समय तूने न्याय-अन्यायका विचार न करके जो मनमाना आचरण किया है उसके कारण अनेक

क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम् ॥ १९४ ॥
आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
काङक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान[1]–

---

अनेन शरीरेण। साभिभक्तम् अवमोदर्यम्। विलयावधि मरणपर्यन्तम्। शरीरक[2] कुत्सित शरीरम्। अद्य साम्प्रतम् ॥ १९४ ॥ अत्र ससारे या काचित् अनर्थपरपरा

---

दु खोको सहा है। इसलिये अब तू सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके अन्तरात्मा बन जा और जो व्रत-सयम आदि आत्माके हितकारक हैं उनमे प्रवृत्त होकर परमात्मा बननेका प्रयत्न कर। ऐसा करनेपर ही तुझे वास्तविक सुख प्राप्त हो सकेगा ॥ १९३ ॥ पूर्व समयमे इस शरीरने तुझे ससारमें बहुत कालतक दासके समान घुमाया है। इसलिये तू आज इस घृणित शरीरको हाथमे आये हुए शत्रुके समान जबतक कि वह नष्ट नही होता है तबतक अनशन, ऊनोदर एवं रसपरित्याग आदिरूप विशेष तपोके द्वारा क्रमसे कृश कर ॥ **विशेषार्थ**– लोकमे जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु माना जाता है। इस स्वरूपसे तो यह शरीर ही अपना वास्तविक शत्रु सिद्ध होता है। कारण यह कि शत्रु तो कभी किसी विशेष समयमे ही प्राणीको कष्ट देता है, परन्तु यह शरीर तो जीवको अनादि कालसे अनेक योनियोमे परिभ्रमण करता हुआ कष्ट देता रहा है। अतएव जिस प्रकार वह लोकप्रसिद्ध शत्रु जब मनुष्यके हाथमे आ जाता है तब वह उसे पूर्ण भोजन आदि न दे करके अथवा अनिष्ट भोजन आदिके द्वारा सतप्त करके नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसी प्रकार तू भी इस शरीरको उस शत्रुसे भी भयानक समझकर उसे अनशनादि तपोके द्वारा क्षीण करनेका प्रयत्न कर। इस प्रकारसे तू उसके नष्ट होनेके पूर्वमे अपने प्रयोजन ( मोक्षप्राप्ति ) को सिद्ध कर सकेगा। और यदि तूने एसा न किया तथा वह बीचमे ही नष्ट हो गया तो वह तुझे फिर भी अनेक योनियोमे परिभ्रमण कराकर दु खी करेगा।

---

[1] मु (जै.) मानं, मु (नि) मानः [2] ज स अवमोदर्यं त शरीरक।

हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्यु-
र्मूलं ततस्तनुरनर्थपरंपराणाम् ॥ १९५ ॥
शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि ।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितुम् ॥ १९६ ॥
इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

---

तस्मात् साक्षात् परंपरया वा शरीरमेव [illegible] प्रकारेण [illegible]ेत्याह— आदावित्यादि । आदौ प्रथमम् । तत ततो । दुरिन्द्रियाणि निकृष्टेन्द्रियाणि ॥ १९५ ॥ एवंविधं शरीरं पोषयित्वा किं कुर्वन्तीत्याह— शरीरमित्यादि । पुष्णन्ति पोषयन्ति ॥ १९६ ॥ शरीरं च पोषयन्तो गिरिगह्वरादीनि [illegible] परित्यज्य कालदोषेण ग्रामसमीपे मुनयो वसन्ति इति दर्शयन्नाह— इत इत्यादि । विभावर्यां रात्रौ । उपग्रामं ग्रामसमीपे । कलौ पञ्चमकाले ॥ १९७ ॥ तथा कलौ तपो गृहीत्वा

---

अभिप्राय यह है कि जब यह दुर्लभ मनुष्यशरीर प्राप्त हो गया है तो इसे यों ही नष्ट नहीं कर देना चाहिये, किन्तु उससे जो अपना अभीष्ट सिद्ध हो सकता है— सयमादिके द्वारा मुक्तिलाभ हो सकता है— उसे अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ १९४ ॥ प्रारम्भमे शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीरमें दुष्ट इन्द्रिया होती हैं, वे अपने विषयोको चाहती है; और वे विषय मानहानि ( अपमान ), परिश्रम, भय, पाप एव दुर्गतिको देनेवाले हैं । इस प्रकारसे समस्त अनर्थोकी परम्पराका मूल कारण वह शरीर ही है ॥ १९५ ॥ अज्ञानी जन शरीरको पुष्ट करते है और विषयोका भी सेवन करते हैं । ठीक है— ऐसे मनुष्योको कोई भी कार्य दुष्कर नही है— वे सब ही अकार्य कर सकते है । वे वैसा करते हुए मानों विषसे जीवित रहनेकी इच्छा करते है ॥ १९६ ॥ जिस प्रकार हिरण वनमें इधर उधर दु खी होकर— सिंहादिकोसे भयभीत होकर— रात्रिमे उस वनसे गावके निकट आ जाते हैं उसी प्रकार इस पचम कालमे मुनिजन भी वनमें इधर उधर दु.खी होकर— हिंसक एवं अन्य दुष्ट जनोसे भयभीत होकर— रात्रिमे वनको छोडकर गावके समीप रहने लगे हैं, यह खेदकी वात है ॥ १९७ ॥ आज जो तप ग्रहण किया

वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः[1]।
श्वः स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसंपदः ॥ १९८ ॥
स्वार्थभ्रंशं त्वमविगणयंस्त्यक्तलज्जाभिमानः
संप्राप्तोऽस्मिन् परिभवशतैर्दुःखमेतत्कलत्रम् ।
नान्वेति त्वां पदमपि पदाद्विप्रलब्धोऽसि भूयः
सख्यं साधो यदि हि मतिमान् मा ग्रहीर्विग्रहेण ॥ १९९ ॥

---

स्त्रीवशवर्तिना गृहस्थावस्थैव श्रेष्ठेत्याह– वरमित्यादि । वर श्रेष्ठम् । किं तत् । गार्हस्थ्यमेव गृहस्थरूपतैव । कस्मात् । तपसः पञ्चममहाव्रतादिरूपात् । किं विशिष्टात् । भाविजन्मनः प्रवर्धमानससारात् । 'भाविजन्म यत्' इति पाठ, तत्र गार्हस्थ्य विशेषणमिदम् । पुन कथभूतादित्याह– श्व इत्यादि । अयमर्थ – अद्य गृहीतात्तपस श्व. प्रात. स्त्रीकटाक्षा एव लुण्टाकाश्चौरा तैर्लोप्यवैराग्यसपद तपस । ततो गार्हस्थ्यमेव वरमिति ॥ १९८ ॥ अस्तु तर्हि इद चेत्याह– स्वार्थेत्यादि । स्वस्यार्थः प्रयोजनं तप तस्य भ्रश विनाशम् । अविगणयत् अमन्यमान. । अस्मिन् शरीरेसति परिभव. मानखण्डनम् । दु ख[2] सकलदु खहेतुत्वात् । कलत्र भार्या । नान्वेति त्वा नानुगच्छति त्वया सह । विप्रलब्ध' वञ्चित. । सख्य मैत्रीम् अभेदरूपताम् ॥१९९॥

---

गया है वह यदि कल स्त्रियोंके कटाक्षोरूप लुटेरोके द्वारा वैराग्यरूप सम्पत्तिसे रहित किया जाता है तो जन्मपरम्परा ( ससार ) को बढानेवाले उस तपकी अपेक्षा तो कही गृहस्थ जीवन ही श्रेष्ठ था । **विशेषार्थ**– अभिप्राय यह है कि जिसने पूर्वमे विषयोसे विरक्त होकर समस्त परिग्रहके परित्यागपूर्वक तपको स्वीकार किया है वह यदि पीछे स्त्रियोके कटाक्षपात एवं हाव-भावादिसे पीडित होकर उस वैराग्यरूप सम्पत्तिको नष्ट करता है और अनुरागको प्राप्त होता है तो वह अतिशय निन्दाका पात्र बनता हैं । इससे तो कही वह गृहस्थ ही बना रहता तो अच्छा था । कारण कि इससे उसकी ससारपरम्परा तो न बढती जो कि गृहीत तपको छोड देनेसे अवश्य ही बढनेवाली है ॥ १९८ ॥ हे भव्य ! इस शरीरके होनेपर ही तूने इस दु खदायक स्त्रीको स्वीकार किया है और ऐसा करते हुए तूने लज्जा और स्वाभिमानको छोडकर-निर्लज्ज एवं दीन बनकर-उसके निमित्तसे होनेवाले न तो सैकडो तिरस्कारोंको गिना

---

१ 'भाविजन्म यत्' इति पाठान्तर । २ ज परिभवमानखडना दुःख ।

न कोऽप्यन्योऽन्येन व्रजति समवायं गुणवता
गुणी केनापि त्वं समुपगतवान् रूपिभिरमा ।
न ते रूपं ते यानुपव्रजसि तेषां गतमतिः
ततश्छेद्यो भेद्यो भवसि बहुदुःखो भववने ॥ २०० ॥

---

मूर्तानामपि हि पदार्थानामन्योन्यस्वरूपस्वीकारेणाभेदरूपता न प्रतीता, किं पुनर्मूर्तामूर्तयो सा भवीष्यतीत्याह—नेत्यादि । न कोऽपि घटादिर्गुणी । अन्यो भिन्नः अन्येन भिन्नेन पटादिना गुणवता । समवायम् एकत्व व्रजति । केनापि कर्मणा । रूपिभि. शरीरादिपुद्गलैः । अमा सह । समवायत्व समुपगतवान् समाश्रितवान् । न ते रूप ते तव न ते पुद्गला. रूप स्वरूपम् । यान् शरीरादिपुद्गलान् । उपव्रजसि अभेदबुद्धया प्रतिपद्यसे । कथभूत. । तेषा गतमति' तेषु आसक्तमति. । ततः तदभेदप्रतिपत्ते तदासक्तमतेश्च ॥ २०० ॥ तथा यदीदृग्भूत शरीरं तत्रस्था बुद्धिरपि

---

और न अपने आत्मप्रयोजनसे—तप-सयमादिको धारण करके उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले मोक्षसुखसे-भ्रष्ट होनेको भी गिना । वह शरीर और स्त्री तेरे साथ निश्चयसे एक पद ( कदम ) भी जानेवाले नही है इनसे अनुराग करके तू फिरसे भी धोका खावेगा । इसलिये हे साधो ! यदि तू बुद्धिमान् है तो उस शरीरसे मित्रताको न प्राप्त हो-उसके विषयमे ममत्वबुद्धिको छोड दे ॥ १९९ ॥ कोई भी अन्य गुणवान् किसी अन्य गुणवान्के साथ अभेदस्वरूपताको नही प्राप्त होता है । परन्तु तू ( अरूपी ) किसी कर्मके वश उन रूपी शरीरादिके साथ अभेदको प्राप्त हो रहा है । जिन शरीरादिको तू अभिन्न मानता है वे वास्तवमे तुझे स्वरूप नही है । इसीलिये तू उनमे ममत्वबुद्धिको प्राप्त होकर आसक्त रहनेसे इस संसाररूप वनमे छेदा भेदा जाकर बहुत दु'खी होता है ॥ **विशेषार्थ**— लोकमे भी घटपटादि भिन्न भिन्न वस्तुए देखनेमे आती है वे मूर्तिकरूपसे समान होकर भी एक दूसरेके साथ अभेदरूपताको प्राप्त नही होती है । परन्तु यह अज्ञानी प्राणी स्वय अमूर्तिक होकर भी अपनेसे भिन्न स्त्री-पुरुष एव धन सम्पत्ति आदि मूर्तिक पदार्थोके अभेदको प्राप्त होता है— उन्हे अपना मानता है । यह उसके कर्मोदयका प्रभाव समझना चाहिये । जब जीव स्वय रूप-रसादिसे रहित ( अमूर्तिक ) एवं चैतन्यरूप है तब उसकी एकता रूपादिसहित ( मूर्तिक ) एवं

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ ।
प्रान्ते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥ २०१ ॥
शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तो-
प्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोऽसि ।

---

कथमित्याह— मातेत्यादि । जाति उत्पत्ति । मृत्यु पूर्वानन्तरभवे प्राणत्याग । आधि मन पीडा । सहोद्गतौ भ्रातरौ । प्रान्ते अवसाने तथापि एवविधद्दु खहेतु-सामग्रीसमन्वितोऽपि ॥ २०१ ॥ तथा शुद्धादिस्वरूपोऽपि त्व शरीरेण अशुद्धादिरूपता

---

जडस्वरूप उन स्त्री-पुत्रादिके साथ भला कैसे हो सकती है ? नही हो सकती है । फिर जो यह अपनी अज्ञानतासे उक्त भिन्न पदार्थोको अपना समझकर उनके साथ अनुरागको प्राप्त होता है उसका फल यह होगा की उसे नरक और तिर्यच गतियोमे जाकर छेदने भेदने आदिके दुस्सह दुःखोको सहना पडेगा ॥ २०० ॥ इस शरीरकी उत्पत्ति तो माता है, मरण पिता है, आदि ( मानसिक दु ख ) एव व्याधि ( शारीरिक दु ख ) सहोदर (भाई) है, तथा अन्तमे प्राप्त होनेवाला बुढापा पासमे रहनेवाला मित्र है, फिर भी उस निन्द्य शरीरके विषयमे प्राणी आशा करता है ॥
**विशेषार्थ**— यदि किसी कुटुम्बमें स्थित व्यक्तिके माता-पिता, भाई-बन्धु एव मित्र आदि सब ही प्रतिकूल स्वभाववाले हो तो ऐसे कुटुम्बसे सम्बन्ध रखनेवाले उस व्यक्तीसे किसीको भी अनुराग नही रहता है। परन्तु आश्चर्यकी बात है की यह अज्ञानी प्राणी ऐसे प्रतिकूल कुटुम्बके बीचमे रहनेवाले शरीरसे भी कुछ आशा रखता हुआ उससे अनुराग करता है । उस शरीरके कुटुम्बमे उत्पत्ति ( जन्म ) माता और मरण पिता है जो परस्पर खूब अनुराग रखते हैं— एकके विना दूसरा नही रहना चाहता है । जीवको जो शारीरिक एव मानसिक कष्ट होते है वे उस शरीरके सहोदर है- उसके साथमे ही उत्पन्न होनेवाले हैं। बुढापा उसका प्यारा मित्र है । अभिप्राय यह है कि जिस शरीरके साथ जीवको निरन्तर जन्म-मरण, रोग, चिता एव बुढापा आदिके दुःसह दु.ख सहने पडते है उससे अनुराग न रखकर उसे सदाके लिये ही छोड देने ( मुक्त होने ) का प्रयत्न करना चाहिये ॥ २०१ ॥ हे आत्मन् ! तू

मूर्तं सदाशुचि विचेतनमन्यदत्र
किं वा न दूषयति धिग्धिगिद शरीरम् ॥ २०२ ॥
हा हतोऽसि तरां जन्तो येनास्मिंस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः किल साहसम् ॥ २०३ ॥

---

नीतोऽस्मीत्याह– शुद्धोऽपीत्यादि । शुद्धोऽपि अमलिनोऽपि । अशेषविषयावगमोऽपि हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानवानपि । अमूर्तोऽपि निरुपलेपोऽपि । हे आत्मन् । इत्थमूतस्त्वमपि येन शरीरेण अतितरा अशुचीकृत असि तच्छरीर मूर्तं सदा अशुचि विचेतन सत् । अत्र ससारे । अन्यत् कुङ्कुमकर्पूरादि किं न[1] दूषयति । अपि तु दूषयति अशुचीकरोत्येव । अतो धिक् ॥२०२॥ अतिशयेन निन्द्यमिद शरीरम्, तत्र अनिन्द्यत (त्व) बुद्धया त्व नष्टोऽस्मीत्याह– हेत्यादि । हा कष्टम् । हतोऽसि तराम् अतिशयेन नष्टोऽसि । येन कारणेन । अस्मिन् शरीरे । साप्रतम् इदानीम् । उक्तशरीररूपावगमे तव युक्त ज्ञान प्रमाणम् । किं विशिष्टम् । कायाशुचिज्ञान काय. अशुचिरिति ज्ञान परिच्छित्तिर्यत्र तत्त्यागस्तस्य ज्ञानस्य त्याग कार्य (काय) शुचिरिति विपरीतज्ञानम् । किल अहो । साहसम् अत्यद्भुत कर्म । अथ वा हतोऽसि कदर्थितोऽसि । येन शरीरेण । अस्मिन् ससारे । साप्रत तव ज्ञान युक्तम् । कथभूतम् । कायाशुचिज्ञानम् । एतच्च न साहसम् तत्त्यागस्तस्य शरीरस्य त्याग. किल साहसम् ॥ २०३ ॥ ननु

---

स्वभावसे शुद्ध, समस्त विषयोका ज्ञाता और रूप-रसादिसे रहित (अमूर्तिक) हो करके भी उस शरीरके द्वारा अतिशय अपवित्र किया गया है। ठीक है– वह मूर्तिक, सदा अपवित्र और जड शरीर यहा कौनसी पवित्र वस्तु (गन्ध विलेपनादि) को मलिन नही करता है? अर्थात् सबको ही वह मलिन करता है। इसलिये ऐसे इस शरीर को वार वार धिक्कार है ॥ २०२ ॥ हे प्राणी ! तू चूकि इस शरीरके विषयमे अतिशय दु खी हुआ है इसीलिये उस शरीरके सम्बन्धमे जो तुझे इस समय अपवित्रताका ज्ञान हुआ है वह योग्य है। अब उस शरीरका परित्याग करना, यह तेरा अतिशय साहस होगा ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जो शरीर अत्यन्त अपवित्र है उसे पवित्र मानकर यह अज्ञानी प्राणी अब तक दु खी रहा है। इसलिये उसका कर्तव्य है कि उक्त शरीरके विषयमे, प्रथम तो वह 'यह अपवित्र है' ऐसे सम्यग्ज्ञानको

---

१ ज कर्पूरादिक न ।

अपि रोगादिभिर्वृद्धैर्न यतिः[1] खेदमृच्छति ।
उडुपस्थस्य कः क्षोभः प्रवृद्धेऽपि नदीजले ॥ २०४ ॥
जातामयः प्रतिविधाय तनौ वसेद्वा
नो चेत्तनुं त्यजतु वा द्वितयी गतिः स्यात् ।
लग्नाग्निमावसति वह्निमपोह्य गेहं
निर्याय[2] वा व्रजति तत्र सुधी किमास्ते ॥ २०५ ॥

अस्तु कायेऽशुचिविज्ञानम् उचितम्, तथा प्रबलरोगाद्युदयाच्चित्तविक्षेपो भविष्यतीत्याशङ्क्य अपीत्यादिश्लोकद्वयमाह– अपीत्यादि । वृद्धैरपि महद्भिः अपि । उडुपस्थस्य नावि स्थितस्य ज्ञानस्थस्य च ॥ २०४ ॥ जातामय इत्यादि । जात. उत्पन्न आमयो व्याधि' यस्य । प्रतिविधाय औषधादिना रोगप्रतीकार कृत्वा । नो चेत् औषधादिना

प्राप्त करे और तत्पश्चात् उसे साहसपूर्वक छोडनेका प्रयत्न करे । इस प्रकारसे वह शरीरके निमित्तसे जो दु ख सह रहा था उससे छुटकारा पा जावेगा ॥ २०३ ॥ साधु अतिशय बुद्धिको प्राप्त हुए भी रोगादिकोके द्वारा खेदको नही प्राप्त होता है । ठीक है– नावमे स्थित प्राणीको नदीके जलमे अधिक वृद्धि होनेपर भी कौनसा भय होता है? अर्थात् उसे किसी प्रकारका भी भय नही होता है ॥ **विशेषार्थ**– जिस प्रकार स्थिर नावमे बैठे हुए मनुष्यको नदीमे जलके बढ जानेपर भी किसी प्रकारका खेद नही होता है । कारण कि वह यह समझता है कि नदीके जलमे वृद्धि होनेपर भी मै इस नावके सहारेसे उसके पार जा पहुँचूगा । ठीक उसी प्रकारसे जिसको शरीरका स्वभाव ज्ञात हो चुका है कि वह अपवित्र, रोगादिक घर तथा नश्वर है; वह विवेकी साधु उक्त शरीरके कठिन रोगसे व्याप्त हो जानेपर भी किसी प्रकारसे खेदको नही प्राप्त होता है ॥ २०४ ॥ रोगके उत्पन्न होनेपर उसका औषधादिके द्वारा प्रतीकार करके उस शरीरमे स्थित रहना चाहिये । परन्तु यदि रोग असाध्य हो और उसका प्रतीकार नही किया जा सकता हो तो फिर उस शरीरको छोड देना चाहिये, यह दूसरी अवस्था है । जैसे– यदि घर अग्निसे व्याप्त हो चुका है तो यथासम्भव उस अग्निको बुझाकर प्राणी उसी

१ मु मुनि। २ मु निर्हाय ।

शिरःस्थं भारमुत्तार्य स्कन्धे कृत्वा सुयत्नतः ।
शरीरस्थेन भारेण अज्ञानी मन्यते सुखम् ॥ २०६ ॥
यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियाम् ।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया ॥ २०७ ॥

---

रोगाप्रतीकारे ॥ २०५ ॥ प्रेक्षावतामुद्वेग कर्तुमनुचित इत्याह– ॥ २०६ ॥ तदेवाह– यावदित्यादि । अनुपशान्तानां व्याधीनाम् । अनुद्वेग· शरीरे उदासीनता ॥ २०७ ॥

---

घरमे रहता है। परन्तु यदि वह अग्नि नही बुझाई जा सकती है तो फिर उसमे रहनेवाला प्राणी उस घरसे निकलकर चला जाता है। क्या कोई वुद्धिमान् प्राणी उस जलते हुए घरमे रहता है? अर्थात् नही रहता है॥ २०५ ॥ शिरके ऊपर स्थित भारको उतारकर और उसे प्रयत्नपूर्वक कन्धेके ऊपर करके अज्ञानी प्राणी उस शरीरस्थ भारसे सुखकी कल्पना करता है॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार कोई मनुष्य शिरके ऊपर रखे हुए बोझसे पीडित होता हुआ उसे प्रयत्नपूर्वक शिरसे उतारकर कन्धेके ऊपर रखता है और उस अवस्थामें अपनेको सुखी मानता है। परन्तु वह अज्ञानी प्राणी यह नही सोचता कि वह बोझा तो अभी भी शरीरके ही ऊपर स्थित है। भेद इतना ही हुआ है कि उसे शिरसे उतारकर कन्धेपर रख लिया है और ऐसा करनेसे उसके कष्टमें कुछ थोडीसी कमी अवश्य हुई है। परन्तु वास्तवमें इससे उसे सुखका लेश भी नही प्राप्त हुआ है। ठीक इसी प्रकारसे यह अविवेकी प्राणी भी शरीरमें उत्पन्न हुई रोगको यथायोग्य औषधी आदिसे नष्ट करके अपनेको सुखी मानता है। परन्तु वह यह नही विचार करता कि रोगोका घर जो शरीर है उसका सयोग तो अभी भी बना है, ऐसी अवस्थामे सुख भला कैसे प्राप्त हो सकता है? सच्चा सुख तो तब ही प्राप्त हो सकेगा जब कि उसका शरीरके साथ सदाके लिये सम्बन्ध छूट जायगा। उसकी उपर्युक्त सुखकी कल्पना तो ऐसी है जैसे कि शिरसे बोझको उतारकर उसे कन्धेके ऊपर रखनेवाला मनुष्य सुखकी कल्पना करता है॥ २०६ ॥ जबतक रोगोका प्रतीकार हो सकता है तबतक उसे करना चाहिये। परन्तु फिर भी यदि वे नष्ट नही होते हैं तो इससे खेदको प्राप्त नही होना चाहिये। यही वास्तवमे उन रोगोका

यदादाय[1] भवेज्जन्मी त्यक्त्वा मुक्तो भविष्यति ।
शरीरमेव तत्त्याज्यं किं शेषैः क्षुद्रकल्पनैः ॥ २०८ ॥
नयेत् सर्वाशुचिप्रायः[2] शरीरमपि पूज्यताम् ।
सोऽप्यात्मा येन न स्पृश्यो दुश्चरित्रं धिगस्तु तत् ॥ २०९ ॥

---

कुतस्तत्रोदासीनता कर्तव्येति चेत्परित्याज्यत्वात् । एतदेवाह– यदित्यादि । यच्छरीम् आदाय गृहीत्वा । जन्मी ससारी । क्षुद्रकल्पनैं लघुविकल्पैं ॥ २०८ ॥ उपकारकेऽप्यात्मनि प्रतिकूलप्रवृत्तित्वाच्चेद शरीर त्याज्यमित्याह– नयेदित्यादि । येन शरीरेण । न स्पृश्यो नानुकृत सुविशुद्धचेतनत्वादिधर्मे । दुश्चरित्र तत्प्रसिद्ध चेष्टित यस्य दुश्चरित्र अथवा दु ख चरित्र मिथ्यानुष्ठानं तत्प्रसिद्धम् । येन दुश्चरित्रेण ॥ २०९ ॥

---

प्रतीकार है ॥ २०७ ॥ जिस शरीरको ग्रहण करके प्राणी जन्मवान् अर्थात् ससारी बना हुआ है तथा जिसको छोडकर वह मुक्त हो जावेगा उस शरीरको ही छोड देना चाहिये । अन्य क्षुद्र विचारोसे क्या प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है ? कुछ भी नही ॥ २०८ ॥ जो आत्मा प्राय करके सब ओरसे अपवित्र ऐसे उस शरीरको भी पूज्य पदको प्राप्त कराता है उस आत्माको भी जो शरीर स्पर्शके योग्य भी नही रहने देता है उसको धिक्कार है ॥ विशेषार्थ– जीव जब सयम और तप आदिको धारण करता है तब उसका शरीर लोकवन्द्य बन जाता है । इस प्रकारसे जो आत्मा उस घृणित एव अपवित्र शरीरको लोकपूज्य बनाता है उसका अनुकरण न कर वह शरीर उसे निन्द्य चाण्डालादि पर्यायमे प्राप्त कराकर स्पर्श करनेके योग्य भी नही रहने देता है । इस तरह उस शरीरको देव-मनुष्यादिके द्वारा पूज्य बनाकर आत्मा तो उसका उपकार करता है, परन्तु वह शरीर कृतघ्न होकर उस उपकारी आत्माके साथ इतना दुष्टतापूर्ण आचरण करता है कि उसे निन्द्य पर्यायमे प्राप्त कराकर ऐसा हीन बना देता है कि विवेकी जन उसका स्पर्श भी नही करना चाहते हैं । अभिप्राय यह है कि जब आत्मा उस शरीरके सबन्धसे ही लोकनिन्द्य होकर अनेक प्रकारके दु खोको सहता है तब ऐसे अहितकर शरीरके सम्बन्धको सदाके लिये छोड देना चाहिये ॥ २०९ ॥

---

१ मु यदा यदा भवे० । २ मु प्राय ।

रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्यादिरन्वतः[1] ।
ज्ञानादयस्तृतीयस्तु[2] ससार्येव त्रयात्मकः ।। २१० ।।
भागत्रयमय नित्यमात्मानं बन्धवर्तिनम् ।
भागद्वयात्पृथक् कर्तुं यो जानाति स तत्त्ववित् ।। २११ ।।
करोतु न चिर घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ।। २१२ ।।

---

एवविधशरीरादिभागत्रयसमन्वित ससारीति दर्शयन् रसादिरित्यादिश्लोकद्वयमाह– रसादिरिति । रसादि सप्तधातुमयो देह । आद्य प्रथमः । ज्ञानावृत्यादिरष्टप्रकार । अतो रसादिभागात् । अनु पश्चात् । द्वितीयो भागा स्यात् ।। २१० ।। भागेत्यादि । बन्धवर्तिन कर्मबन्धसहितम् । भागद्वयात् शरीर-ज्ञानावरणादिलक्षणात् ।। २११ ।। ननु भागद्वयात्पृथक्करणमात्मनो दुर्धरतपोऽनुष्ठानात् तच्च दु शक्यमित्याह- करोत्वित्यादि । क्लेशासहो यत । चित्तसाध्यान् मनसा निर्जेतु शक्यान् ।। २१२ ।।

---

ससारी प्राणीका रस आदि सात धातुओरूप पहिला भाग है, इसके पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मोरूप उसका दूसरा भाग है, तथा तीसरा भाग उसका ज्ञानादिरूप है, इस प्रकारसे ससारी जीव तीन भागस्वरूप है ।। २१० ।। इस प्रकार इन तीन भागोस्वरूप व कर्मबन्धसे सहित नित्य आत्माको जो प्रथम दो भागोसे पृथक् करनेके विधानको जानता है उसे तत्त्वज्ञानी समझना चाहिये ।। **विशेषार्थ–** ऊपर ससारी जीवको जिन तीन भागोस्वरूप बतलाया है उनमे प्रथम दो भाग– सप्तधातुमय शरीर और कार्मण शरीर– आत्मस्वरूपसे भिन्न, जड एव पौद्गलिक है तथा तीसरा भाग जो ज्ञानादिस्वरूप है वह आत्मस्वरूप चेतन है और वही उपादेय है । इस प्रकार जो जानता है तथा तदनुरूप आचरण भी करता है वह तत्त्वज्ञ है । इसके विपरीत जो प्रथम दो भागोंको ही आत्मा समझता है और इसीलिये जो उनसे आत्माको पृथक् करनेका प्रयत्न नही करता है वह अज्ञानी है ।।२११।। यदि तू कष्टको न सहनेके कारण घोर तपका आचरण नही कर सकता है तो न कर । परन्तु जो कषायादिक मनसे सिद्ध करने योग्य है– जीतने योग्य है– उन्हे भी यदि नही जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है ।। **विशेषार्थ–**

---

१ प ०रन्वित । २ ज स त्रितयस्तु ।

हृदयसरसि यावन्निर्मलेऽप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।
श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं
सयमशमविशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ॥ २१३ ॥
हित्वा हेतुफले किलात्र सुधियस्तां सिद्धिमामुत्रिकीं
वाञ्छन्तः स्वयमेव साधनतया शंसन्ति शान्तं मनः ।

---

कषायाणामजये मुक्तिहेतुगुणाना उत्तमक्षमादीना प्राप्तिरतिदुर्लभा इत्याह– हृदयेत्यादि । हृदयसरसि हृदयसरोवरे । गुणगण. उत्तमक्षमादिगुणसघात । अय मोक्षहेतुतयाभिप्रेत । तत् हृदयसर: । विशङ्क नि शङ्कम् सयमशमविशेषै सह यमेन व्रतेन वर्तन्ते इति सयमास्ते च ते शमविशेषाश्च तीव्र-मन्द-मध्यमा उपशमभेदाः । यतस्व उद्यतो भव ॥ २१३ ॥ कषायविजय मोक्षहेतुतया स्वय प्रतिपाद्य पुन. कषायाधीनता गतानुपहसन्नाह– हित्वेत्यादि । हित्वा त्यक्त्वा । के । हेतुफले विषय-तत्सुखे, अथवा हेतुर्नि सगत्वादिः फल तत्कार्यं शान्त मन । किलेत्यरुचौ। आमुत्रिकी

---

तपश्चरणमे भूख आदिके दु:खको सहना पडता है, इसलिये यदि अनशन आदि तपोको नही किया जा सकता है तो न भी किया जाय। परन्तु जो राग, द्वेष, एव क्रोधादि आत्माका अहित करनेवाले है उनको तो भले प्रकारसे जीता जा सकता है। कारण कि उनके जीतनेमें न तो तपके समान कुछ कष्ट सहना पडता है और न मनके अतिरिक्त किसी अन्य सामग्रीकी अपेक्षा भी करनी पडती है। इसलिये उक्त राग-द्वेषादिको तो जीतना ही चाहिये। फिर यदि उनको भी प्राणी नही जीतना चाहता है तो यह उसकी अज्ञानता ही कही जावेगी ॥ २१२॥ निर्मल और अथाह हृदयरूप सरोवरमे जब तक कषायोरूप हिंस्र जलजन्तुओका समूह निवास करता है तब तक निश्चयसे यह उत्तम क्षमादि गुणोका समुदाय नि.शंक होकर उस हृदयरूप सरोवरका आश्रय नहीं लेता है। इसीलिये हे भव्य! तू व्रतोके साथ तीव्र-मध्यमादि उपशमभेदोसे उन कषायोके जीतनेका प्रयत्न कर ॥ २१३ ॥ जो विद्वान्

तेषामाखुबिडालिकेति तदिदं धिग्धिक्कलेः प्राभवं
येनैतेऽपि फलद्वयप्रलयनाद् दूरं विपर्यासिताः ॥ २१४ ॥
उद्युक्तस्त्वं तपस्यस्यधिकमभिभवं त्वामगच्छन् कषायाः
प्राभूद्बोधोऽप्यगाधो जलमिव जलधौ किं तु दुर्लक्ष्यमन्यैः ।

---

पारलौकिकीम् । शसन्ति श्लाघन्ते । शान्त मनः उपशान्त चित्तम् । अथ च कषायवशवर्तन न परित्यजन्ति तेषामाखुबिडालिकेति– आखुश्च मूषक बिडालश्च तयोरिव वैरम् । प्राभवं[1] प्रभुत्वम् । येन प्राभवेन । एतेऽपि सुधियोऽपि फलद्वयप्रलयनात् ऐहिक-पारत्रिकफलद्वयविनाशात् । दूर विपर्यासिताः अतिशयेन वञ्चिताः ॥ २१४ ॥ कषायविनिग्रह च कुर्वता त्वया सातिशयतपोज्ञानसपन्नेन मात्सर्यलेशोऽप्युन्मूलयितव्य इति शिक्षा प्रयच्छन्नाह– उद्युक्त इत्यादि । उद्युक्त उद्यत । अधिकम् अभिभवम् अतिशयेन नाशम् । प्राभूद्बोधोऽप्यगाध उत्पन्नो बोधोऽपि

---

परिग्रहके त्यागरूप हेतु तथा उसके फलभूत मनकी शान्तिको छोडकर उस पारलौकिक सिद्धीकी अभिलाषा करते हुए स्वय ही उसके साधनस्वरूपसे शान्त मनकी प्रशसा करते है उनका यह कार्य आखु-बिडालिकाके समान है । यह सब कलि कालका प्रभाव है, उसके लिये धिक्कार हो । इस कलिकालके प्रभावसे विद्वान् भी इस लोक और परलोकसम्बन्धी फलको नष्ट करनेसे अतिशय ठगे जाते है ॥ विशेषार्थ– जिन्होंने न तो परिग्रहको छोडा है और न कषायोको भी उपशान्त किया है वे विद्वान् पारलौकिक सिद्धीकी अभिलाषा करके उसके साधनभूत अपने शान्त मनकी केवल प्रशसा करते है । उनके इन दोनो कार्योंमे बिल्ली और चूहेके समान परस्पर जातिविरोध है । कारण कि जब तक परिग्रह और राग-द्वेषादिका परित्याग नही किया जाता है तब तक मन शान्त हो ही नही सकता । ऐसे लोग इस लोक और परलोक दोनो ही लोकोके सुखको नष्ट करते है । इस लोकके सुखसे तो वे इसलिये वचित हुए कि उन्होने वाह्य विषयोको छोड दिया है । साथ ही चूंकि वे अपने मनको शान्त कर नही सके है, इसलिये पाप कर्मका उपार्जन करनेसे परलोकके भी सुखसे वचित होते हैं ॥ २१४ ॥ हे भव्य ! तू तपश्चरणमे उद्यत हुआ है, कषायोका तूने अतिशय पराभव कर दिया है, तथा समुद्रमे स्थित अगाध जलके समान तेरेमे अगाध

---

१ ज स प्रभाव । २ ज स प्रभावेन ।

निर्व्यूढेऽपि प्रवाहे सलिलमिव मनाग्निम्नदेशेष्ववश्यं
मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद् दुर्जयं तज्जहीहि ॥२१५॥
चित्तस्थमप्यनवबुद्ध्य हरेण जाड्यात्
क्रुद्ध्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्ध्या ।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥ २१६ ॥

---

महान् दुर्लक्ष्य मात्सर्यम् । मनाक् ईषत् । परवशात् कर्मवशात् ॥ २१५ ॥ ननु कषायेषु सत्सु जीवस्य कोऽपकार स्याद्येनावश्य ते जेतव्या' इत्याशङ्क्य क्रोधोदयेऽपकार दर्शयश्चित्तस्थमित्याह- चित्तस्थेत्यादि। चित्तस्थमपि अनङ्गम्। घोरा बहुतरापमान-करीम् । अवाप प्रापितवान् । स हि-स हर, हि स्फुटम् । तेन अनङ्गेन ॥ २१६ ॥

---

ज्ञान भी प्रगट हो चुका है, तो भी जैसे प्रवाहके सूख जानेपर भी कुछ नीचेके भागमे पानी अवश्य रह जाता है जो कि दूसरोके द्वारा नही देखा जा सकता है, वैसे ही कर्मके वशसे जो अपने समान अन्य व्यक्तिमे तेरे लिये मात्सर्य (ईर्ष्या भाव) होता है वह दुर्जय तथा दूसरोके लिये अदृश्य है। उसको तू छोड दे ॥ **विशेषार्थ**- जो जीव घोर तपश्चरण कर रहा है, कषायोको शान्त कर चुका है, तथा जिसे अगाध ज्ञान भी प्राप्त हो चुका है, फिर भी उसके हृदयमे अपने समान गुणवाले अन्य व्यक्तिके विषयमे जब कभी मात्सर्यभावका प्रादुर्भाव हो सकता है जो कि दूसरोके द्वारा नही देखा जा सकता है। जैसे- जलप्रवाहके सूख जानेपर भी कुछ नीचेके भागोमे जल शेष रह जाता है। उस मात्सर्य भावको भी छोड देनेका यहा उपदेश दिया गया है ॥ २१५ ॥ जिस महादेवने क्रोधको वश होते हुए अज्ञानतासे चित्तमे भी कामदेवको न जानकर उस कामदेवके भ्रमसे किसी बाह्य वस्तुको जला दिया था वह महादेव उक्त कामके द्वारा की गई भयानक अवस्थाको प्राप्त हुआ है। ठीक है- क्रोधके कारण किसके कार्यकी हानि नही होती है ? अर्थात् उसके कारण सब ही जनके कार्यकी हानि होती है ॥ **विशेषार्थ**- जब महादेव तपस्या कर रहे थे तब उनको प्रसन्न करनेके लिये पार्वती कामदेवके साथ वहा पहुँची और नृत्यादिके द्वारा उन्हे प्रसन्न करनेका

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुञ्चेत्[1] ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हृति महती करोति ॥ २१७ ॥

---

मानोदयेऽपकारं दर्शयन्नाह (चक्र) विहायेत्यादि । विहाय त्यक्त्वा । स तेन–स बाहुबली, तेन प्रव्रजनेन तपसा वा । मुञ्चेत् मुक्तो भवेत् । चिराय बहुतरकालम् ॥ २१७ ॥ गुणमहत्त्वपरपरा पश्यता च विवेकिना न मानो मनागपि कर्तुमुचित

---

प्रयत्न करने लगी, इधर कामदेवने भी वसन्त ऋतूको निर्माण कर उनके ऊपर पुष्पवाणोको छोडना प्रारम्भ कर दिया । इससे क्रोधित होकर महादेवने तीसरे नेत्रसे अग्निको प्रगट कर उक्त कामदेवको भस्म ही कर दिया । ऐसी कथा महाकवि कालिदासकृत कुमारसम्भव आदिमे प्रसिद्ध है । इसी कथाको लक्ष्यमे रखकर यहा बतलाया है कि महादेवने जिस कामदेवको क्रोधके वश होकर भस्म किया था वह तो वास्तवमे कामदेव नही था, सच्चा कामदेव तो उनके हृदयमे स्थित था जिसे उन्होने जाना ही नही । इसीलिये उस कामदेवने पीछे पार्वतीके साथ विवाह हो जानेपर उनकी वह दुरवस्था की थी । यह सब अनर्थ एक क्रोधके कारण हुआ । अतएव ऐसे अनर्थकारी क्रोधका परित्याग ही करना चाहिये ॥ २१६ ॥ अपनी दाहिनी भुजाके ऊपर स्थित चक्रको छोडकर जिस समय बाहुवलीने दीक्षा ग्रहण की थी उसी समय उन्हे उस तपके द्वारा मुक्त हो जाना चाहिये था । परन्तु वे चिरकाल तक उस क्लेशको प्राप्त हुए । ठीक है– थोडासा भी मान बडी भारी हानिको करता है ॥ विशेषार्थ– भरत चक्रवर्ती जब भरत क्षेत्रके छहो खण्डोको जीतकर वापिस अयोध्या आये तब उनका चक्ररत्न अयोध्या नगरीके मुख्य द्वारपर ही रुक गया- वह उसके भीतर प्रविष्ट न हो सका । कारणका पता लगानेपर भरतको यह ज्ञात हुआ कि मेरा छोटा भाई बाहुबली मेरी अधीनता स्वीकार नही करता है । एतदर्थ भरतने अपने दूतको भेजकर बाहुबलीको समझानेका प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल

---

१ मु (जै नि) मुक्त ।

---

हुआ– वाहुवलीने भरतकी अधीनता स्वीकार नहीं की। अन्तमें युद्धमें निरर्थक होनेवाले प्राणिसहारसे डरकर उन दोनोके बुद्धिमान् मंत्रियों द्वारा भरत और वाहुवलीके वीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और वाहुयुद्ध ये जो तीन युद्ध निर्धारित किये गये थे, उन तीनो ही युद्धोमे भरत तो पराजित हुए और वाहुवली विजयी हुए। इस अपमानके कारण क्रोधित होकर भरतने चक्ररत्नका स्मरण कर उसे वाहुवलीके ऊपर चला दिया। परन्तु वह उनका घात न करके उनके हाथमे आकर स्थित हो गया। इस घटनासे वाहुवलीको विरक्ति हुई। तव उन्होने समस्त परिग्रहको छोडकर जिनदीक्षा धारण कर ली। उस समय उन्होने एक वर्षका प्रतिमायोग धारण किया। तव तक वे भोजनादिका त्याग करके एक ही आसनसे स्थित होते हुए ध्यान करते रहे। इस प्रतिमायोगके समाप्त होनेपर भरत चक्रवर्तीने आकर उनकी पूजा की और तव उन्हे केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। इसके पूर्व उनके हृदयमे कुछ थोडीसी ऐसी चिन्ता रही कि मेरे द्वारा भरत चक्रवर्ती सक्लेशको प्राप्त हुआ है। इसीलिये सम्भवत. तवतक उन्हे केवलज्ञान नही प्राप्त हुआ और भरतचक्रवर्तीके द्वारा पूजित होनेपर वह केवलज्ञान उन्हे तत्काल प्राप्त हो गया (देखिए महापुराण पर्व ३६)। पउमचरिउ (५, १३, १९)के अनुसार 'मै भरतके क्षेत्र (भूमि) में स्थित हूँ' ऐसी थोडीसी कषायके विद्यमान रहनेसे तवतक उन्हे केवलज्ञानकी प्राप्ति नही हुई। बाहुबलीका हृदय मानकषायसे कलुषित रहा, ऐसा उल्लेख 'देहादिचत्तसगो माणकसाएण कलुसिओ धीर। अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं काल ॥ ४४ ॥' इस भावप्राभृतकी गाथामे भी पाया जाता है। इस प्रकार देखिये कि थोडासा भी अभिमान कितनी भारी हानिको प्राप्त कराता है ॥ २१७ ॥ पूर्वमें यहा जिन महापुरुषोके वचनमें सत्यता,

सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे[1]
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गो[2] गतौ निर्वृतेः[3] ।
येषां प्रागजनीह तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेर्गोचराः
चित्रं संप्रति लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः ॥ २१८ ॥

---

इति दर्शयन् सत्यमित्यादिश्लोकद्वयमाह– अनून[4] परिपूर्णम् । अर्थिनिचये याचकसघाते । मार्ग सम्यग्दर्शनादि. । गतौ गत्यर्थ । प्रागजनि एतत्सर्वं पूर्वं सजातम् । चित्रम् आश्चर्यम् । तेषा प्रागुक्तानाम् । सबन्धिनो गुणा उद्धता गर्विता ॥ २१८ ॥ वसतीत्यादि । अन्यैर्घनवातादिभि । सा च भू । ते च वायव. ।

---

बुद्धिमे आगम, हृदयमे दया, बाहुमे शूरवीरता, पराक्रममे लक्ष्मी, प्रार्थी जनोके समूहको परिपूर्ण दान तथा मुक्तिके मार्गमे गमन; ये सब गुण रहे है वे भी अभिमानसे रहित थे, ऐसा आगम (पुराणों) से जाना जाता है। परन्तु आश्चर्य है कि इस समय उपर्युक्त गुणोंका लेश मात्र भी न रहनेपर मनुष्य अतिशय गर्वको प्राप्त होते है ॥ २१८ ॥ जिस पृथिवीके ऊपर सब ही पदार्थ रहते हैं वह पृथिवी भी दूसरोंके द्वारा– घनोदधि, घन और तनु वातवलयोके द्वारा– धारण की गई है। वह पृथिवी और वे तीनो ही वातवलय भी आकाशके मध्यमे प्रविष्ट है और वह आकाश भी केवलियोके ज्ञानके एक कोनेमे विलीन है। ऐसी अवस्थामे यहा दूसरा अपनेसे अधिक गुणवालोके विषयमे कैसे गर्व धारण करता है ? ॥ **विशेषार्थ**– व्यक्ति जिस विषयमे अभिमान करता है उस विषयमे उसका अभिमान तभी उचित कहा जा सकता है जब कि वह प्रकृत विषयमे परिपूर्णताको प्राप्त हो। परन्तु ऐसा है नही, क्योकि, लोकमें प्रत्येक विषयमें एकसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा इस क्रमसे अधिकाधिक पाया जाता है। जैसे– पृथिवी महाप्रमाणवाली है, उसमे जगत्की सब ही वस्तुए समायी हुई हैं। परन्तु वह विशाल पृथिवी भी

---

१ मु (जै नि.) विक्रमो। २ ज मु (जै. नि) मार्गे। ३ मु (जै नि) गतिर्निर्वृतेः। ४ ज अन्यून।

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य ।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ॥ २१९ ॥

---

अपरस्य आकाशस्य । तदपि आकाशमपि । वहति करोति घरति वा ॥ २१९ ॥

---

वातवलयोके आश्रित है । उस पृथिवी और उन वातवलयोसे भी महान् आकाश है जो उन सबको भी अपने भीतर धारण करता है । तथा इस आकाशसे भी महान् प्रमाणवाला सर्वज्ञका ज्ञान है जो उस अनन्त आकाशको भी अपने विषय स्वरूपसे ग्रहण करता है। इस प्रकार सर्वत्र ही जब उत्कर्षकी तरतमता पायी जाती है तब कोई भी किसी विषयमें पूर्णताका अभिमान नही कर सकता है ॥ २१९ ॥ यह मरीचिकी कीर्ति सुवर्णमृगके कपटसे मलिन की गई है, 'अश्वत्थामा हतः' इस वचनसे युधिष्ठिर स्नेही जनोके बीचमे हीनताको प्राप्त हुए, तथा कृष्ण वामनावतारमे कपटपूर्ण बालकके वेषसे श्यामवर्ण हुए– अपयशरूप कालिमासे कलंकित हुए । ठीक है– थोडासा भी वह कपटव्यवहार महान् दूधमे मिले हुए विषके समान घातक होता है ॥ **विशेषार्थ**– मायाव्यवहारके कारण प्राणियोको किस प्रकारका दुःख सहना पडता है यह बतलाते हुए यहा मरीचि, युधिष्ठिर और कृष्णके उदाहरण दिये गये हैं । इनमे इन्ही गुणभद्राचार्यके द्वारा विरचित उत्तरपुराणमें (देखिए पर्व ६८) मरीचिका वह कथानक इस प्रकार पाया जाता है– अयोध्यापुरीमे महाराज दशरथ राजा राज्य करते थे । किसी समय अवसर पाकर रामचन्द्र और लक्ष्मणने प्रार्थना की कि वाराणसी पुरी पूर्वमे हमारे आधीन रही है । इस समय उसका कोई शासक नही है । अतएव यदि आप आज्ञा दे तो हम दोनों उसे वैभवसे परिपूर्ण कर दें । इस प्रकार उनके अतिशय आग्रहको देखकर दशरथ राजाने कष्टपूर्वक उन्हे वाराणसी जानेकी आज्ञा दे दी । वाराणसी जाते समय दशरथने रामचन्द्रको राजपद और लक्ष्मणको युवराजपद प्रदान किया । वे दोनो वहां जाकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए उसके स्नेहभाजन

**यशो मारीचीयं कनकमृगमायामलिनितं**
**हतोऽश्वत्थामोक्त्या प्रणयिलघुरासीद्यमसुतः ।**
**सकृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबटुवेषेण नितरा-**
**मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ।। २२० ।।**

---

मायाकषायादपकारं दर्शयन् यशो मारीचीयमित्यादिश्लोकत्रयमाह-यश इत्यादि । मरीचेरिद मारीचीयम् । प्रणयिलघु प्रणयिना स्नेहिना मध्ये लघु । सकृष्ण मषीवर्ण कृष्णः वासुदेव· । कपटवटु. मायावटु । अपि छद्माल्प छद्म माया । अल्पमपि तत् छद्म । विषमिव दूषणक भवति ।। २२० ।। भेयमित्यादि भेय मय कर्तव्यम् ।

---

बन गये । उधर लंकामें प्रतापी रावण राज्य कर रहा था । उसे तीन खण्डोके अधिपति होनेका बडा अभिमान था । उसके पास एक दिन नारदजी जा पहुचे । रावण द्वारा आगमनका कारण पूछनेपर वे वोले कि मै आज वाराणसीसे आ रहा हू । वहा दशरथ राजाका पुत्र रामचन्द्र राज्य करता है । उसे मिथिलाके स्वामी राजा जनकने यज्ञके वहाने वहा बुलाकर अपनी रूपवती सौभाग्यशालिनी कन्या दी है । वह आपके योग्य थी । राजा जनकने आप जैसे तीन खण्डोंके अधिपतीके होते हुए भी रामचन्द्रको कन्या देकर आपका अपमान किया है । यह मुझे सहन नही हुआ । इसीलिये स्नेहवश इधर चला आया । यह सुनकर रावण कामसे संतप्त हो उठा । तब उसने अपने मारीच नामक मत्रीको बुलाकर उससे कहा कि दशरथ राजाके पुत्र राम और लक्ष्मण बहुत अभिमानी हो गये है, वे मेरे पदको प्राप्त करना चाहते है । अतएव उन दोनोको मारकर रामचन्द्रकी पत्नी सीताके हरणका कोई उपाय सोचो । इसपर मारीचने रावणको बहुत कुछ समझाया । पर जब वह न माना तो सीताकी इच्छा जाननेके लिये उसके पास सूर्पणखाको भेजा गया । उस समय वसन्त ऋतुका समय होनेसे रामचन्द्र सीताके साथ चित्रकूट नामके उद्यानमे जाकर क्रीडा कर रहे थे । वहा जब वह सूर्पणखा स्त्रीका रूप धारण कर सीताके पास पहुची तब अन्य रानिया उसकी हसी करने लगी । यह देखकर वह उनसे बोली कि आप सब बहुत सौभाग्यशालिनी है । आप लोगोने पूर्वमे

कौनसा पुण्यकार्य किया है, उसे मुझे बतलाइये। मैं भी तदनुसार अनुष्ठान करके इस राजाकी पत्नी होना चाहती हू। यह सुनकर स्त्री-पर्यायकी निन्दा करते हुए सीताने जो उसे उपदेश दिया उससे हतोत्साह होकर वह वापिस चली गई। उसे निश्चय हो गया कि कदाचित् सुमेरु विचलित हो सकता है, पर सीताका मन विचलित नही हो सकता है। सूर्पणखासे यह समाचार जानकर रावण उसके ऊपर क्रोधित होता हुआ, मारीचके साथ पुष्पक विमानपर आरूढ हुआ और उधर चल दिया। इस प्रकार चित्रकूट उद्यानमें जाकर उसने मारीचको मणिमय सुन्दर हरिण बनकर सीताके सामनेसे जानेकी आज्ञा दी। तदनुसार उसके सीताके सामनेसे निकालनेपर उसे देखकर सीताकी उत्सुकता बढ गई। उसकी उत्सुकताको देखकर रामचन्द्र उसे पकडनेके लिये उसके पीछे चल पडे। इस प्रकार बहुत दूर जानेपर वह कपटी हरिण आकाशमें उडकर चला गया। उधर रावण रामचन्द्रके वेषमे सीताके पास पहुचा और बोला कि हे प्रिये! मैंने उस हरिणको पकडकर भेज दिया है। अब सन्ध्या हो गई है, इसलिये पालकीमे संवार होकर नगरको वापिस चले। यह कहते हुए उसने मायासे पुष्पक विमानको पालकीके रूपमे परिणत कर दिया और अपने आपका इस प्रकार दिखलाया जैसे रामचन्द्र घोडेपर चढकर पृथिवीपर चल रहे हो। इस प्रकार भोली सीता अज्ञानतासे उसपर चढ गई और तब रावण उसे लका ले गया। इस प्रकार सीताके अपहरणका कारण मारीचका वह कपटपूर्ण व्यवहार ही था जिसके कारण पृथिवीपर उसका अपयश फैला। 'अश्वत्थामा हतः' इस वाक्यका उच्चारण करनेवाले युधिष्ठिरका वह वृत्तान्त महाभारत (द्रोण पर्व अध्याय १९०–९२) मे इस प्रकार पाया जाता है– महाभारत युद्धमे जब पाण्डव द्रोणाचार्यके

---

बाणोसे बहुत त्रस्त हो गये थे और उन्हे जयकी आशा नही रही थी तब उन्हे पीडित देखकर कृष्ण अर्जुनसे बोले कि द्रोणाचार्यको सग्राममे इन्द्रके साथ देव भी नही जीत सकते है। उन्हें युद्धमें मनुष्य तब ही जीत सकते जब कि वे शस्त्रसन्यास ले लें। इसके लिये हे पाण्डवो! धर्मको छोडकर कोई उपाय करना चाहिये। मेरी समझसे अश्वत्थामाके मर जानेपर वे युद्ध न करेगे और इस प्रकारसे तुम सबकी रक्षा हो सकती है। इसके लिये कोई मनुष्य युद्धमे उनसे अश्वत्थामाके मरनेका वृत्तान्त कहे। यह कृष्णकी सम्मति अर्जुनको नही रुची, युधिष्ठिरको वह कष्टके साथ रुची, परन्तु अन्य सबको वह खूब रुची। तब भीमने मालव इन्द्रवर्माके अश्वत्थामा नामक भयकर हाथीको अपनी गदाके प्रहारसे मार डाला और युद्धमे द्रोणाचार्यके सामने जाकर 'अश्वत्थामा हत.– अश्वत्थामा मर गया' इस वाक्यका जोरसे उच्चारण किया। उस समय चूकि अश्वत्थामा नामका हाथी मर ही गया था, अत. ऐसा मनमे सोचकर भीमने यह मिथ्या भाषण किया। इस वाक्यको सुनकर यद्यपि द्रोणाचार्यको खेद तो बहुत हुआ फिर भी अपने पुत्रके पराक्रमको देखते हुए उस वाक्यके विषमे सदिग्ध होकर उन्होने धैर्यको नही छोडा। उस समय उन्होने धृष्टद्युम्नके ऊपर तीक्ष्ण बाणोकी वर्षा की। यह देखकर बीस हजार पचालोने युद्धमे उन्हे बाणोसे ऐसा व्याप्त कर दिया जैसे कि वर्षा ऋतुमे मेघोसे सूर्य व्याप्त हो जाता है। तब द्रोणाचार्यने क्रोधित होकर उन सबके [illegible] अस्त्र उत्पन्न किया और उन हजारो सुभटोके साथ [illegible] इतने ही घोडोको मारकर उनके शवोसे [illegible]

[illegible] से रहित [illegible]

करते हुए

---

अत्रि आदि ऋषि उन्हे ब्रह्मलोकमे ले जानेकी इच्छासे वहा शीघ्र ही आ पहुचे। वे सब उनसे बोले कि हे द्रोण! तुमने अधर्मसे युद्ध किया है, अब तुम्हारी मृत्यु निकट है, अतएव तुम युद्धमे शस्त्रको छोडकर यहा स्थित हम लोगोंकी ओर देखो। अब इसके पश्चात् तुम्हे ऐसा अतिशय क्रूर कार्य करना योग्य नही है। तुम वेदवेदांगके वेत्ता और सत्य धर्ममे लवलीन हो। इसलिये और विशेषकर ब्राह्मण होनेसे तुम्हे यह कृत्य शोभा नही देता! तुमने शस्त्रसे अनभिज्ञ मनुष्योंको ब्रह्मास्त्रसे दग्ध किया है। हे विप्र! यह जो तुमने दुष्कृत्य किया है वह योग्य नही है। अब तुम युद्धमे आयुधको छोड दो। इस प्रकार उन महर्षियोके वचनोको सुनकर तथा भीमसेनके वाक्य ( अश्वत्थामा हत. ) का स्मरण करके द्रोणाचार्य युद्धकी ओरसे उदास हो गये। तब उन्होने भीमके वचनमे सन्दिग्ध होकर अश्वत्थामाके मरने व न मरने बाबत युधिष्ठिरसे पूछा। कारण यह है कि उन्हे यह दृढ विश्वास था युधिष्ठिर कभी असत्य नही बोलेगा। इधर कृष्णको जब यह ज्ञात हुआ कि द्रोणाचार्य पृथिवीको पाण्डवोसे रहित कर देना चाहते हैं तब वे दुःखित होकर धर्मराज (युधिष्ठिर) से बोले कि यदि द्रोणाचार्य क्रोधित होकर आधे दिन भी युद्ध करते है तो मैं सच कहता हू कि तुम्हारी सब सेना नष्ट हो जावेगी। इसलिये आप हम लोगोंकी रक्षा करे। इस समय सत्यकी अपेक्षा असत्य बोलना कही अधिक प्रशसनीय होगा। जो जीवितके लिये असत्य बोलता है वह असत्यजनित पापसे लिप्त नही होता है। कृष्ण और युधिष्ठरके इस उपर्युक्त वार्तालापके समय भीमसेन युधिष्ठिरसे बोला कि हे महाराज! द्रोणाचार्यके वधके उपायको सुनकर मैंने मालव इन्द्रवर्माके अश्वत्थामा नामसे प्रसिद्ध हाथीको मार डाला और तब द्रोणाचार्यसे कह दिया कि हे ब्रह्मन्! अश्वत्थामा मर गया है, अब

---

तुम युद्धसे विमुख हो जाओ। परतु उन्होने मेरे कहनेपर विश्वास नही किया। अब आप कृष्णके वचनोको मानकर विजयकी इच्छासे द्रोणाचार्यसे अश्वत्थामाके मर जाने बावत कह दे। हे राजन्! आपके वैसा कह देनेसे द्रोणाचार्य कभी भी युद्ध नही करेगे। कारण कि आप तीनो लोकोमे सत्यवक्ताके रूपमे प्रसिद्ध है। इस प्रकार भीमसेनके कथनको सुनकर और कृष्णको प्रेरणा पाकर युधिष्ठर वैसा कहनेको उद्यत हो गये। तब उन्होने 'अश्वत्थामा हत.' इस वाक्याशको जोरसे कहकर पीछे अस्पष्ट स्वरसे यह भी कह दिया कि 'उत कुञ्जरो हत.— अश्वत्थामा मरा है अथवा हाथी मरा है'। जब तक युधिष्ठिरने उक्त वाक्यका उच्चारण नही किया था तब तक उनका रथ पृथिवीसे चार अगुल ऊंचा था। परतु जैसे ही उन्होने उसका उच्चारण किया कि वैसे ही उनके उस रथके घोडे पृथिवीका स्पर्श करने लगे। उधर युधिष्ठिरके मुखसे उस वाक्यको सुनकर द्रोणाचार्य पुत्रके मरणसे सतप्त होते हुए जीवनकी ओरसे निराश हो गये। उस समय वे ऋषियोके कथनानुसार अपनेको महात्मा पाण्डवोका अपराधी समझने लगे। इस प्रकार वे पुत्रमरणके समाचारसे उद्विग्न एव विमनस्क होकर धृष्टद्युम्नको देखते हुए भी उससे युद्ध करनेके लिये समर्थ नही हुए।

यह कथानक सक्षेपमे कुछ थोडेसे परिवर्तनके साथ श्री शुभचन्द्रविरचित पाण्डवपुराण ( पर्व २०, श्लोक २१७-२३३ ) तथा देवप्रभसूरिविरचित पाण्डवचरित्र ( १३, ४९८-५१४ ) मे भी पाया जाता है।

कृष्णके कपटपूर्ण बटुवेशका उपाख्यान वामनपुराण (अ ३१) में इस प्रकार पाया जाता है— विरोचनका पुत्र एक बलि नामका दैत्य था, जो अतिशय प्रतापी था। उसके अशना नामकी पत्नीसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। एक समय वह यज्ञ कर रहा था। उस समय अकस्मात् पर्वतोके

साथ समस्त पृथिवी क्षुभित हो उठी थी। पृथिवीके इस प्रकारसे क्षुभित देखकर बलिने शुक्राचार्यको नमस्कार कर उनसे इसका कारण पूछा। उत्तरमे वे बोले कि भगवान् कृष्णने वामनके रूपमे कश्यपके यहा अवतार लिया है। वे तुम्हारे यज्ञमे आ रहे है। उनकी पादप्रक्षेपसे पृथिवी विचलित हो उठी है। यह उस जगद्धाता कृष्णकी माया है। शुक्राचार्यके इन वचनोको सुनकर बलिको बहुत हर्ष हुआ, उसने अपनेको अतिशय पुण्यशाली समझा। उनका यह वार्तालाप चल ही रहा था कि उसी समय कृष्ण वामनके वेषमे वहा आ पहुचे। तब बलिने अर्घ लेकर उनकी पूजा करते हुए कहा कि मेरे पास सुवर्ण, चादी, हाथी, घोडे, स्त्रिया, अलकार एव गाये आदि सब कुछ है, इनमेसे जो कुछ भी मागो उसे मै दूगा। इसपर हसकर कृष्णने वामनके रूपमे कहा कि तुम मुझे तीन पाद मात्र पृथिवी दो। सुवर्ण आदि तो उनको देना जो उनके ग्रहणकी इच्छा करते हो। इसे स्वीकार करते हुए बलिने उनके हाथपर जलधारा छोडी। उस जलधाराके गिरते ही कृष्णने वामनाकारको छोडकर अपने सर्व देवमय विशाल रूपको प्रकट कर दिया। इस प्रकारसे कृष्णने तीन लोकोको जीतकर और प्रमुख असुरोका संहार कर उन तीनो लोकोको इन्द्रके लिये दे दिया। इसके साथ ही उन्होने सुतल नामक पाताल बलिके लिये भी दिया। उस समय वे बलिसे बोले कि तुमने जलधारा दी है और मैने उसे हाथसे ग्रहण किया है, अतएव तुम्हारी आयु कल्पप्रमाण हो जावेगी, वैवस्वत मनुके पश्चात् सार्वणिक मनुके प्रादुर्भूत होनेपर तुम इन्द्र होओगे, इस समय मैने समस्त लोक इन्द्रको दे दिया है। जब तुम देवो और ब्राह्मणोसे विरोध करोगे तब तुम वरुणके पाशसे बंधे जाओगे। इस समय जो तुमने बहुत दानादि सत्कार्य किये हैं वे उस समय अपना फल देगे। इस प्रकार कृष्णने मायापूर्ण व्यवहारसे बलिपर विजय पायी थी अतएव वे अयशरूप कालिमासे लिप्त हुये ॥ २२० ॥

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्
यस्मिल्लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥ २२१ ॥
प्रच्छन्नकर्म मम[1] कोऽपि न वेत्ति धीमान्
ध्वंसं गुणस्य महतोऽपि हि मेति मंस्थाः ।

---

मायामहागर्तात् मायैव महागर्त अन्धकूप तस्मात् । कथभूतात् । मिथ्याघनतमोमयात् मिथ्या असत्य तदेव घन निबिडं तमस्तेन निर्वृत्तात्[2] । यस्मिन् मायामहागर्ते । लीनास्तिरोहिता । क्रोधादिविषमाहय क्रोधादय एव विषमा रौद्रा अहय: सर्पाः ॥ २२१ ॥ प्रच्छन्नेत्यादि । प्रछन्नम् अप्रकटकम् । ध्वस विनाशम् । मेति मस्था.

---

जो मायाचाररूप वडा गड्ढा मिथ्यात्वरूप सघन अन्धकारसे परिपूर्ण है तथा जिसके भीतर छिपे हुए क्रोधादि कषायोरूप भयानक सर्प देखनेमें नही आते है उस मायारूप गड्ढेसे भयभीत होना चाहिये ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार सघन अन्धकारसे परिपूर्ण एव सर्पादिकोसे व्याप्त गहरे गड्ढेमे यदि कोई प्राणी असावधानीसे गिर जाता है तो उससे उसका उद्धार होना अशक्य है–सर्पादिकोके द्वारा काटनेसे वहा ही वह मरणको प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह मायाचार भी एक प्रकारका गहरा गड्ढा ही है– गड्ढा यदि अन्धकारसे पुर्ण होता है तो वह मायाचार भी असत्यसम्भाषणादिरूप अन्धकारसे पूर्ण होता है तथा गड्ढेमें जहा दुष्ट सर्पादि छिपे रहते है वहा मायाचारमे भी उक्त सर्पोके समान कष्टप्रद क्रोधादि कषाये छिपी रहती है। अतएव आत्महितैषी जीवोको उस भयानक मायाचाररूप गड्ढेसे दूर ही रहना चाहिये ॥ २२१ ॥ हे भव्य! कोई भी बुद्धिमान् मेरे गुप्त पापकर्मको तथा मेरे

---

१ मुद्रितप्रतिपाठोऽयम्, ज प प्रच्छन्नपापमम, स प्रच्छन्नपापमंमि ।
२ ज स निवृत्तात् ।

कामं गिलन् धवलदीधितिधौतदाहं[1]
गूढोऽप्यबोधि न विधुं[2] स विधुन्तुदः कैः ॥ २२२ ॥
वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलबालधिः
किल जडतया[3] लोलो बालव्रजेऽविचलं स्थितः ।

---

इत्येव मा बुध्यस्व । कामम् अत्यर्थम् । धवलदीधितीत्यादि-धवलदीधितिभि. शुभ्रकिरणै धौत स्फेटितो दाहो येन विधुना तम् । गूढ दुर्लक्ष्य । अबोधि । विधु[4] चन्द्रम् ॥ २२२ ॥ लोभकषायादपकार दर्शयन्नाह-वनेत्यादि । वनचर भिल्लः व्याघ्रादिर्वा । लताकुलबालधिः लताया आलग्नपुच्छ । जलतया जडतया । लोलः लोभवान् । क्व । बालव्रजे बालसमूहे । अविचल यथा भवत्येव स्थित । तेन

---

महान् गुणके नाशको भी नही जाणता है, ऐसा तू न समझ । ठीक है– अपनी धवल किरणोके द्वारा प्राणियोके सतापको दूर करनेवाले चन्द्रको अतिशय ग्रसित करनेवाला गुप्त भी वह राहु किनके द्वारा नही जाना गया है? अर्थात् वह सभीके द्वारा देखा जाता है ॥ विशेषार्थ– मायावी मनुष्य प्राय यह समझता है कि मै जो यह कपटपूर्ण आचरण कर रहा हू न उसे ही कोई जानता देखता है और न उसके कारण होनेवाली गुणकी हानिको भी । परन्तु यह समझना उसकी भूल है । देखो, जो चन्द्र अपनी निर्मल शीतल किरणोंसे ससारके संतापको दूर करके उसे आल्हादित करता है उसे राहु कितनी भी गुप्त रीतिसे क्यो न ग्रसित करे, परन्तु तह लोगोकी दृष्टिमे आ ही जाता है– वह छिपा नही रहता है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य जो कपटपूर्ण व्यवहार करता है वह तत्काल भले ही प्रगट न हो, किन्तु कालान्तरमे वह प्रगट हो ही जाता है । अतएव ऐसा समझकर मायापूर्ण व्यवहार कभी भी न करना चाहिये ॥ २२२ ॥ बनमे संचार करनेवाले सिंहादि अथवा भीलके भयसे भागते

---

१ मु (जै नि) दाहो । २ मु (जै. नि.) विधु । ३ ज स अबोधि बुध. (बुधै.) विधु । ४ प मु (जै. नि.) जडतया ।

**बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः**
**परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥ २२३ ॥**
**विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः**
**शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।**
**नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता**
**भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥ २२४ ॥**

---

वनचरेण । प्राणैरपि- न केवल बालव्रजेन, अपि तु प्राणैरपि स प्रकर्षेण प्रवियोजितः । परिणततृषा प्रवृद्धतृष्णानाम् । विपत्तयः आपद ॥ २२३ ॥ तस्मात्कषायानेव- विघापकारकान् विनिर्जित्य आसन्नभव्य एवविधा सामग्री लभते इति दर्शयन् विषयेत्यादिश्लोकद्वयमाह– विषयेत्यादि । सग परिग्रह । तत्त्वाभ्यास. सप्ततत्त्वभावना । नियमिता नियन्त्रिता ॥ २२४ ॥ यमनियमेत्यादि–

---

हुए जिस चमर मृगकी पूछ दुर्भाग्यसे लतासमूहमे उलझ गई है तथा जो अज्ञानतासे उस पूछके बालोके समूहमे लोभी होकर वहीपर निश्चलतासे खडा हो गया है, वह मृग खेद है कि उक्त सिंहादि अथवा व्याधके द्वारा प्राणोसे भी रहित किया जाता है । ठीक है– जिनकी तृष्णा वृद्धिगत है उनके लिये प्राय करके विपत्तीयां ही प्राप्त होती है ॥ **विशेषार्थ**– प्राणीको कैसा कष्ट भोगना पडता है, इसका उदाहरण देते हुए यहा यह वतलाया है कि देखो जो चमर मृग दौडनेमे अतिशय प्रवीण होता है उसकी पूछ जब व्याधाधिके भयसे दौडते हुए लताओमे फस जाती है तब वह बालोके लोभसे– मेरी पूछके सुन्दर बाल टूट न जावे इस विचारसे– दौडना बंद करके वहीपर रुक जाता है और इसीलिये वह व्याधादिके द्वारा केवल उन बालोसे ही रहित नही किया जाता है, किन्तु उनके साथ प्राणोसे भी रहित किया जाता है । इसी प्रकार सभी लोभी जीवोंको उक्त लोभके कारण दु.सह दु.ख सहना पडता है ॥ २२३ ॥ इन्द्रियविषयोसे विरक्ति, परिग्रहका त्याग कषायोका दमन, राग-द्वेषकी शान्ति यम-नियम, इन्द्रियदमन, सात तत्त्वोका विचार, तपश्चरणमे उद्यम, मनकी प्रवृत्तिपर नियन्त्रण, जिन भगवान्में भक्ति, और प्राणियोपर दयाभाव, ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीवके होते हैं जिसके कि ससाररूपी समुद्रका किनारा निकटमें आ चुका है ॥ २२४ ॥

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥ २२५ ॥

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः ।
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥ २२६ ॥

---

यम-नियमनितान्त यमो यावज्जीव व्रतम्, नियमो नियतकालव्रतम्, तयोर्नितान्तः तत्पर । शान्तबाह्यान्तरात्मा शान्त उपशान्त व्यावृत्तो बाह्ये वस्तुनि अन्तरात्मा मनो यस्य । परिणमितसमाधि. स्थिरता गतसमाधि । सर्वसत्त्वानुकम्पी सर्वप्राणिषु कारुणिक' । विहितहितमिताशी विहितम् आगमोक्त हित परिणामपथ्य मित स्तोकम् अश्नातीत्येवशील: । क्लेशजाल क्लेशसघात (त) । समूल तत्कारण-भूतकर्मणा सह । निश्चिताध्यात्मसार अनुभूतशुद्धात्मस्वरूपः ॥ २२५ ॥ ये चैवविधगुणसपन्ना मुनय ते मुक्तेर्भाजन भवन्त्येवेत्याह—समधिगतेत्यादि । समधिगत परिज्ञान समस्त हेयोपादेयतत्त्व यै । स्वहितनिहितचित्ता. स्वहिते रत्नत्रये निहित स्थापित चित्त यै । शान्तसर्वप्रचारा शान्ता उपशम गता सर्वप्रचारा. सर्वेन्द्रियप्रवृत्तय येषाम् । स्व-परसफलजल्पा स्व-परयो सफल. उपकारक जल्पो वचनव्यापारो येषाम् । विमुक्ता मुनय ॥ २२६ ॥ मुक्तिभाजनतामात्मनो वाञ्छता

---

जो यम-यावज्जीवन किये गये व्रत, तथा नियममे- परिमित कालके लियेधारण किये गये व्रतमे- उद्यत है, जिसकी अन्तरात्मा (अन्त.करण) बाह्य इन्द्रियविषयोसे निवृत्त हो चुकी है, जो ध्यानमे निश्चल रहता है, सब प्राणियोके विषयमे दयालु है, आगमोक्त विधिसे हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजनको ग्रहण करनेवाला हैं, निद्रासे रहित है, तथा जो अध्यात्मके रहस्यको जान चुका है, ऐसा जीव समस्त क्लेशोके समूहको जडमूलसे नष्ट कर देता है ॥ २२५ ॥ जो समस्त हेय-उपादेय तत्वके जानकार है, सब प्रकारकी पापक्रियाओंसे रहित है, आत्महितमे मनको लगाकर समस्त इन्द्रियव्यापारको शान्त करनेवाले है, स्व और परके लिये हितकर वचनका व्यवहार करते है, तथा सब सकल्प-विकल्पोसे रहित हो चुके है, ऐसे वे मुनि यहा कैसे मुक्तिके पात्र न होगे ? अवश्य होगे ॥ २२६ ॥ जो विषयरूप राजाकी दासताको प्राप्त हुए है तथा

दासत्वं विषयप्रभोर्गतवतामात्मापि येषां परस्-
तेषां भो गुणदोषशून्यमनसां किं तत्पुनर्नश्यति।
भेतव्यं भवतैव यस्य भुवनप्रद्योति रत्नत्रयं
भ्राम्यन्तीन्द्रियतस्कराश्च परितस्त्वां तन्मुहुर्जागृहि ॥ २२७ ॥

---

भवता रत्नत्रयवता तद्विलोपे भय कर्तव्यम्, (न) पुनर्विषयासक्तजनवत्तत्र निर्भयेन भवितव्यमित्याह– दासत्वमित्यादि। पर पराधीन.। परितस्त्वा तव समन्तात्। मुहुर्जागृहि इन्द्रियचौरैर्यथा नाभिभूयसे तथा पुन. पुनर्दत्तावधानो भव ॥ २२७ ॥

---

जिनका आत्मा भी पर ( पराधीन ) है ऐसे उन गुण-दोषके विचारसे रहित मनवाले प्राणियोका भला वह क्या नष्ट होता है? अर्थात् उनका कुछ भी नष्ट नही होता है। परन्तु हे साधो! चूंकि तेरे पास लोकको प्रकाशित करनेवाले अमूल्य तीन (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) रत्न विद्यमान है अतएव तुझको ही डरना चाहिये। कारण कि तेरे चारो ओर इन्द्रियरूप चोर घूम रहे हैं। इसलिये तू निरन्तर जागता रह ॥ **विशेषार्थ–** लोकमे देखा जाता है कि जिनके पास कुछ भी नही है उन्हे चोर आदिका कुछ भी भय नही रहता। वे रात्रिमें निश्चिन्त होकर गाढ निद्रामे सोते है। किन्तु जिनके पास धन-सपत्ति आदि होती है वे सदा भयभीत रहते है। उन्हे चोर-डाकू आदिसे उसकी रक्षा करनी पडती है। इसीलिये वे रात्रिमे सदा सावधान रहते हैं– निश्चिन्ततासे नही सोते है। यदि कोई धनवान् निश्चिन्ततासे सोता है तो चोरो द्वारा उसका धन लूट लिय जाता है। इसी प्रकारसे जो प्राणी विपयोके दास वने हुए है उनके पास तो वहुमूल्य सपत्ति (सम्यग्दर्शनादि) कुछ भी नही है। इसीलिये वे चाहे सावधान रहे और चाहे असावधान, दोनो ही अवस्थाये उनके लिये समान हैं। परन्तु जिसके पास सम्यग्दर्शनादिरूप अमूल्य संपत्ति है तथा जिसे चुरानेके लिये उसके चारो ओर इन्द्रियरूप चोर भी घूम रहे है उसे तो उसकी रक्षा करनेके लिये सदा ही सावधान रहना चाहिये। कारण यह कि यदि उसने इस विषयमें थोडी-सी भी असावधानी की तो उसकी यह वडे परिश्रमसे प्राप्त की गई संपत्ति उक्त चोरोके द्वारा अवश्य लूट ली जावेगी– नष्ट कर दी जावेगी। इसीलिये यहा ऐसे ही साधुको लक्ष्य करके यह प्रेरणा की गई है कि तू सदा सावधान रहकर अपने रत्नत्रयकी रक्षा कर ॥ २२७ ॥

**रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहो**
**मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु ।**
**धीमान् किमामयभयात्परिहृत्य भुक्तिं**
**पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम् ॥ २२८ ॥**

---

विषयेषु विगतव्यामोहेन च भवता कमण्डलुपिच्छिकाद्युपकरणेष्वपि व्यामोहो न कर्तव्य इति शिक्षा प्रयच्छन्नाह– रम्येष्वित्यादि । वीतमोह विनष्टमोह' मुह्येत् मोह गच्छेत् । सयमसाधनेषु पिच्छिकाद्युपकरणेपु । आमयेत्यादि । यो हि व्याधिभयाद् भुक्ति परिहरति स किं व्याधिप्रतीकारार्थं तथा मात्राधिकम् ओपधिम् । जातुचित् कदाचिदपि पिवति येन अजीर्णं मवति ॥ २२८ ॥ सर्वत्र विगतमोहोऽपि मुनिरित्थ

---

हे भव्य ! जब तू रमणीय बाह्य अचेतन वस्तुओ एव चेतन स्त्री-पुत्रादिके विषयमें मोहसे रहित हो चुका है तब फिर सयमके साधनभूत पीछी–कमण्डलु आदिके विषयमें क्यो व्यर्थमे मोहको प्राप्त होता है ! क्या कोई बुद्धिमान रोगके भयसे भोजनका परित्याग करता हुआ औषधिको पीकर कभी अजीर्णको प्राप्त होता है? अर्थात् नही प्राप्त होता है। **विशेषार्थ**– जो बुद्धिमान् मनुष्य रोगके भयसे भोजनका परित्याग करता है वह कभी औषधिको अधिक मात्रामे पीकर उसी रोगको निमत्रण नही देता है। और यदि वह ऐसा करता है तो फिर वह बुद्धिमान् न कहला कर मूर्ख ही कहा जावेगा। इसी प्रकार जो बुद्धिमान् मनुष्य चेतन (स्त्री-पुत्रादि) और अचेतन ( धन-धान्यादि ) पदार्थोंसे मोहको छोडकर महाव्रतोको स्वीकार करता है वह कभी सयमके उपकरणस्वरूप पीछी एव कमण्डलु आदिके विषयमें अनुरागको नही प्राप्त होता है। और यदि वह ऐसा करता है तो समझना चाहिये कि वह अतिशय अज्ञानी है। कारण कि इस प्रकारसे उसका परिग्रहको छोडकर मुनिधर्मको ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है। इसीलिये यहा यह उपदेश दिया गया है कि हे साधो ! जब तू स्त्री आदि समस्त बाह्य वस्तुओसे अनुराग छोड चुका है तो फिर पीछी कमण्डलु आदिके विषयमें भी व्यर्थमे अनुराग न कर। अन्यथा तू इस लोकके सुखसे तो रहित हो ही चुका है, साथ ही वैसा करनेसे परलोकके भी सुखसे वचित हो जावेगा ॥ २२८ ॥ बाहिर उत्पन्न होकर

तपः श्रुतमिति द्वयं बहिरुदीर्य रूढं यदा
कृषीफलमिवालये समुपलीयते[1] स्वात्मनि ।
कृषीवल इवोज्झितः करणचौरबाधादिभिः
तदा हि मनुते यतिः स्वकृतकृत्यतां धीरधीः ॥ २२९ ॥

---

कृतार्थतामात्मनो मन्यते इत्याह– तप इत्यादि । उदीर्य प्रकाश्य । रूढ प्रवृद्धम् । कृपीवल· कुटुम्बिक· । उज्झितस्त्यक्त ॥ २२९ ॥ श्रुतज्ञानेन अशेपार्थविनशान्मम न

---

वृद्धिगत हुई कृषीके फल ( अनाज ) को जब चोर आदिकी बाधाओंसे सुरक्षित रखकर घर पहुचा दिया जाता है तब जिस प्रकार धीर बुद्धि किसान अपनेको कृतकृत्य ( सफल प्रयत्न ) मानता है, उसी प्रकार बाह्यमे उत्पन्न होकर वृद्धिको प्राप्त हुए तप और आगमज्ञान इन दोनोंको इन्द्रियोंरूप चोरोंकी बाधाओसे सुरक्षित रखकर जब अपनी आत्मामें स्थिर करा देता है तब धीरबुद्धि साधु भी अपनेको कृतकृत्य मानता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार साहसी किसान पहिले योग्य भूमिमें बीजको बोता है और जब वह अकुरित हो जाता है तो वह उसकी पशु आदिसे रक्षा करता है । इस क्रमसे उसके पक जानेपर जब किसान उसे चोरों आदिसे बचाकर अपने घर पहुंचा देता है तब ही वह अपने परिश्रमको सफल मानकर हर्षित होता है । इसी प्रकारसे जो साधु बाह्यमें तपश्चरण करता है तथा आगमका अभ्यास भी करता है उसके ये दोनो कार्य उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होकर जब इन्द्रियोंकी बाधाओंसे सुरक्षित रहते हुए आत्मामे स्थिरताको प्राप्त हो जाते हैं तब ही उसे अपना परिश्रम सफल समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामें ही वह अपने साध्य (मोक्ष) को सिद्ध कर सकता है, अन्यथा नहीं । यहां श्लोकमें जो 'धीरधी' (धीरबुद्धि) विशेषण दिया गया है उसका यह भाव है कि जिस प्रकार किसान बीज बोते समय अधीर होकर यह कभी विचार नहीं करता है कि यदि फसल अच्छी तैयार न हुई तो मुझे दोनों हानि सहनी पड़ेगी, किन्तु इसके विपरीत वह साहस रखकर [illegible]

---

1 मु (जं. नि ) समुपनीयते ।

दृष्टार्थस्य न मे किमप्ययमिति ज्ञानावलेपादमुं
नोपेक्षस्व जगत्त्रयैकडमरं निःशेषयाशाद्विषम् ।
पश्याम्भोनिधिमप्यगाधसलिलं बाबाध्यते वाडवः
क्रोडीभूतविपक्षकस्य जगति प्रायेण शान्तिः कुतः ॥ २३० ॥

---

किंचित्कर्तुं समर्थोऽयमित्याशा-शत्रौ नोपेक्षा कर्तव्येति शिक्षां प्रयच्छन् दृष्टेत्याह– दृष्टार्थस्य ज्ञातार्थस्य। न मे किमप्ययम्- अयम् आशा-द्विट् न मे किमपि कर्तुं समर्थः। अवलेपात् गर्वात् । जगत्त्रयैकडमर जगत्त्रयस्य एकम् अद्वितीय डमर भय क्षोभो वा यस्मात् । नि शेषय स्फेटय । आशा-द्विषम् आशा-शत्रुम् । अगाधसलिलमपि । बाबाध्यते सातिशयेन बाधते । क्रोडीभूतविपक्षकस्य स्वीकृतशत्रो' ॥ २३० ॥

---

आशासे ही उसे बोता है। उसी प्रकार जो समस्त बाह्य परिग्रहको छोडकर तपश्चरणको स्वीकार करता है उसे भी अधीर होकर कभी ऐसा विचार नही करना चाहिये कि जिस तपके फल ( स्वर्ग-मोक्ष ) की प्राप्तिकी आशासे मै वर्तमान सुखको छोडकर उसे स्वीकार कर रहा हू वह फल यदि न प्राप्त हुआ तो मुझे व्यर्थ ही कष्ट सहना पडेगा। किन्तु इसके विपरीत उसे यही निश्चय करना चाहिये कि तपका फल जो स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्ति है वह मुझे प्राप्त होगा ही। तदनुसार उसे साहसके साथ उसकी प्रतीक्षा भी करनी चाहिये ॥ २२९ ॥ मै पदार्थोंके स्वरूपको जान चुका हू, इसलिये यह आशारूप शत्रु मेरा कुछ बिगाड नही कर सकता है, इस प्रकार ज्ञानके अभिमानसे तू तीनों लोकोमे अतिशय भयको उत्पन्न करनेवाले उस आशारूप शत्रुकी उपेक्षा न करके उसे निर्मूल नष्ट कर दे। देखो, अथाह जलसे परिपूर्ण भी समुद्रको वाडवाग्नि अतिशय बाधा पहुचाती है। ठीक है– जिसकी गोदमें (समीपमे) शत्रु स्थित है उसे भला ससारमें प्राय शान्ति कहांसे प्राप्त हो सकती है? अर्थात् नही प्राप्त हो सकती है ॥ २३० ॥ जिसका हृदय

स्नेहानुबद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः ।
दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥ २३१ ॥
रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः ।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो बत सीदसि ॥ २३२ ॥

---

आशात्यागं निर्ममत्वता च नवता निर्मोहतैव कर्तव्येत्याह– स्नेहानुबद्धहृदय. अनुरागयुक्तहृदयः । अन्वितोऽपि सहितोऽपि । आपादयिता कर्ता । कज्जलमलिनस्य दुष्कर्मणः ॥ २३१ ॥ तदनुबद्धहृदयस्य तथानिष्टानिष्टविषये रत्यरतिभ्यां किं स्यादित्याह– रतेरित्यादि । रतेः अनुरागात् । अरतिं द्वेषम् । तृतीय पदम् उदासीनतालक्षणम् । बालिश. अज्ञ. । सीदसि दुःखितो भवसि ॥ २३२ ॥

---

स्नेह (राग) से सम्बद्ध है वह ज्ञान और चारित्रसे युक्त होकर भी चूंकि स्नेह (तेल) से सम्बद्ध दीपकके समान कज्जल जैसे मलिन कर्मोंको उत्पन्न करता है अतएव वह प्रशंसाके योग्य नही है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार दीपक स्नेह (तेल) से सम्बद्ध रखकर निकृष्ट काले कज्जलको उत्पन्न करता है उसी प्रकार जो साधु स्नेहसे सम्बन्ध रखता है– हृदयमे बाह्य वस्तुओंसे अनुराग करता है– वह ज्ञान और चारित्रसे युक्त होता हुआ भी उक्त अनुरागके वश होकर कज्जलके समान मलिन पाप कर्मोंको उत्पन्न करता है। अतएव उसकी प्रशसा नही की जा सकती है। हा, यदि वह उक्त स्नेहसे रहित होकर– राग-द्वेषको छोडकर– उन ज्ञान और चारित्रको धारण करता है तो फिर वह चूकि उक्त मलिन कर्मोंको नही बांधता है– उनकी केवल निर्जरा ही करता है– अतएव वह लोकका वदनीय हो जाता है। दीपक भी जब स्नेहसे रहित हो जाते है– उसका तेल जलकर नष्ट हो जाता है– तब वह कज्जलरूप कार्यको नही उत्पन्न करता है ॥ २३१ ॥ हे भव्य! तू रागसे हटकर द्वेषको प्राप्त होता है और तत्पश्चात् उससे भी रहित होकर फिरसे उसी रागको प्राप्त होता है। इस प्रकार खेद है कि तू तीसरे पदको– राग–द्वेषके अभावरूप समताभावको– न प्राप्त करके यो ही दुःखी होता है ॥२३२॥

तावद् दुःखाग्नितप्तात्मायःपिण्डः सुखसीकरैः[1]।
निर्वासि निर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥ २३३ ॥
मङ्क्षु मोक्षं सुसम्यक्त्वसत्यंकारस्वसात्कृतम् ।
ज्ञानचारित्रसाकल्यमूल्येन स्वकरे कुरु ॥ २३४ ॥

---

दु खसंतप्तस्वरूपश्च त्व मोक्षसुखप्राप्तौ विषयसुखलवेन सुखिनमात्मान मन्यसे इत्याह– तावदित्यादि। तावद्दु खाग्नितप्तात्मा सन् अय.पिण्ड इव तावत्त्व सुखसीकरै इन्द्रियप्रभवसुखलवै । (न) निर्वासि न सुखीभवसि । निर्वृताम्भोधौ मोक्षसुखसमुद्रे ॥ २३३ ॥ तत्र निमज्जन च तत्स्वीकारे सति भवतीत्यतो ज्ञानादिमूल्येन तत्स्वीकार' क्रियतामित्याह– मङ्क्ष्वित्यादि । मङ्क्षु शीघ्रम् । मोक्ष स्वकरे कुरु गृहाण। कथमूतम् । सुसम्यक्त्वसत्यकारस्वसात्कृत सम्यक्त्वमेव सत्यकार', सचकार तेन स्वसात्कृतम् आत्माधीन कृतम् । साकल्यमूल्येन परिपूर्णमूल्येन ॥ २३४ ॥

---

हे भव्य! जबतक तू मोक्षसुखरूप समुद्रमें नहीं निमग्न होता है तबतक तू दुःखरूप अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेके समान विषयजनित क्षणिक लेशमात्र सुखसे सुखी नही हो सकता है ।। **विशेषार्थ–** जिस प्रकार अग्निसे संतप्त लोहेके गोलेको यदि थोडे-से पानीमे डाला जाय तो वह उतने मात्रसे शान्त (शीतल) नही होता है, किन्तु जब उसे अधिक पानीके भीतर पूरा डुबा दिया जाता है तब ही वह शान्त होता है। इसी प्रकार जन्ममरणादिके अनेक दु खोसे सतप्त प्राणीको यदि थोडा-सा विषयजन्य क्षणिक सुख प्राप्त होता है तो इससे वह वास्तवमे सुखी नही हो सकता है। वह पूर्णतया सुखी तो तब ही हो सकता है जब कि कर्मबन्धनसे रहित होकर अनन्त शाश्वतिक सुखको प्राप्त कर ले ॥ २३३ ॥ हे भव्य! तू निर्मल सम्यग्दर्शनरूप ब्याना देकर अपने *आधीन किये हुए मोक्षको सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप* पूरा मूल्य देकर शीघ्र ही अपने हाथमे करले ॥ **विशेषार्थ–** लोकव्यवहारमें जब कोई किसी वस्तुको खरीदना चाहता है तो वह इसके लिये पहिले कुछ ब्याना (मै निश्चित ही इसे खरीदूगा, इस प्रकारका वायदा करते हुए उसके मूल्यका कुछ भाग जो पूर्वमे दिया जाता है) देकर उक्त वस्तुको अपने अधीन कर लेता है, जिससे कि उक्त वस्तुका स्वामी उसे किसी

---

१ मु (जै. नि.) पिण्ड इव सीदसि ।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोटयाम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्धया निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ॥

---

सराग-वीतरागप्रकृष्टप्रवृत्ति-निवृत्त्यपेक्षया कीदृशमिदं जगदित्याह— अशेषमित्यादि । अशेषं जगत् । अद्वैतम् एकरूपम् । अभोग्यभोग्यं सत् कस्यां गत्यामित्याह— निवृत्तीत्यादि । अयमर्थः— निवृत्तेः परमार्थकोटयां परमप्रकर्षे सर्वं जगत् अभोग्यरूपमेव । वृत्तेः प्रवृत्तेः परमार्थकोटयां सर्वं जगत् भोग्यरूपमेव । ततो यदि मोक्षाभिलाषी भवान् तथा निवृत्तिमभ्यस्यतु । कया । अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्धया अभोग्यभोग्यरूपभेदबुद्धेः ॥ २३५ ॥ तन्निवृत्त्यभ्यासमत्र कियत्कालं कर्तव्य इत्याह—

---

अन्य व्यक्तिको न बेच सके । तत्पश्चात् वह उक्त वस्तुका पूरा मूल्य देकर उसे अपने हाथमें कर लेता है । ठीक इसी प्रकारसे जो भव्य जीव मोक्षको प्राप्त करना चाहता है उसे पहिले ब्यानाके रूपमें सम्यक्त्वको देना चाहिये— धारण करना चाहिये । तत्पश्चात् सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप पूर्ण मूल्यके द्वारा उक्त मोक्षको अपने हाथमे कर लेना चाहिये। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ब्याना देनेसे अभिलाषित वस्तु उस ब्याना देनेवालेके लिये निश्चित हो जाती है उसी प्रकार सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे अर्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाणकालके भीतर मोक्षका लाभ भी निश्चित हो जाता है । इतने कालके भीतर जब भी वह पूर्ण मूल्यके समान सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त कर लेता है तब ही उसे अपने अभीष्ट उक्त मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥२३४॥

यह समस्त ससार एकरूप है— वास्तवमे भोग्य और अभोग्यकी कल्पनासे रहित है । फिर भी वह प्रवृत्ति और निवृत्तिकी अतिशय प्रकर्षतामे प्रवृत्तिकी अपेक्षा भोग्य और निवृत्तिकी अपेक्षा अभोग्य होता है । जो भव्य प्राणी मोक्षकी इच्छा करता है उसे भोग्य और अभोग्यरूप विकल्पबुद्धिसे निवृत्तिका अभ्यास करना चाहिये ॥ **विशेषार्थ**— विश्व एक रूप ही है । किन्तु जो जीव राग-द्वेषसे सहित है वह जिसे इष्ट समझता है उसके तो ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है तथा जिसे वह अनिष्ट समझता है उसके छोडनेमें प्रवृत्त होता है । इस प्रकार वह समस्त विश्वको ही भोगना चाहता है। परन्तु जो विवेकी जीव राग-द्वेषसे रहित होता है उसे इष्ट अनिष्टकी कल्पना ही नही होती । इसीलिये वह एक

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवृत्त्यं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥ २३६ ॥
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ[1] तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥ २३७ ॥

---

निवृत्तिमित्यादि । यावन्निवृत्यर्थं वस्तु विद्यते तावन्निवृर्ति भावयेत् । तदभावत. न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदम् अव्ययम् ॥ २३६ ॥ अथ का प्रवृत्तिः का वा निवृत्ति· किं विषया वा सेत्याह-रागेत्यादि । तान् बाह्यार्थान् ॥ २३७ ॥ तत्परित्याग च

---

मात्र अपने चैतन्यस्वरूको छोडकर अन्य सभी बाह्य वस्तुओसे निवृत्त रहता है– उसे सब ही अभोग्य प्रतीत होता है । यही निवृत्तिमार्ग उपादेय है । मोक्षसुखाभिलाषी जीवको प्रवृत्तिमार्गसे अलग रहकर इस निवृत्तिमार्गका ही अभ्यास करना चाहिये ॥ २३५ ॥ जब तक छोडनेके योग्य शरीरादि बाह्य वस्तुओसे सम्बन्ध है तब तक निवृत्तिका विचार करना चाहिये और जब छोडनेके योग्य कोई वस्तु शेष नही रहती है तब न तो प्रवृत्ति रहती है और न निवृत्ति भी । वही अविनश्वर मोक्षपद है ॥ **विशेषार्थ–** जब तक बाह्य वस्तुओसे अनुराग है तब तक निवृत्तिका अभ्यास करना चाहिये । तत्पश्चात् जब उन बाह्य वस्तुओसे अनुराग नष्ट हो जाता है तब उनका संयोग भी हट जाता है और इसीलिये उस समय प्रवृत्ति ओर निवृत्तिसे रहित अविनश्वर मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है ॥ २३६ ॥ राग और द्वेषका नाम प्रवृत्ति तथा इन दोनोके अभावका नाम ही निवृत्ति है । चूकि वे दोनो (राग और द्वेष) बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध रखते हैं । अतएव उन बाह्य वस्तुओंका ही परित्याग करना चाहिये ॥ २३७ ॥ मैंने ससारस्वरूप भँवरमे पडकर पहिले कभी जिन

---

१ ज स सबध ।

भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥ २३८ ॥
शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदु.खे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥ २३९ ॥

---

कुर्वन्नहमित्थ भावना भावयामीत्याह– भावयामित्यादि । भावनाः पुन पुन चेतसि चिन्तनम् । प्रागभाविता सम्यग्दर्शनादिभावना । भाविताः प्रागनुष्ठिता मिथ्यादर्शनादिभावना । इत्यनेन प्रकारेण भावना. भावये । भवाभावाय ससार–विनाशाय ॥ २३८ ॥ भावनाविषयभूत वस्तु किमात्मनो हित किं वा अहितम् इत्याह– शुभेत्यादि । शुभाशुभे प्रशस्ताप्रशस्तौ वाक्-काय-मनो-व्यापारौ । त्रयमाद्य शुभ पुण्य सुख च । हितमुपकारकम् । अनुष्ठेय कर्तव्यम् ॥ २३९ ॥ शुभादित्रयेऽपि

---

सम्यग्दर्शनादि भावनाओका चिन्तन नही किया है उनका अब चिन्तन करता हु और जिन मिथ्यादर्शनादि भावनाओका वार वार चिन्तन कर चुकाहू उनका अब मैं चिन्तन नही करता हू । इस प्रकार मैं अब पूर्व भावित भावनाओको छोडकर उन अपूर्व भावनाओका भाता हु, क्योकि, इस प्रकारकी भावनाये ससारविनाशकी कारण होती है ॥ २३८ ॥ शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दु.ख, इस प्रकार ये छह हुए । इन छहोके तीन युगलोमेसे आदिके तीन– शुभ, पुण्य और सुख– आत्माके लिये हितकारक होनेसे आचरणके योग्य है । तथा शेष तीन– अशुभ, पाप और दु.ख– अहितकारक होनेसे छोडनेके योग्य है ॥ **विशेषार्थ–** अभिप्राय यह है कि जिनपूजनादिरूप शुभ क्रियाओंके द्वारा पुण्य कर्मका बन्ध होता हैं और उस पुण्य कर्मके उदयमे प्राप्त होनेपर उससे सुखकी प्राप्ति होती है। इसके विपरीत हिंसा एव असत्य–सभाषणादिरूप अशुभ क्रियाओके द्वारा पापका बन्ध होता है और उस पाप कर्मके उदयमें प्राप्त होनेपर उससे दु.खकी प्राप्ति होती है। इसीलिये उक्त छहमेसे शुभ, पुण्य और सुख ये तीन उपादेय तथा अशुभ, पाप और दु.ख ये तीन हेय है ॥ २३९ ॥ पूर्व श्लोकमे जिन

**तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम् ।**
**शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥ २४०**

---

त्यागक्रम दर्शयन्नाह– तत्रेत्यादि । तत्रापि त्रये हिते । आद्य शुभम् । शेषौ पुण्य-सुखपदार्थौ कारणाभावे कार्यानुत्पत्ते (न) भवत । शुद्धे उदासीने भावे स्थित्वा शुभ त्यक्त्वा । अन्ते शुभावसाने । परम पद मोक्षम् ॥ २४० ॥ ननु

---

तीनको– शुभ, पुण्य और सुखको– हितकारक बतलाया है उनमे भी प्रथमका (शुभका) परित्याग करना चाहिये। ऐसा करनेसे शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनो स्वयं ही नही रहेगें, इस प्रकार शुभको छोडकर और शुद्ध स्वभावमे स्थित होकर जीव अन्तमे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ॥ **विशेषार्थ**– ऊपर जो इस श्लोकका अर्थ लिखा गया है वह संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचद्राचार्यके अभिप्रायानुसार लिखा गया है। उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है– श्लोक '२३९' मे जो अशुभ, पाप और दुःख ये तीन अहितकारक बतलाये गये है उनमे भी प्रथम अशुभका ही त्याग करना चाहिये। कारण यह कि ऐसा होनेपर शेष दोनो पाप और दु ख-स्वयमेव नही रह सकेगे, क्योकि, इनका मूल कारण अशुभ ही है। इस प्रकार जब मूल कारणभूत वह अशुभ न रहेगा तब उसका साक्षात् कार्यभूत पाप स्वयमेव नष्ट हो जावेगा, और जब पाप ही न रहेगा तो उसके कार्यभूत दुःखकी भी कैसे सम्भावना की जा सकती है, नही की जा सकती है। इस प्रकार उक्त अहितकारक तीनके नष्ट हो जानेपर शेष तीन जो शुभादि हितकारक रहते है वे भी वास्तवमे हितकारक नही है (देखिये आगे श्लोक २६२)। उनको जो हितकारक व अनुष्ठेय बतलाया गया है वह अतिशय अहितकारी अशुभादिकी अपेक्षा ही बतलाया है। यथार्थमे तो वे भी परतन्त्रताके ही कारण है। भेद इतना ही है कि जहा अशुभादिक जीवको नारक एव तिर्यंच पर्यायमे प्राप्त कराकर केवल दु खका ही अनुभव कराते है वहा वे शुभादिक उसको मनुष्यो और देवोमे उत्पन्न कराकर दु.खमिश्रित सुखका अनुभव कराते है। इसीलिये यहा यह बतलाया है कि उन अशुभादिक तीनको छोड देनेके पश्चात् शुद्धोपयोगमे स्थित होकर उस शुभको भी छोड देना चाहिये। इस

अस्त्यात्मास्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवैः
ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ।

---

आत्मनि सिद्धे तस्य परमपदप्राप्तिः सिद्ध्येत् । स चासिद्धो गर्भादिमरणपर्यन्त चैतन्यव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽसम्भवात् इति चार्वाकाः। सदैवात्मनो मुक्तत्वात् शुभ त्यक्त्वा परम पद प्राप्नोतीत्ययुक्तमिति साख्या । तान् प्रत्याह– अस्तीत्यादि। सर्वदा विद्यते आत्मा, जातिस्मरणदर्शनात्[1] भूतग्रहादेश्च स्व-परपूर्वभवप्रतिपादकत्व-प्रतीते । स च अस्तमितादिवन्धनगत· अस्तमितो नष्ट आदिर्येषा तानि च तानि बन्धनानि तत्र गत अनादिकर्मबन्धनबद्ध इत्यर्थस्तिमितादिबन्धनमत[2] इत्यर्थ ।

---

प्रकार अन्तमें उस शुभके अविनाभावी पुण्य व सांसारिक सुखके भी नष्ट हो जानेपर जीव उस निर्बाध मोक्ष पदको प्राप्त कर लेता है जो कि अनन्त काल तक स्थिर रहनेवाला है ॥ २४० ॥ आत्मा है और वह अनादि परम्परासे प्राप्त हुए बन्धनोमे स्थित है। वे बन्धन मन, वचन एवं शरीरकी शुभाशुभ क्रियाओरूप आस्रवोसे प्राप्त हुए है, वे आस्रव क्रोधादि कषायोसे किये जाते है, क्रोधादि प्रमादोसे उत्पन्न होते है, और वे प्रमाद मिथ्यात्वसे पुष्ट हुई अविरतिके निमित्तसे होते है। वही कर्म-मलसे सहित आत्मा किसी विशिष्ट पर्यायमे कालादिलब्धिके प्राप्त होनेपर क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता अर्थात् प्रमादोका अभाव, कषायोका विनाश और योगनिरोधके द्वारा उपर्युक्त बन्धनोसे मुक्ति पा लेता है ॥ **विशेषार्थ**– चार्वाक आत्माका अस्तित्व स्वीकार नही करते हैं। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार कोयला, अग्नि, जल एव वायु आदिके सयोगसे जो प्रवल बाष्प उत्पन्न होता है वह भारी रेल गाडी आदिके भी चलानेमे समर्थ होता है, उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतोके सयोगसे वह शक्ति उत्पन्न होती है जो शरीरकी गमनागमनादि क्रियाओं एव पदार्थोंके जानने-देखने आदिमे सहायक होती है। उसे ही चेतना शब्दसे कहा जाता है। और वह जब तक उन भूतोका सयोग रहता है तभी तक (जन्मसे मरणपर्यंत) रहती है, न कि उससे पूर्व और पश्चात् भी। उनके इस मतके निराकरणार्थ यहा श्लोकमे सबसे

---

१ ज स जातिस्मरदर्शनात् ।　२ प अमितादिबन्धनगत. ।

मिथ्यात्वोपचितात्स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्
सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते ॥ २४१ ॥

---

(स्तिमितादिबन्धनगत ) इति च पाठ । तत्र स्थित्यादिबन्धनस्थितिरित्यर्थं । तद्बधनानि अस्तमितादिबन्धनानि । आस्रवै काय-वाङ्-मनोव्यापारै. । प्रमाद अप्रयत्नपरता । स प्रमाद अव्रतात् हिंसादिपरिणते' । मिथ्यात्वोपचितात् मिथ्यात्वेन उपचितं पुष्ट मिथ्यात्व वा उपचित पुष्टं यत्र । स एव आत्मैव, न प्रकृति । क्वचित् मनुष्यभवे । दक्षता विवेक । अकलुषता क्रोधादिरहितता । अयोगै कषाया (काया)द्यव्यापारै' कृत्वा । क्रमात् क्रमेण । सम्यक्त्वादिकृता कर्मनिर्जरामाश्रित्य मुच्यते ।। २४१ ॥ य. शरीरादे निस्पृह स निस्पृहः नान्यत इत्याह– ममेत्यादि ।

---

पहिले 'अस्त्यात्मा' कहकर यह प्रमाणित किया है कि आत्मा नामसे प्रसिद्ध कोई वस्तु अवश्य है। यदि आत्मा न होता तो बहुतोको जो अपने पूर्वजन्मका स्मरण हो जाता है वह नही होना चाहिये । इसके अतिरिक्त भूत-पिशाचादिकोको भी अपने और दूसरोके पूर्वभवोको बतलाते हुए देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा नामकी कोई वस्तु अवश्य है जो विवक्षित जन्मके पूर्वमे भी थी और मरणके पश्चात् भी रहती है। इसी प्रकार साख्य आत्माको स्वीकार करके भी उसे सर्वदा शुद्ध– कर्मसे अलिप्त मानते हैं। उसके निराकरणार्थ यहा उस आत्माको अनादिबन्धनगत निर्दिष्ट किया है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा यद्यपि प्रत्येक आत्मा कर्मसे अलिप्त होकर अपने ही शुद्ध चैतन्यरूप द्रव्यमे अवस्थित है। स्वभावसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके ऊपर कोई प्रभाव नही पडता है। जैसे–सुवर्णमे यदि ताबेका मिश्रण भी हो तो भी सुवर्णपरमाणु सुवर्णस्वरूपसे और तांबेके परमाणु तत्स्वरूपसे ही अपनी पृथक् पृथक् स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। यही कारण है जो सुनारके द्वारा उन दोनोको पृथक् कर दिया जाता है। किन्तु यह द्रव्यके उस शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा ही सम्भव है, न कि वर्तमान अशुद्ध पर्यायकी अपेक्षा भी। पर्यायकी अपेक्षा तो ससारी आत्मा अनादि सन्तति स्वरूपसे आनेवाले नवीन नवीन कर्मोके बन्धसे सम्बद्ध ही रहता है। और जब वह पर्यायकी अपेक्षा कर्मबन्धनमे बद्ध होकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वभावको

छोडता हुआ राग-द्वेषादिरूप विभावमे परिणत होता है तब उसको अपने शुद्ध स्वभावमे स्थित रखनेके लिये प्रयत्न करना भी– तपश्चरण आदि करना भी– उचित हैं। यदि वह द्रव्यके समान पर्यायसे भी शुद्ध हो तो फिर तपश्चरणादि व्यर्थ ठहरते है। अतएव यही समझना चाहिये कि वह जिस प्रकार स्वभावसे शुद्ध है उसी प्रकार पर्यायकी अपेक्षा वह अशुद्ध भी है। अब जब वह पर्यायसे अशुद्ध या कर्मबन्धसे सहित है तब यह प्रश्न उठता है कि कबसे वह कर्मबन्धनमें बद्ध है तथा किस प्रकार वह उससे छूट सकता है। इसके उत्तरमे यहां यह बतलाया है कि वह अनादिसे उस कर्मबन्धनमे बद्ध है। उसके इस कर्मबन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है। इनमे पूर्व पूर्व कारणके रहनेपर उत्तर उत्तर कारण अवश्य रहते है। जैसे– यदि मिथ्यात्व है तो आगेके अविरति आदि चार कारण अवश्य रहेगे, इसी प्रकार यदि अविरति है तो उसके आगेके प्रमाद आदि तीन कारण अवश्य रहेंगे। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। यही बात यहा प्रकारान्तरसे प्रकृत श्लोकमें निर्दिष्ट की गई है। यह बन्धकी परम्परा बीज और अकुरके समान अनादिसे है– जिस प्रकार बीजसे अकुर व उससे पुनः बीज उत्पन्न होता है, इस प्रकारसे जैसे इनकी परम्परा अनादि है उसी प्रकार उपर्युक्त मिथ्यात्वादिसे कर्मबन्ध और फिर उससे पुनः मिथ्वात्वादि उत्पन्न होते है, इस प्रकार यह बन्धपरम्परा भी अनादि है। परन्तु जिस प्रकार बीज या अकुरमेसे किसी एकके नष्ट हो जानेपर वह अनादि भी बीजाकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार उन मिथ्यात्वादिके विपरीत क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रत, दक्षता ( अप्रमाद ), अकलुषता (अकषाय) और अयोग अवस्थाके प्राप्त हो जानेपर वह अनादि बन्धपरम्परा भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकारसे वह आत्मा मुक्तिको प्राप्त करता है ॥ २४१ ॥ 'यह मेरा है और मैं इसका हू, इस प्रकारका

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत्काऽऽशा तपःफले ॥ २४२ ॥
मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे ।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ २४३ ॥

---

ईतिरिव उपद्रवकारिणी मूषकादिसमूतिरिव । क्षेत्रे आत्मनि । क्षेत्रीयते क्षेत्रिणमिव आत्मानमाचरति । प्रीति. कर्त्री । काशा न काचिदपि आशा । तप.फले मोक्षे ॥ २४२ ॥ प्रीतिवशाच्च अभेदबुद्धि. ससारहेतु, तदभावान्मुक्तिरिति दर्शयन्नाह- मामित्यादि । माम् आत्मानम् अन्य भिन्न कायादिक मत्वा, अन्य कायादिक भिन्न माम् आत्मान मत्वा । भ्रान्तौ सत्याम् । भ्रान्त पर्यटित भवार्णवे । न अन्योऽहम् अन्य. कायादिर्नाहम् । अहमेव अहम् आत्मैव अहम् । अन्य कायादि. । अन्यो भिन्न । अन्योऽहमस्ति न कायादिः आत्मा भवति न । अभ्रान्ताविति च पाठः । अभ्रान्तो भवार्णवो अभ्रान्तौ ॥ २४३ ॥ कायादिमनुरागबुद्धया वैराग्यबुद्धया च

---

अनुराग जबतक ईतिके समान खेत (शरीर) के विषयमे उत्पन्न होकर खेतके स्वामीके समान आचरण करता है तबतक तपके फलभूत मोक्षके विषयमे भला क्या आशा की जा सकती है? नही की जा सकती है ।। विशेषार्थ- अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ (टिड्डी), चूहा, तोता, स्वचक्र और परचक्र ( अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषका शुका । स्वचक्रं परचक्रं वा सप्तैता ईतयः स्मृताः ।। ) ये सात ईति मानी जाती है । जिस प्रकार इन ईतियोंमेसे कोई भी ईति यदि खेतके मध्यमे उत्पन्न होती है तो वह उस खेतको (फसलको) नष्ट कर देती है । इससे वह कृषक कृषीके फल (अनाज) को नही प्राप्त कर पाता है । इसी प्रकार तपस्वीको यदि शरीरके विषयमें अनुराग है और इसीलिये यदि वह यह समझता है कि यह शरीर मेरा है और मै इसका स्वामी हू तो उसका वह अनुराग ईतिके समान उपद्रवकारी होकर तपके फलको- मोक्षको- नष्ट कर देता है ।। २४२ ।। मुझको (आत्माको) अन्य शरीरादिरूप तथा शरीरादिको मै (आत्मा) समझकर यह प्राणी उक्त भ्रमके कारण अबतक ससाररूप समुद्रमे घुमा है। वास्तवमें मैं अन्य नही हू- शरीरादि नही हू, मै मै ही हू, और अन्य (शरीरादि) अन्य ही है, अन्य मै नही हू, इस प्रकार जब अभ्रान्त ज्ञान (विवेक) उत्पन्न होता है तब ही

**बन्धो जन्मनि येन येन निबिडं निष्पादितो वस्तुना**
**बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः सांप्रतम् ।**
**तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो**
**दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ।। २४४ ।।**

---

पश्यत कर्मबन्धाय तद्विनाशाय भवतीति दर्शयन्नाह– बन्ध इत्यादि । बाह्यार्थैकरतेः बाह्यार्थे एका अद्वितीया रतिर्यस्य आत्मन.। पुरा पूर्वम् । परिणतप्रज्ञात्मन परिणता यथावत्पदार्थपरिच्छेदिका प्रज्ञा आत्म( आत्मा )स्वरूप यस्य । तन्निधनाय बन्धविनाशाय । काष्ठास्पृश प्रकर्ष प्राप्तस्य । दुर्बोध महता कष्टेन बुध्यते । तदन्यदेव तत्कौशलम् अन्यदेव अपूर्वमेव । अप्राकृतम् अलौकिकम् ।।२४४।। बन्धन–

---

प्राणी उक्त ससाररूप समुद्रके परिभ्रमणसे रहित होता है ।। विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जीव जबतक शरीरको ही आत्मा मानता है– शरीरसे भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्माको 'उससे पृथक् नही मानता हैं– तबतक वह इस भ्रमके कारण परपदार्थोमें राग-द्वेष करके कर्मोदयसे संसारमे परिभ्रमण करता हुआ दु.ख सहता है और जब उसका उपर्युक्त भ्रम हट जाता है– तब वह आत्माको आत्मा एवं शरीरादि परपदार्थोको पर मानने लगता है– तब वह राग-द्वेषसे रहित होकर उक्त ससारपरिभ्रमणसे छूट जाता है ।।२४३।। ससारके भीतर बाह्य पदार्थोमे अतिशय अनुराग रखनेवाले जीवके पहिले जिस जिस वस्तुके द्वारा दृढ बन्ध उत्पन्न हुआ था उसीके इस समय यथार्थ ज्ञानसे परिणत होकर वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त होनेपर वह वह वस्तु उक्त बन्धके विनाशका कारण हो रही है । विद्वानोकी वह अलौकिक कुशलता अनुपम ही है जो दुर्बोध है– बडे कष्टसे जानी जाती है ।। विशेषार्थ– बन्धके कारण राग-द्वेष है । जीवके जबतक आत्मा-परविवेक प्रगट नही होता है तबतक उसके राग-द्वेषकी विषयभूत हुई परवस्तुओके निमित्तसे बन्ध ही हुआ करता है । परन्तु जब उसके वह आत्म-परविवेक आविर्भूत हो जाता है तब वह पूर्वमे जिन वस्तुओसे राग-द्वेष करके दृढ कर्मबन्ध करता था वे ही अब उसकी चूकि उपेक्षाकी विषयभूत हो जाती है अतएव उन्हीके निमित्तसे अब उक्त बन्धका विनाश – संवर और निर्जरा – होने लगती है। यह ज्ञान और वैराग्यका ही माहात्म्य है ।। २४४ ।। किसी जीवके अधिक कर्मबन्ध

**अधिकः क्वचिदाश्लेषः क्वचिद्धीनः क्वचित्समः ।**
**क्वचिद्विश्लेष एवायं बन्धमोक्षक्रमो मतः ॥ २४५ ॥**

---

तद्विनाशयोर्यथासभव क्रम दर्शयन्नाह– अधिक इत्यादि । क्वचित् अभव्ये । अधिक आश्लेष कर्मबन्ध । क्वचित् आसन्नभव्ये । हीन कर्मबन्ध । क्वचिद् दूरभव्ये । सम कर्मबन्ध उदयकारणसद्भावात् । क्वचिदतीव आसन्नमुक्तिके । विश्लेष एव कर्मबन्धाभाव एवेति । नानात्मापेक्षयेद व्याख्यानम् एकात्मापेक्षयापि– क्वचित् मिथ्यात्वादिगुणस्थाने अधिक कर्मबन्ध । क्वचित् अविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ हीनः कर्मबन्ध । क्वचिन्मिश्रगुणस्थाने सम कर्मबन्ध । क्वचित्क्षीणकषायादौ विश्लेष एव ॥ २४५ ॥ यस्य च कर्मणा स्वकार्यमकुर्वतामेव विश्लेषो भवति स एव योगीत्याह–

---

होता है, किसीके अल्प कर्मबन्ध होता है, किसीके समान ही कर्मबन्ध होता है और किसीके अल्प कर्मबन्ध न होकर केवल उसकी निर्जरा ही होती है । यह बन्ध और मोक्षका क्रम माना गया है ॥ **विशेषार्थ**– बन्ध और निर्जराकी हीनाधिकता परिणामोके ऊपर निर्भर है । यथा अभव्य जीवके परिणाम चूकि निरन्तर सक्लेशरूप रहते है, अत उसके बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है। आसन्नभव्यके परिणाम निर्मल होनेसे उसके बन्ध कम और निर्जरा अधिक होती है । दूरभव्यके मध्यम जातिके परिणाम होनेसे उसके बन्ध और निर्जरा दोनो समानरूपमे होते है । तथा जीवन्मुक्त अवस्थामे बन्धका अभाव होकर केवल निर्जरा ही होती है । यह बन्ध और निर्जराका क्रम नाना जीवोंकी अपेक्षासे है । यदि उसका विचार एक जीवकी अपेक्षासे करे तो वह इस प्रकारसे किया जा सकता है– मिथ्यात्व गुणस्थानमे बन्ध अधिक और निर्जरा कम होती है, अविरत– सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोमे बन्ध कम और निर्जरा अधिक होती है, मिश्र गुणस्थानमे बन्ध और निर्जरा दोनो समानरूपमे होते है, तथा क्षीणकषायादि गुणस्थानमे बंधका–स्थिति व अनुभागबधका–अभाव होकर केवल निर्जरा ही होती है । वहा जो बध होता है वह एकमात्र साता वेदनीयका होता है, सो भी केवल प्रकृति और प्रदेशरूप ॥ २४५ ॥ जिस वीतरागके पुण्य और पाप दोनो

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ।। २४६ ।।
महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ।। २४७ ।।
दृढगुप्तिकपाटसंवृतिर्धृतिभित्तिर्मतिपादसंभृतिः ।
यतिरल्पमपि प्रपद्य रन्ध्रं कुटिलैर्विक्रियते गृहाकृतिः ।। २४८ ।।

---

यस्येत्यादि । यस्य परमवीतरागस्य । नि फल स्वकार्यम् अकुर्वत् सत् । गलति उग्रतप सामर्थ्यादुदयमानीय जीर्यते । न पुनरास्रवो न पुन' कर्मणामागनम् सवर एव भवतीत्यर्थ ।। २४६ ।। स च सवर प्रतिज्ञातव्रतप्रतिपालनाद्भवतीत्याह– महे–त्यादि । महातप पञ्चमहाव्रतानि । समृतस्य पूर्णस्य । गुणाम्भसा सम्यग्दर्शना–दिगुणजलेन । मर्यादा प्रतिज्ञा । उपेक्षिष्ट उपेक्षय ।। २४७ ।। क्षतिहेतवश्च मुनेरीदृशस्य एते भवन्तीत्याह– दृढेत्यादि । दृढा अविचला सा चासौ गुप्तिश्च सैव कपाट तेन सवृति पिधान यस्य । पादसभृति गर्तापूर । रन्ध्र छिद्र दोषश्च । कुटिलै' सर्पै रागादिभिश्च । विक्रियते दूष्यते । गृहाकृति गृहस्येवाकृतिराकारो यस्य ।।२४८।। ताश्च रागादिदोषान् निर्जेतुमुद्यत परपरिवादे पुष्टान् करोतीत्याह–

---

फलदानके विना स्वय अविपाक निर्जरा स्वरूपसे निर्जीर्ण होते है वह योगी कहा जाता है और उसके कर्मोका मोक्ष होता है, किन्तु आस्रव नही होता है । २४६ ।। हे साधो! गुणरूपी जलसे परिपूर्ण महातपरूप तालावके प्रतिज्ञारूप पालिबध (बाध) के विषयमे तू थोडी-सी भी हानिकी उपेक्षा न कर ।। विशेषार्थ– मुनिधर्म एक तालाबके समान है । जिस प्रकार तालाव जलसे परिपूर्ण होता है उसी प्रकार वह मुनिधर्म सम्यग्दर्शनादि गुणोसे परिपूर्ण होता है । यदि तालाबका बाध कही थोडा–सा भी गिर जाता है तो उसमे तो फिर पानी स्थिर नही रह सकता है । इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य सावधानीके साथ उसको ठीक करा देता है । ठीक इसी प्रकारसे यदि साधुधर्ममे भी की गई व्रतपरिपालनकी प्रतिज्ञामे कुछ त्रुटि होती है तो बुद्धिमान् साधुको उसकी उपेक्षा न करके उसे शीघ्र ही प्रायश्चित्त आदिके विधानसे सुधार लेना चाहिये । अन्यथा उसके सम्यग्दर्शनादि गुण स्थिर न रह सकेगे ।। २४७ ।। दृढ गुप्तियो ( मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति ) रूप किवाडोसे सहित, धैर्यरूप भित्तियोके आश्रित और बुद्धिरूप नीवसे परिपूर्ण, इस प्रकार गृहके

स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः ।
तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ॥ २४९ ॥

---

स्वानित्यादि । परदोषकथा एव अशनानि आहारास्तै ॥ २४९ ॥ दोषान् निर्जित्य

---

आकारको धारण करनेवाला मुनिपद थोडे–से भी छिद्रको पाकर कुटिल राग–द्वेषादिरूप सर्पोंके द्वारा विकृत कर दिया जाता है ॥ विशेषार्थ– मुनिपद एक प्रकारका घर है । मुनि जिन तीन गुप्तियोंको धारण करते है वे ही इस घरके किवाड हैं, धैर्य जो है वही इस घरकी भित्ति है, तथा घर जहां दृढ नीवके आश्रित होता है वहा वह मुनिपद भी बुद्धिरूप नीवके आश्रित होता है । इस प्रकार मुनिपदमे घरकी समानताके होनेपर जिस दृढ किवाडो आदिसे सयुक्त भी घरमे यदि कही कोई छोटासा भी छिद्र रह जाता तो उसके द्वारा कुटिल सर्पादिक उसके भीतर प्रविष्ट होकर उसे भयानक बना देते है। इसी प्रकार उक्त घरके समान मुनिपदमें भी कही कोई छोटा–सा भी छिद्र (दोष) रहता है तो उक्त छिद्रके द्वारा उस मुनिपदमे भी उन विषैले सर्पोंके समान कुटिल राग–द्वेषादि प्रवेश करके उस मुनिपदको भी नष्ट–भ्रष्ट कर देते है। अतएव मोक्षाभिलाषी साधुको यदि अज्ञानता या प्रमादसे कोई दोष उत्पन्न होता है तो उसे शीघ्र ही नष्ट कर देनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २४८ ॥ जो साधु अतिशय दुष्कर तपोके द्वारा अपने जिन दोषोंके नष्ट करनेमे उद्यत है वह अज्ञानतावश दूसरोके दोषोके कथन (परनिन्दा) रूप भोजनोंके द्वारा उन्ही दोषोंको पुष्ट करता है ॥ विशेषार्थ– यदि कोई व्यक्ति अजीर्णादि रोगोको शात करनेके लिये औषधि तो लेता है, किंतु भोजन छोडता नही है– उसे वह बराबर चालू ही रखता है तो ऐसी अवस्थामे जिस प्रकार वे अजीर्णादि रोग कभी शात नही हो सकते है उसी प्रकार जो साधु रागादि दोषोंको शान्त करनेकी इच्छासे घोर तपश्चरण तो करता है, किन्तु परनिन्दारूप भोजनको छोडता नही है, उसके वे रागादि दोष भी कभी नष्ट नही हो सकते है । कारण कि परनिन्दा करनेवाला ईर्ष्यालु मनुष्य मानकषायके वश होकरके दूसरेमें न रहनेवाले दोषोको प्रगट करता है तथा जो गुण अपनेमे नही है उन्हे वह प्रकाशित किया करता है । इस प्रकार उसके वे राग–द्वेषादि घटनेके बजाय बढते ही है ॥ २४९ ॥ समस्त गुणोके आधारभूत महात्माके यदि

दोषः सर्वगुणाकरस्य महतो दैवानुरोधात्क्वचि-
ज्जातो यद्यपि चन्द्रलाञ्छनसमस्तं द्रष्टुमन्धोऽप्यलम् ।
द्रष्टाप्नोति न तावतास्य पदवीमिन्दोः कलङ्कं जगद्
विश्वं पश्यति तत्प्रभाप्रकटितं किं कोऽप्यगात्तत्पदम् ॥ २५० ॥

---

व्रतमनुतिष्ठतो मुने· कर्मवशात्कदाचित्समुत्पन्न दोष तद्गुणप्रकटितमुद्भावयतो न कश्चिद् गुणातिशयो भवतीत्याह– दोष इत्यादि। आकरस्य आधारस्य उत्पत्तिहेतोर्वा। महतो गुणोत्कृष्टस्य भवत.। दैवानुरोधात् कर्मवशात्। क्वचित चारित्रादौ। अन्धोऽपि स्थूलदृष्टिरपि। तावता दोषदर्शनमात्रेण। अस्य सर्वगुणाकरस्य। पदवी पदम्। जगत् कर्तृ। विश्व समस्तम्। तत्प्रभा इन्दुप्रभा। अगात् गतः तत्पदम् इन्दुपदम् ॥२५०॥ यच्च असूयादिना परस्य दोषोद्भावन स्वस्य

---

दुर्भाग्यवश कही चारित्र आदिके विषयमे कोई दोष उत्पन्न हो जाता है तो चद्रमाके लाछनके समान उसको देखनेके लिये यद्यपि अन्धा (मन्दबुद्धि) भी समर्थ होता है तो भी वह दोषदर्शी इतने मात्रसे कुछ उस महात्माके स्थानको नही प्राप्त कर लेता है। जैसे–अपनी ही प्रभासे प्रगट किये गये चन्द्रके कलकको समस्त ससार देखता है, परन्तु क्या कभी कोई उक्त चन्द्रकी पदवीको प्राप्त हुआ है? अर्थात् कोई भी उसकी पदवीको नही प्राप्त हुआ है। **विशेषार्थ**– जहा अनेक गुणोका समुदाय होता है वहा कभी एक आध दोष भी उत्पन्न हो सकता है। जैसे चन्द्रमे आल्हादजनकत्व आदि अनेक गुण है, फिर भी उनके साथ उसमे एक दोष भी है जो कलक कहा जाता है। वह दोष भी उसकी ही प्रभा (चादनी) के द्वारा प्रगट किया जाता है, अन्यथा वह उक्त चद्रके पास तक न पहुंच सकनेके कारण किसीकी दृष्टिमे ही नही आ सकता था। इसी प्रकार जिस साधुमे अनेक गुणोके साथ यदि कोई एक आध दोष भी विद्यमान है तो वह अन्य साधारण प्राणियोकी भी दृष्टिमे अवश्य आ जाता है। परन्तु ऐसा होनेपर भी कोई साधु उसके उस दोषको देखकर यदि अन्य जनोके समक्ष उसकी निन्दा करता है तो इससे कुछ वह उस महात्माके समान उत्कृष्ट नही बन जाता है, बल्कि इसके विपरीत उसके अन्य उत्तमोत्तम गुणोके ऊपर दृष्टिपात न करके

यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम् ।
उत्तरोत्तरविज्ञानाद्योगिनः प्रतिभासते ॥ २५१ ॥

च पूजाद्यर्थमष्टोपवासादिकमाचरित[1] तदुत्तरोत्तरपरिणतौ कीदृश प्रतिभातीत्याह– यद्यदित्यादि । यद्यत् परदोषोद्भावन स्वगुणख्यापनादिकम् । आचरित कृतम् । कदा । उत्तरोत्तरविज्ञानात् उत्तरोत्तरप्रकृष्टविवेकात् । योगिन. तत्तत् अज्ञानचेष्टितमिति प्रतिभासते ॥ २५१ ॥ विशिष्टज्ञानपरिणतिरहितानाम् उत्कृष्टतपोयुक्तानामपि

केवल दोषग्रहणके कारण वह हीन ही अधिक होता है । जैसे कि चन्द्रमाके दोषको (कलकको) देखनेवाले तो बहुत है, किन्तु उनमे ऐसा कोई भी नही है जो कि उसके समान विश्वको आल्हादित करनेवाला हो सके । अभिप्राय यह है कि दूसरोके दोषोको देखने और उनका प्रचार करनेसे कोई भी जीव अपनी उन्नति नही कर सकता है । कारण कि वह आत्मोन्नति तो आत्मदोषोको देखकर उन्हे छोडने और दूसरोके प्रशस्त गुणोको देखकर उन्हे ग्रहण करनेसे ही हो सकती हैं । जैसा कि कवि वादीभसिंहने भी कहा है– अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोष प्रपश्यता । क समः खलु मुक्तोऽय युत' कायेन चेदपि ॥ अर्थात् जो जीव अन्य प्राणियोंके समान अपने भी दोषको देखता है उसके समान कोई दूसरा नही हो सकता है । वह यद्यपि शरीरसे सयुक्त है, फिर भी वह मुक्तके ही समान है ॥ २५० ॥ पूर्वमें जो जो आचरण किया है–दूसरेके दोषोको और अपने गुणोको जो प्रगट किया है–वह सब योगीके लिये आगे आगे विवेकज्ञानकी वृद्धि होनेसे अज्ञानतापूर्ण किया गया प्रतीत होता है ॥ विशेषार्थ–अभिप्राय यह है कि जबतक विवेक बुद्धिका उदय नही होता है तबतक ही व्यक्ति दूसरेकी निन्दा और आत्मप्रशसा आदिरूप हीन आचरण करता है । किन्तु आगे ज्यो ज्यो उसका विवेक बढता है त्यो त्यो उसे वह अपना पूर्व आचरण अज्ञानतावश किया गया स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । इसीलिये तब वह दूसरोके दोषोपर ध्यान न देकर अपने आत्मगुणोंके विकासका ही अधिकाधिक प्रयत्न करता है ॥ २५१ ॥

१ ज आचरति ।

अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते
भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता ।
इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं
चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहाः ॥ २५२ ॥
क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः ।
भेद एव यदि भेदवत्सलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

---

शरीरादौ ममेद बुद्धिसद्भावे किं भवतीत्याह– अपीत्यादि । केषाम् । सुतपसामपि । तरुणायते तरुणमिवात्मानमाचरति । इति हेतोः । कृतधियः विवेकिन. कृच्छ्रारम्भैः कष्टसाध्यैः त्रिकालादिभिः । चिरपरिचिते देहेऽपि, न केवल पुत्रकलत्रादौ ॥ २५२ ॥ अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह– क्षीरेत्यादि । अभेदरूपतः अभेदरूपेण । भेदवत्सु आत्मनो व्यतिरिक्तेषु । अलम् अत्यर्थेन । बाह्यवस्तुषु पुत्रकलत्रादिषु ॥२५३॥

---

जबतक मनरूपी जडके भीतर ममत्वरूप जलसे निर्मित गीलापन रहता है तबतक महातपस्वियोंकी भी आशारूप वेलकी शिखा जवान-सी रहती है। इसीलिये विवेकी जीव चिरकालसे परिचित इस शरीरमें भी अत्यन्त निःस्पृह होकर सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदिमे समान होकर–निरन्तर कष्टकारक आरम्भोमे–ग्रीष्मादि ऋतुओंके अनुसार पर्वतकी शिला, वृक्षमूल एवं नदीतट आदिके ऊपर स्थित होकर किये जानेवाले ध्यानादि कार्योंमे प्रवृत्त रहते है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार वेलकी जडमें जबतक जलके सिंचनसे गीलापन रहता है तबतक वह अपनी जवानीमें रहती है– हरीभरी बनी रहती है, उसी प्रकार मनमें भी जबतक ममत्वभाव रहता है तबतक बडे बडे तपस्वियोंकी भी आशा ( विषयवाछा ) तरुण रहती है – अतिशय प्रबल होती है । इसीलिये विवेकी जीव इस सत्यको जानकर अनादि कालसे साथमे रहनेवाले इस शरीरसे भी जब अनुराग छोड देते है तब भला प्रत्यक्षमें भिन्न दीखनेवाले स्त्री-पुत्रादिसे उनका अनुराग कैसे रह सकता है ? नही रह सकता । इस कारण उनकी वह आशा-लता मुरझाकर सूख जाती है ॥ २५२ ॥ जब कि दूध और पानीके समान अभेदस्वरूपसे रहनेवाले शरीर और शरीरधारी ( आत्मा ) इन दोनोमें ही अत्यन्त भेद है तब भिन्न बाह्य वस्तुओंकी-स्त्री, पुत्र, मित्र एव धन - सम्पत्ति आदिकी - तो बात ही क्या है ; बताओ । अर्थात् वे तो भिन्न हैं ही ॥ २५३ ॥ जिस प्रकार अग्निके

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वानलसंगमात् ।
इति देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥ २५४ ॥
अनादिचयसंवृद्धो महामोहो हृदि स्थितः ।
सम्यग्योगेन यैर्वान्तस्तेषामूर्ध्वं विशुद्धयति ॥ २५५ ॥

---

शरीरसयोगादात्मनो यज्ज्ञान तद्दर्शयन्नाह– तप्त इत्यादि, जलं वा जलमिव । शीतीभूताः सुखीभूता· । सुखैषिण (शिवैषिण ) मोक्षार्थिन मुनय.. ॥ २५४ ॥ शरीरादौ ममेदभावकारणस्य महामोहस्य त्यागोपायमाह– अनादीत्यादि । अनादिश्चासौ चयश्च उपचयः तेन सवृद्ध पुष्टः । महामोह शरीरादौ ममेदभावः । सम्यग्योगेन स्वस्वरूपे चित्तनिरोधेन औषधसयोगेन च ऊर्ध्वं परलोक, अन्यत्र हृदयादुपरि ॥ २५५ ॥ महामोहाभावे सत्येतदित्थ पश्यता मुनीनामिह किं तद्यन्न

---

संयोगसे जल संतप्त होता है उसी प्रकार मै शरीरके सयोगसे सतप्त हुआ हू–दुःखी हुआ हू । इसी कारण मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले भव्य जीव इस शरीरको छोड करके सुखी हुए है ॥ २५४ ॥ हृदयमें स्थित जो महान् मोह अनादि कालसे समान वृद्धिके द्वारा वृद्धिको प्राप्त हुआ है उसको जिन महापुरुषोने समीचीन समाधिके द्वारा वान्त कर दिया है– नष्ट कर दिया है– उनका आगेका भव विशुद्ध होता है ॥ विशेषार्थ– किसी व्यक्तिके उदरमे यदि बहुत कालसे संचित होकर मलकी वृद्धि हो जाती है तो उसका शरीर अस्वस्थ हो जाता है । ऐसी अवस्थामे यदि वह बुद्धिमान् है तो योग्य औषधिके द्वारा वमन-विरेचन आदि करके उस सचित मलको नष्ट कर देता है । इससे वह स्वस्थ हो जाता है और उसका आगेका समय भी स्वस्थताके साथ आनन्दपूर्वक बीतता है । ठीक इसी प्रकारसे सब ससारी जीवोंके अनादि कालसे महामोहकी वृद्धि हो रही है । इससे वे निरन्तर दुःखी रहते हैं । उनमें जो विवेकी जीव है वे बाह्य वस्तुओसे राग और द्वेषको छोडकर तपका आचरण करते हुए उस मोहको कम करते है । इस प्रकार अन्तमे समीचीन ध्यान (धर्म व शुक्ल) के द्वारा उस महामोहको सर्वथा नष्ट करके वे भविष्यमे अविनश्वर अनुपम सुखका अनुभव करते हैं ॥ २५५ ॥ जो

एकैश्वर्यमिहैकतामभिमतावाप्ति शरीरच्युति
दुःखं दुःकृतिनिष्कृति सुखमलं संसारसौख्योज्झनम् ।
सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकरं प्राणव्ययं पश्यतां
किं तद्यन्न सुखाय तेन सुखिनः सत्यं सदा साधवः ॥ २५६ ॥
आकृष्योग्रतपोबलैरुदयगोपुच्छं यदानीयते
तत्कर्म स्वयमागतं यदि विदः को नाम खेदस्ततः ।
यातव्यो विजिगीषुणा यदि भवेदारम्भकोऽरिः स्वयं
वृद्धिः प्रत्युत नेतुरप्रतिहता तद्विग्रहे कः क्षयः ॥ २५७ ॥

---

सुखायेत्याद्याह– एकेत्यादि । एकैश्वर्यं चक्रवर्तित्वम् । इह जगति । एकताम् एकाकित्वम् । अभिमतावाप्ति वाञ्छितप्राप्तिम् । शरीरच्युति शरीरविनाशम् । दुःख दुःकृतिनि कृति दुष्कृतेर्दुःकर्मण. निष्कृति निर्जराम् । सुख ससारसौख्योज्झन विपयसुखत्याग. । सर्वत्यागमहोत्सवव्यतिकर सर्वत्याग एव महोत्सव. परमकल्याणं तस्य व्यतिकर प्रघट्टकम् । प्राणव्यय प्राणत्यागम् । किं तत् तन्न सुखाय– एकाकित्वादीना मध्ये किं तद्यन्न सुखाय सुखनिमित्त भवति । तेन कारणेन ॥२५६॥ ननु कर्मोदयप्रभवदुःखमनुभवता चित्तखेदोत्पत्तिसभवात् कथ सुखित्वमित्याह– आकृष्येत्यादि । आकृष्य हठात् । उदयगोपुच्छ उदयावलिम् । स्वयमागत स्वयम् उदयप्राप्तम् । विद विवेकिन । तत. स्वयम् आगतात् कर्मणः । यातव्य विग्रहितव्यः । विचिगीषुणा शत्रुणा । आरम्भक. विग्रहप्रारम्भकर. । नेतु विजिगीषो ॥ २५७ ॥ कर्मोदये खेदमकुर्वन्तो मुनय इत्थंभूता. कर्मनिर्जरा कुर्वन्तः

---

साधुजन ससारमें एकाकीपनको–– अकेले रहनेको–– साम्राज्यके समान सुखप्रद समझते हैं, शरीरके नाशको इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके समान आनन्ददायक मानते है, दुष्ट कर्मोंकी निर्जराको– उससे प्राप्त होनेवाले क्षणिक विषयसुखको - दुख रूप ही जानते है, सांसारिक सुखके परित्यागको अतिशय सुखकारक समझते है, तथा जो प्राणोंके नाशको सब कुछ देकर किये जानेवाले महोत्सवके समान आनन्ददायक मानते है, उन साधु पुरुषोके लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुखकर न प्रतीत होती हो ? अर्थात् राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उन्हे सब ही अनुकूल व प्रतिकूल सामग्री सुखकर ही प्रतीत होती है । इसी कारण सचमुचमे वे साधु ही निरन्तर सुखी हैं ॥ २५६ ॥ जो विद्वान् साधु पीछे उदयमे आने योग्य कर्मस्वरूप उदयगोपुच्छको – गायकी पूछके समान उत्तरोत्तर हीनताको प्राप्त होनेवाले कर्मपरमाणुओको – तीव्र तपके प्रभावसे

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वंसहत्वाद्
भ्रान्त्याचिन्त्याः सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः ।
सज्जीभूताः स्वकार्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहागुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८॥

---

शरीरमपि त्यक्तुं यतन्ते इत्याह– एकाकित्वेत्यादि । भ्रान्त्या कथ्र्या । अचिन्त्या· अविपयीकृता. । सहायमिव । किंचित् मनाक् । सज्जीभूता प्रगुणीभूताः । स्वकार्ये मोक्षे । तदपगमविधिं तस्य शरीरस्य अपगमस्त्यागस्तस्य विधिं विधीयते शरीरापगमो येनासौ विधि. परमात्मस्वरूप रत्नत्रय वा । गुह्यगेहे एकान्तप्रदेशे । नृसिंहा. पुरुपप्रधाना. ॥ २५८ ॥ तदपगमविधिं ध्यायन्तः स्वयम् एवंविधगुणसपन्नास्तेऽस्माक

---

स्थितिका अपकर्पण करके वर्तमानमें उदयको प्राप्त कराता है वह कर्म यदि स्वय ही उदयको प्राप्त हो जाता है तो इससे उस साधुको क्या खेद होनेवाला है ? कुछ भी नही । ठीक है – जो सुभट विजयकी अभिलापासे शत्रुके ऊपर आक्रमण करनेके लिये उद्यत हो रहा है उसका वह शत्रु यदि स्वयं ही आकर युद्ध प्रारम्भ कर देता है तो इससे उस सुभटको विना किन्ही विघ्न-वाधाओंके अपने आप विजय प्राप्त होती है । वैसी अवस्थामें उसके साथ युद्ध करनेमें भला उसकी क्या हानि होनेवाली है ? कुछ भी नही ॥ २५७ ॥ जिन योगियोने सब परिषहोंके सहनेमें समर्थ होते हुए सब ही वाह्याभ्यन्तर परिग्रहको छोडकर एकाकी (असहाय) रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली है, जिनके विषयमे भ्राति कुछ सोच ही नही सकती है अर्थात् जो सब प्रकारकी भ्रातिसे रहित है, जो शरीर जैसे सहायककी सहसा समीक्षा करके कुछ लज्जाको प्राप्त हुए है– अर्थात् जो वस्तुत. असहायक शरीरको अब तक सहायक समझनेके कारण कुछ लज्जाका अनुभव करते हैं, तथा जो अपने कार्यमें ( मुक्तिप्राप्तिमें ) तत्पर हो चुके हैं ; वे मनुष्योमे सिंहके समान पराक्रमी योगी मोहसे रहित होकर पर्वत, भयानक वन और गुफा जैसे एकान्त स्थानमे पल्यंक आसनसे स्थित होते हुए उस शरीरके नष्ट करनेके उपायका-परमात्माके स्वरूप या रत्नत्रयका–ध्यान करते है ॥ २५८ ॥ शरीरमे लगी हुई धूलि ही जिनका भूषण है, स्थान जिनका

येषां भूषणमङ्गसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलं
शय्या शर्करिला मही सुविहिता[1] गेहं गुहा द्वीपिनाम् ।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः
ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥२५९॥
दूरारूढतपोऽनुभावजनितज्योतिःसमुत्सर्पणैर्-
अन्तस्तत्त्वमदः कथं कथमपि प्राप्य प्रसादं गताः ।
विश्रब्धं हरिणीविलोलनयनैरापीयमाना वने
धन्यास्ते गमयन्त्यचिन्त्यचरितैर्धीराश्चिरं वासरान् ॥ २६० ॥

पवित्रतानिमित्त भवन्तु इत्याह– येषामित्यादि । अङ्गसगत शरीरसबन्धम् (सबद्धम्) । शर्करिला शर्करायुक्ता । सुविहिता सुनिष्पन्ना । द्वीपिना व्याघ्राणाम् । आत्मेत्यादि– आत्मात्मीयविकल्पा वीता विनष्टा मतौ येषाम् तमोग्रन्थय. अज्ञानविवर्ता । नि स्पृहा. यतय ॥२५९॥ पुनरपि कथमूतास्ते इत्याह– दूरेत्यादि । दुरारूढ परमप्रकर्षप्राप्त तच्च तत्तपश्च तस्य अनुभाव. माहात्म्य तेन जनित च ज्योतिश्च ज्ञान तस्य समुत्सर्पणै समीचीनप्रवर्तनै. । अन्तस्तत्व शरीरातिरिक्त आत्मरूपम् । अद. एतत् । कथं कथमपि महता कष्टेन । प्राप्य अनुभूय । प्रसादं प्रसत्तिम् विश्रब्ध शनै. आपीयमाना. तप प्रभावजनितसानुरागवृद्धया अवलोकमाना. । अचिन्त्यचरितै दुर्धरानुष्ठानै ॥ २६० ॥ तथा बुद्धिर्येषा किं करोतीत्याह–

शिलाका तलभाग है, शय्या जिनकी कंकरीली भूमि है, भलीभात रची गई ( प्रकृतिसिद्ध ) सिंहोकी गुफा ही जिनका घर है, जो आत्मा और आत्मीयरूप विकल्पबुद्धिसे – ममत्वबुद्धिसे – रहित हो चुके है, जिनके अज्ञानकी गाठ खुल चुकी है, तथा जो मुक्तिके सिवाय अन्य किसी बाह्य वस्तुकी इच्छा नही रखते है ; ऐसे ज्ञानरूप धनके धारक वे साधु हमारे मनको पवित्र करे ॥ २५९ ॥ जो अतिशय वृद्धिगत तपके प्रभावसे उत्पन्न हुई ज्ञानरूप ज्योतिके प्रसारसे येन केन प्रकारेण ( कष्टपूर्वक ) इस आत्मस्वरूपको प्राप्त करके-जान करके-प्रसन्नताको प्राप्त हुए है तथा जो मनमें हिरणियोके चंचल नेत्रोके द्वारा विश्वासपूर्वक देखे जाते है – जिनकी शान्त मुद्राको देखकर स्वभावत भयभीत रहनेवाली हिरणियोंको किसी प्रकारका भय उत्पन्न नही होता है – वे ऋषि धन्य हैं। वे अपने अनुपम आचरणोके द्वारा दिनोंको ( समयको ) धीरता-पूर्वक चिरकाल तक बिताते है ॥ २६० ॥ अज्ञानी जीवोंको आशा

[1] मु (नि) सुविहित ।

येषां बुद्धिरलक्ष्यमाणभिदयोराशात्मनोरन्तरं
गत्वोच्चैरविधाय भेदमनयोराराज्ञ विश्राम्यति ।
यैरन्तर्विनिवेशिताः शमधनैर्बाढं बहिर्व्याप्तयः
तेषां नोऽत्र पवित्रयन्तु परमाः पादोत्थिताः पांसवः ॥ २६१ ॥
यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये
सर्वारम्भपरिग्रहग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥ २६२॥

---

येषामित्यादि । अलक्ष्यमाणभिदयो' अनिश्चीयमानभेदयो । अन्तरम् अन्तराल मध्यमित्यर्थं । आरात् अवान्तरे । अविधाय अकृत्वा । अर्तविनिवेशिता आत्मस्वरूपे एव प्रक्षिप्ता' । का । बहिर्व्याप्तय बाह्यवस्तुविकल्पा । बाढम् अत्यर्थम् । कथभूतै यै. । शमधनैः शम उपशमो धन येषाम् ॥ २६१ ॥ बहिर्व्याप्तिनिरोध कृत्वा कर्मफलानुभवन कुर्वता परिणामविशेष प्रशसयन्नाह– यदित्यादि । तदुदीरणात् तस्य कर्मण उदीरणम् अपक्वपाचन तस्मात् । शुभमेव पुण्यमेव । उभयोच्छित्तये शुभाशुभविनाशाय । सर्वेत्यादि–सर्वे च ते आरम्भपरिग्रहाश्च त एव ग्रहा तेषु वा आग्रह' आबन्ध त परित्यजतीति एवशीलस्तत्परित्यागी ॥ २६२ ॥ ननु

---

और आत्मा इन दोनोके बीच भेद नही दिखता है। परन्तु जिन महर्षियोकी बुद्धि इन दोनोके मध्यमे जाकर उनका भेद करनेके बिना बीचमे विश्रामको नही प्राप्त होती है – भेदको प्रगट करके ही विश्राम लेती है, तथा शातिरूप अपूर्व धनको धारण करनेवाले जिन महर्षियोने बाह्य विकल्पोको आत्म स्वरूपमे स्थापित कर दिया है, उनके चरणोसे उत्पन्न हुई उत्कृष्ट धूलि यहा हमे पवित्र करे ॥ २६१ ॥ प्राणीने पूर्वभवमे जिस पाप या पुण्य कर्मका सचय किया है वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरणासे प्राप्त हुए दुख अथवा सुखका अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान् शुभको ही करता है – पापकार्योको छोडकर केवल पुण्यकार्योको ही करता है – वह भी अभीष्ट है – प्रशंसाके योग्य है। किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनो ( पुण्य-पाप ) को ही नष्ट करनेके लिये समस्त आरम्भ व परिग्रहरूप पिशाचको छोडकर शुद्धोपयोगमे स्थित होता है वह तो सज्जन पुरुषोके लिये वन्दनीय ( पूज्य ) है ॥ २६२ ॥ ससारमे पूर्वकृत कर्मके उदयसे जो भी सुख अथवा दुख

सुखं दुःखं वा स्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥ २६३ ॥

---

सुखदु खरूपकर्मफलमनुभवताम् अपरशुभेतरकर्मोत्पत्ते. कथमुभयोश्छित्तिरित्याह– सुखमित्यादि। विहितकर्मोदयवशात् उपार्जितकर्मोदयानुरोधात्। कर्मोपाधिजाः ससारिसुखादयो नात्मस्वभावा इत्यर्थ। इति विकल्पात् एवविधभावनाया.। एष प्रकृष्टसवर-निर्जरावानात्मा। स्फुरति सकलस्व-पररूप प्रकाशयति। सुविदग्ध अतिनिर्मल सुष्ठुविवेकी ॥ २६३ ॥ पुराणस्य कर्मणो निर्जरायाम् अभिनवस्य च

---

होता है उससे प्रीति क्यो और खेद भी क्यों, इस प्रकारके विचारसे यदि जीव उदासीन होता है – राग और द्वेषसे रहित होता है – तो उसका पुराना कर्म तो निर्जीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चयसे बन्धको प्राप्त नही होता है। ऐसी अवस्थामे यह सवर और निर्जरासे सहित जीव अतिशय निर्मल मणिके समान प्रकाशमान होता है - स्व और परको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानसे सुशोभित होता है ॥ **विशेषार्थ–** पूर्वमे जिस शुभ अथवा अशुभ कर्मका बन्ध किया है उसका उदय आनेपर सुख अथवा दु ख प्राणीको प्राप्त होता ही है। किंतु जो अज्ञानी जीव है वह चूकि पुण्यके फलस्वरूप सुखमे तो अनुराग करता है और पापके फलभूत दु.खमे द्वेष करता है, इसीलिये उसके पुन नवीन कर्मोका बन्ध होता है। परन्तु जो जीव विवेकी है वह यह विचार करता है कि पूर्वकृत पुण्यके उदयसे यह जो सुख प्राप्त हुआ है वह अस्थायी है–सदा रहनेवाला नही है। इसलिये उसमे अनुराग करना उचित नही है। इसी प्रकार दु ख पापकर्मके उदयतेसे होता है। यदि पूर्वमे पापकर्मका सचय किया है तो उसके फलको भोगना ही पडेगा। फिर भला उसमे खेद क्यो ? इस प्रकारके विचारसे विवेकी जीव सुख और दु खमे चूकि हर्ष और विषादसे रहित होता है, अतएव उसके पुनः नवीन कर्मका बन्ध नही होता है। साथ ही उसके पूर्वसचित कर्मकी निर्जरा भी होती है। इस प्रकारसे वह सवर एव निर्जरासे युक्त होकर समस्त कर्मोसे रहित होता हुआ मुक्त हो जाता है ॥ २६३ ॥ सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान

सकलविमलबोधो देहगेहे विनिर्यन्
ज्वलन इव स काष्ठं निष्ठुरं भस्मयित्वा ।
पुनरपि तदभावे प्रज्वलत्युज्वलः सन्
भवति हि यतिवृत्तं सर्वथाश्चर्यभूमिः ॥ २६४ ॥

---

सवरे यज्जातं तद्दर्शयन्नाह– सकलेत्यादि । सकलविमलबोध केवलज्ञानम् । देहगेहे देह एव गेह तत्र । विनिर्यंन् विनिर्गच्छन्, अर्हदावस्थाया प्रादुर्भवन् इत्यर्थ प्रज्वलति । प्रकाशते तदभावे देहगेहाभावे सिद्धावस्थायां पुनरपि सकलविमलबोध. प्रज्वलति । उज्ज्वलो निर्मल सन् । किं कृत्वा । भस्मयित्वा विनाशयित्वा । किं तत् । काष्ठम् । काष्ठमिव काष्ठम् अचेतनशरीरम् । कथ भस्मयित्वा । निष्ठुर निर्दय यथा भवति, नि शेष विनाशयतीत्यर्थ. । क इव ज्वलन इव । अयमर्थ – यथा ज्वलन काष्ठे विनिर्यंन् ज्वालावस्थाया प्रज्वलति, पश्चात् स ज्वलन् काष्ठ निष्ठुरं भस्मयित्वा । तदभावे काष्ठाभावे अगारावस्थाया पुनरपि प्रज्वलतीति । अतः शरीरावस्थायाम् अशरीरावस्थाया च सकलविमलबोधप्रकाशहेतुत्वात् । भवति । हि स्फुटम् । यतिवृत्त यते क्षीणकषायस्य अयोगिनश्च वृत्त यथाख्यातचारित्रम् । भूमिः स्थानम्[1] ॥ २६४ ॥ तत्र मुक्तेतरावस्थासाधारणात्मस्वरूपे विप्रतिपत्ति निराकुर्वन्

---

( केवलज्ञान ) शरीररूप गृहमे प्रगट होकर जिस प्रकार लकडीमे प्रगट हुई अग्नि निर्दयतापूर्वक उस लकडीको भस्म करके उसके अभावमे फिर भी निर्धूम जलती रहती है उसी प्रकार वह भी शरीरको पूर्णतया नष्ट करके उसके अभावमे भी निर्मलतया प्रकाशमान रहता है । ठीक है– मुनियोका चरित्र सब प्रकारसे आश्चर्यजनक है ॥ **विशेषार्थ–** जिस प्रकार लकडीमे लगी हुई अग्नि जबतक वह लकडी शेष रहती है तबतक तो जलती ही है, किन्तु उसके पश्चात् भी – उक्त लकडीके निःशेष हो जानेपर भी – वह निर्मलतासे जलती ही रहती है, उसी प्रकार शरीरमे प्रगट हुआ केवलज्ञान जबतक वह शरीर रहता है तब भी – आर्हन्त्य अवस्थामे भी – प्रकाशित रहता है तथा उस शरीरके नष्ट हो जानेपर सिद्धावस्थामे भी वह स्पष्टतया अनन्त कालतक प्रकाशित रहता है । यह क्षीणकषाय एव अयोगी जिनके उस यथाख्यात-चारित्रका प्रभाव है जो छद्मस्थ जीवोको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है ॥ २६४ ॥ गुणवान् आत्मा गुणस्वरूप है – गुणसे अभिन्न है ।

---

१ यथाख्यातचारित्र भवति स्थानम् ।

गुणी गुणमयस्तस्य नाशस्तन्नाश इष्यते ।
अत एव हि निर्वाणं शून्यमन्यैर्विकल्पितम् ॥ २६५ ॥

---

गुणीत्यादिश्लोकद्वयमाह्– योगमते हि गुणा ज्ञानादय आत्मनोऽत्यन्तभिन्ना । ते मुक्तावस्थायाम् अत्यन्त निर्वृत्यन्त, आत्मैव केवलस्तत्र तिष्ठतीति । अत्राह-गुणी गुणमय. । गुणी आत्मा गुणमयो ज्ञानादिगुणात्मकः । तस्य गुणस्य नाशस्तन्नाशः गुणिनाश. । अत एव गुणनाशे गुणिनो नाशादेव । शून्य निर्वाण प्रदीपनिर्वाणतुल्यम् । अन्यैर्बौद्धै प्रकल्पितम् । उक्तं च– "दिश न काचिद्विदिश न काचित् नेवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेत स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥" स्वमते तु अन्यै. शुभाशुभै रागादिभिर्वा शून्य निर्वाणम् ॥ २६५ ॥ अजात इत्यादि ।

---

अतएव गुणके नाशका मानना गुणीके ही नाशका मानना है। इसीलिये अन्य वादियोंने ( बौद्धोने ) आत्माके निर्वाणको शून्यके समान कल्पित किया है तथा जैनोने उस निर्वाणको अन्य राग-द्वेषादिरूप शुभाशुभ भावोसे शून्य कल्पित किया है ॥ विशेषार्थ– नैयायिक और वैशेषिक गुण और गुणीमें सर्वथा भेदको स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार गुणीमे गुण समवाय सम्बन्धसे रहते हैं । वह समवाय नित्य, व्यापक और एक है । वे मुक्तावस्थामें आत्माके बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार इन नौ गुणोका नाश मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त प्रकारसे गुण और गुणीमे सर्वथा भेद मानना उचित नही है, क्योकि ऐसा माननेपर आत्मा स्वरूपतः ज्ञानादि गुणोंसे रहित होनेके कारण जड ( अचेतन ) सिद्ध होता है जो योग्य नही है। इसलिये आत्माको उक्त ज्ञानादि गुणोसे अभिन्न मानना चाहिये । और जब वह आत्मा ज्ञानादि गुणोसे अभिन्न सिद्ध है तब भला मुक्तावस्थामे उन ज्ञानादि गुणोका नाश स्वीकार करनेसे आत्माका भी नाश क्यों न स्वीकार करना पडेगा ? परन्तु वह बौद्धोंके समान वैशेषिकोको इष्ट नही है। वैसी मुक्ति तो बौद्ध ही स्वीकार करते है । उनका कहना है कि जिस प्रकार तेलके समाप्त हो जानेपर विनष्ट हुआ दीपक न किसी दिशाको जाता है, न किसी विदिशाको जाता है, न पृथिवीमे जाता है ; और न आकाशमें भी जाता है, किन्तु वह केवल शान्तिको प्राप्त होता है। उसी प्रकार मुक्तिको प्राप्त हुआ जीव भी कही न जाकर केवल

**अजातोऽनश्वरोऽमूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।**
**देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः ॥ २६६ ॥**

---

अजात द्रव्यापेक्षया अनादि (दि.) मुक्त. सन् पुन संसारे वा अनुत्पन्न । अनश्वर अनिबन्धन. (अनिधन) द्रव्यापेक्षयैव अनश्वरो वा पर्यायापेक्षया विनश्वर । अमूर्त. रूपादि रहित. । कर्ता शुभाशुभकर्मणाम्, उत्तरोत्तरस्वपरिणतेर्वा जनक । भोक्ता स्वकृतकर्मफलस्य अनन्तसौख्यस्य वानुभविता । ननु भोक्तृत्वेऽप्यात्मन सुखज्ञानयोरभावस्तयोः प्रकृतिधर्मत्वात् मुक्तौ सर्वथा असम्भवाच्चेति वदन्त साख्य प्रत्याह– सुखी बुधः सुखी सुखात्मक., बुधो ज्ञानात्मक, तदभावे आत्मनोऽप्यभावः उपयोगलक्षणत्वात्तस्य । एतेनेद प्रात्याख्यातम्– "अकर्ता निर्गुण. शुद्धो नित्य. सर्वगतोऽक्रियः[1] । अमूर्तश्चेतनो भोक्ता आत्मा कपिलशासने ॥" देहमात्र शरीरपरिमाण, न पुन सर्वगत. । मलैर्मुक्त सकलकर्मरहितः । गत्वोर्ध्वमचलः ऊर्ध्वलोकाग्र गत्वा अचल. स्थिर आस्ते, नान्यत्र गच्छति अत्र वा पुनरागच्छतीति वा । प्रभुः ऐहिक-पारत्रिककार्येषु समर्थ, मुक्त सन् सर्वजगद्वन्द्यो वा ॥ २६६ ॥

---

शान्तिको—शून्यताको—प्राप्त होता है । इस प्रकार उन्होंने जीवके निर्वाणको प्रदीपके निर्वाणके समान शून्यरूप माना है । अतएव गुण और गुणीमें कथचित् भेदाभेदको स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा उपर्युक्त प्रकारसे बौद्धमतका प्रसंग दुर्निवार होगा ॥ २६५ ॥ आत्मा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जन्मसे और मरणसे भी रहित होकर अनादिनिधन है । वह शुद्ध स्वभावकी अपेक्षा अमूर्त होकर रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्शसे रहित है । वह व्यवहारकी अपेक्षा शुभ व अशुभ कर्मोका कर्ता तथा निश्चयसे अपने चेतन भावोंका ही कर्ता है । इसी प्रकार व्यवहारसे पूर्वकृत कर्मके फलभूत सुख व दुःखका भोक्ता तथा निश्चयसे वह अनन्त सुखका भोक्ता है । वह स्वभावसे सुखी और ज्ञानमय होकर व्यवहारसे प्राप्त हुए हीनाधिक शरीरके प्रमाण तथा निश्चयसे वह असंख्यातप्रदेशी लोकके प्रमाण है । वह जब कर्ममलसे रहित होता है तब स्वभावत. ऊर्ध्वगमन करके तीनो लोकोका प्रभु होता हुआ सिद्धशिलापर स्थिर हो जाता है ॥ २६६ ॥ तपस्वी जो स्वाधीनतापूर्वक

---

१ प ज सर्वगतक्रिय. ।

**स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।**
**स्वाधीनसुखसंपन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥ २६७ ॥**
**इति कतिपयवाचां गोचरीकृत्य कृत्यं**
**रचितमुचितमुच्चैश्चेतसां चित्तरम्यम् ।**

---

ननु सिद्धाना सुखसपत्तिकारणाभावात्कथ सुखित्वमित्याह–स्वाधीन्यादित्यादि । दु खमपि कायक्लेशादिलक्षण तपस्विना यदि सुखमासीत् । कस्मात् । स्वाधीन्यात् पराधीनत्वाभावात् । तदधीनता हि दु खम्, 'को नरकः परवशता' इत्यभिधानात् । तदा स्वाधीनसुखसपन्ना स्वाधीनम् इन्द्रियाद्यनायत कर्मविविक्तात्मस्वरूपोत्थ तच्च तत्सुख च तत्सपन्नं जात येषाम्, तेन वा सपन्ना युक्ता ॥ २६७ ॥ ग्रन्थार्थमुपसहृत्य तदर्थानुष्ठातृणा फलमुपदर्शयन्नाहइतीत्यादि । इति एवमुक्तप्रकारेण । कतिपयवाचा स्वल्पवचनानाम् । गोचरीकृत्य वाचा विपय कृत्वा । कृत्यम् अनुष्ठेय चतुर्विधाराधना-स्वरूपम् । उचित योग्य मुक्तिप्रसाधने । उच्चैश्चेतसाम् उदारचित्तानाम् । चित्तरम्य

---

कायक्लेशादिके कष्टको सहते है वह भी जब उनको सुखकर प्रतीत होता है तब फिर जो सिद्ध स्वाधीन सुखसे सम्पन्न है वे सुखी कैसे न होगे ? अर्थात् अवश्य होगे ॥ **विशेषार्थ–** ऊपरके श्लोकमे सिद्धोको सुखी बतलाया गया है । इसपर यह शका हो सकती थी कि सुखकी साधनभूत जो सम्पत्ति आदि है वह तो सिद्धोंके पास है नही, फिर वे सुखी कैसे हो सकते है ? इसके उत्तरमे यहा यह बतलाया है कि पराधीनताका जो अभाव है वही वास्तवमे सुख है, और वह सिद्धोके पूर्णतया विद्यमान है । सम्पत्ति आदिके सयोगसे जो सुख होता है वह पराधीन है । इसलिये तदनुरूप पुण्यके उदयसे जब तक उन पर पदार्थोकी अनुकूलता है तभी तक वह सुख रह सकता है,– इसके पश्चात् वह नष्ट ही होनेवाला है । परन्तु सिद्धोका जो स्वाधीन सुख है वह शाश्वतिक है– अविनश्वर है । देखो, साधुजन अपनी इच्छानुसार कायक्लेशादिरूप अनेक प्रकारके दु खको सहते है, परन्तु इसमे उन्हे दु खका अनुभव न होकर सुखका अनुभव होता है । इस प्रकार स्वाधीनतासे सहा जानेवाला दु.ख भी जब उनको सुखस्वरूप प्रतिभासित होता है तब भला प्राप्त हुए उस स्वाधीन सुखसे सिद्ध जीव क्यो न सुखी होंगे ? वे तो अतिशय सुखी होगे ही ॥ २६७ ॥ इस प्रकार कुछ थोडे-से वचनोका विषय करके – उनका अश्रय ले करके - जो यह योग्य कृत्य - अनुष्ठानके योग्य

इदमविकलमन्तः संततं चिन्तयन्तः
सपदि विपदपेतामाश्रयन्ते श्रियं ते ॥ २६८ ॥
जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् ।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥ २६९ ॥

---

हृदयाल्हादकरम् । इदम् उक्त प्रकारमनुष्ठेयत्वम् । अविकलं परिपूर्णम् । अन्तः हृदयमध्ये । सपदि झटिति । विपदपेता शाश्वतीम् । श्रिय मोक्षलक्ष्मीम् । ते सततम् अन्तश्चिन्तका । आश्रयन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ २६८ ॥ ग्रन्थकारो ग्रन्थसमाप्तौ स्वगुरोर्नामपूर्वक- मात्मीयनामकरण कुर्वाणो जिनसेनाचार्येत्याद्याह- भदन्ताना पूज्यानाम् ॥ २६९ ॥

मोक्षोपायमनल्पपुण्यममलज्ञानोदय निर्मल
मव्यार्थं परम प्रभेन्दुकृतिना व्यक्तै. प्रसन्नै पदैः ।
व्याख्यानं वरमात्मशासनमिद व्यामोहविच्छेदत
सूक्तार्थेषु कृतादरैरहरहश्चेतस्यल चिन्त्यताम् ॥

॥ इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचितात्मानुशासनटीका समाप्ता ॥

---

चार प्रकारकी आराधनाका स्वरूप रचा गया है वह उदार विचारवाले मनुष्योके चित्तको आनन्द देनेवाला है । जो भव्य जीव इसका निरन्तर पूर्णरूपसे चित्तमे चिन्तन करते है वे शीघ्र ही समस्त विपत्तियोंसे रहित मोक्षरूप लक्ष्मीका आश्रय करते हैं ॥ २६८ ॥ जिन भगवान्‌की सेनारूप साधुओके आचार्यस्वरूप जो गणधर देव है उनके चरणोके स्मरणमें चित्तको लगानेवाले एवं कल्याणकारी अनेक गुणोसे सयुक्त ऐसे पूज्य आचार्योंकी यह - आत्मस्वरूपके विषयमे शिक्षा देनेवाली कृति (रचना) है । दूसरा अर्थ - श्री जिनसेनाचार्यके चरणोके स्मरणमें चित्तको अर्पित करनेवाले गुणभद्राचार्यकी यह आत्मानुशासन नामक कृति है- ग्रन्थरचना है ॥ २६९ ॥

समाप्त

## १. श्लोकानुक्रमणिका

## २. मूलग्रन्थगत विशेष-शब्द-सूची

## ३. संस्कृतटीकान्तर्गत विशेष-शब्द-सूची

## ४. टीकान्तर्गत ग्रन्थान्तरोंके अवतरण

| | अवतरण | श्लोक | अन्यत्र कहां |
|---|---|---|---|
| ८ | जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् | १० | तत्त्वार्थ १-४ |
| ९ | तस्मिन् इति सप्तमी समाप्तौ अभिना योगे द्वितीया भवति | १३० | (पर्यभि.) जैनेद्र १।४।३ |
| १० | त्याज्यस्य (व्यस्य) वा कर्तरि | ४० | जैनेद्रम. १।४।७५ |
| ११ | दिश न कांचित् | २६५ | (सौन्दरनन्द काव्य १६-२७ य. चपू ६, पृ. २७०) |
| १२ | 'परोपकाराय सता हि चेष्टितम्' इति वचनात् | ९७ | |
| १३ | प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो ण | ५ | जैनेन्द्रम्. ४।१।२८ |
| १४ | 'प्रोपात्समा (प्रोपोत्स) पादपूरणे' इति वचनात् | ११२ | शाकटायन २।३।६ |
| १५ | भेदज्ञानात्प्रतीयेते | १७२ | न्या. वि ११४-१५ |
| १६ | 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इत्यभिधानात् | १७० | तत्त्वार्थसूत्र १-२० |
| १७ | मतिरप्राप्तिविषया | ५ | |
| १८ | मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ | १० | य. चपू ६, पृ. ३२४ |
| १९ | विस्मयो जनन निद्रा | ९ | य. चपू ६, पृ. २७४ |
| २० | व्रीह्यादेः | ८६ | जैनेन्द्रम्. ४।१।४२ |
| २१ | 'शरीरं धर्मसंयुक्त रक्षणीय प्रयत्नतः' इत्यभिधानात् | ६९ | |
| २२ | सेनाया वा | ३२ | जैनेन्द्रम्. ३।३।१६६ |

## ५ टीकाकारके समक्ष विद्यमान ग्रन्थगत पाठान्तर

| श्लोक | मुद्रित पाठ | पाठान्तर |
|---|---|---|
| ४० | माभूभौतिक | मा भूदिति पाठे.... |
| ६४ | रूपादिविश्वाय (?) | रूपदिविश्वायेति पाठे.... |
| ९५ | लोकाधिपाः | लोकाधिका वा पाठः |
| ९७ | इदं | इमां इति पाठे.... |
| ११८ | भाविजन्मन. | भावि जन्म यत् इति पाठः |
| २४१ | अस्त्यात्मास्तमितादिबधनगतइत्यर्थंस्तमितादिबधनमत इति च पाठ. | |
| २४३ | मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ | अभ्रान्ताविति च पाठ. |

## ६. आत्मानुशासनमें प्रयुक्त छन्दोंका विवरण

१. **अनुष्टुभ्**–इस छन्दका उपयोग निम्न श्लोकोंमे हुआ है– ४, ५, २२, २९, ३५, ३६, ३९, ४३, ४५, ४६, ५६, ६३, ६५, ६६, ६९–७१, ७३, ७४, ७८, ७९, ८२, ८४, ८५, ९४, १०३–४, १०९, ११०, ११६–१७, १२०–२४, १३५, १३९, १४२–४३, १४५–४६, १५२–५७, १६१–६४, १६७, १७१–७२, १७४–७९, १८२-८४, १८६–८८, १९६–९८, २०१, २०३–४, २०६–१२, २२१, २३१–३४, २३६–४०, २४२–४३, २४५–४७, २४९, २५१, २५४, २५५, २६५–६७, २६९.

२. **शार्दूलविक्रीडित**–५, ७, ९. १०, २८, ३२, ३३, ३७, ३८, ४०–४२, ४४, ४८–५५, ५७–५९, ६१, ६२, ६४, ८१, ८७, ८९, ९०, ९१, ९६, १०२, ११२, १२५–२८, १३०, १३४, १४१, १५०, १५९–६०, १९३, २१४, २२७, २४१, २४४, २५०, २५६–५७, २५९–६२.

३. **वसन्ततिलका**–२६, ३१, ४७, ७७. ८३, ९३, ९५, ९८, १०१, १३२–३३, १४०, १४८, १५१, १६६, १६८, १७३, १९१, १९५, २०२, २०५, २१६–१८, २२२, २२८

४. **आर्या**–१–३, ८, ११, १५–१६, १८–२१, २३–२५, २७, ३०, ८६, ९२, १०८, १८०–८१,

५. **शिखरिणी**–३४, ६७, ७२, ७६, ९७, १०५, ११५, ११८–१९, १४७, १४९, १७०, २००, २२०, २६३.

६. **हरिणी**–६, ६८, ७५, ८०, ११३, १२९, १५८, १६५, १८५, १९२, २२३, २२४, २३०, २५२.

७. **मालिनी**–६०, १३६, १६९, २१३, २१९, २२५-२६, २६४, २६८

८. **पृथ्वी**–११४, १३१, १३७, १४४, १८९-९०, १९४, २२९.

९ **स्रग्धरा**–१२–१४, १३८, २१५, २५८

१०. **मन्दाक्रान्ता**–८८, ९९, १९९

११. **वंशस्थ**–१००, १०६–७.

१२. **उपेन्द्रवज्रा**–२३५

१३. **वैतालीय**–२४८.

१४. **रथोद्धता**–२५३.

१५. **गीति**–१६, १११.